समयसार अनुशीलन

भाग - ५

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार एवं परिशिष्ट

(गाथा ३७२ से ४१५ परिशिष्ट तक)

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : (०१४१) ५१५५८१, ५१५४५८

प्रस्तुत संस्करण : ५ हजार
(२५ अप्रैल २००२, महावीर जयन्ती)
प्रथम संस्करण (पूर्वार्द्ध) : ५ हजार
(२५ अप्रैल २००१, पूज्य कानजीस्वामी जयन्ती)
प्रथम संस्करण (उत्तरार्द्ध) : ५ हजार
(२५ अप्रैल २००२, महावीर जयन्ती)
वीतराग-विज्ञान हिन्दी-मराठी
के सम्पादकीयों के रूप में : ८ हजार ५००
योग : २३ हजार ५००

मूल्य : **पच्चीस रुपए**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर - १५

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड, जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. भारिल्लजी द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन भाग - ५ का प्रकाशन करते हुए हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पूर्व में प्रकाशित भाग - १ (गाथा १ से ६८ तक) भाग - २ (गाथा ६९ से १६३ तक) भाग - ३ (गाथा १६४ से २५६ तक) भाग - ४ (गाथा २५७ से ३७१ तक) का अध्ययन तो आप कर ही चुके हैं और अबतक प्रकाशित अनुशीलन की लोकप्रियता से भी आप परिचित ही हैं। इसका पठन-पाठन एवं स्वाध्याय नियमितरूप से विधिवत् अमेरिका आदि सुदूरवर्ती देशों में भी चल रहा है और अमेरिकावासी रजनीभाई गोशलिया ने तो इसका गुजराती अनुवाद भी तैयार कर लिया है, जिसके प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग का प्रकाशन पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली द्वारा किया गया है। इसके साथ ही गुरु प्रसाद (गुजराती) मासिक में भी यह क्रमशः छप ही रहा है। मराठी अनुवाद भी मराठी वीतराग-विज्ञान में क्रमशः प्रकाशित हो रहा है और एक भाग पुस्तकाकार रूप में भी प्रकाशित हो चुका है।

यह तो सर्वविदित ही है कि विगत २५ वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्यनिधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थायी साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल तथा अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद भी हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारह भावना : एक अनुशीलन, चैतन्यचमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर, शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण, गोम्मटेश्वर बाहुबली और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख हैं। इन सब कृतियों ने जैनसमाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं में ४० लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग ६ हजार पृष्ठ लिखे हैं, जो

प्रकाशित हो चुके हैं। अब तो उनके साहित्य पर विश्वविद्यालय में शोधकार्य होने लगा है। विगत वर्ष महावीरकुमार जैन ने **डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व** विषय पर मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर से पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की है तथा राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में तीन लघु शोध निबंध लिखे जा चुके हैं। इस कृति के निर्माण की पृष्ठभूमि और परिचय के सन्दर्भ में प्रथम एवं द्वितीय भाग के प्रकाशकीय के निम्नांकित महत्त्वपूर्ण अंश मूलरूप से उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूँ –

''आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने (डॉ. भारिल्ल ने) कलम चलाई है और उन्हें सर्वांगरूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के उदय ने समयसार को जन-जन की वस्तु बना दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार स्वामीजी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविध प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।

इधर कुछ दिनों से उन लोगों ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरंभ किया है, जो अबतक समयसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिसतरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर उपलब्ध हैं और वे समयसार के मर्म को खोलने में पूर्णत: समर्थ हैं, पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनों के संकलन और व्यवस्थित लेखन में जो अन्तर होता है, वह उनमें भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच में नहीं हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसंगतियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। अत: वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ. भारिल्ल के ही वश की बात है; क्योंकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर

सामाजिक वातावरण दूषित हुआ, तब डॉ. भारिल्ल ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया; उससे व्यवस्थित वस्तुस्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातावरण भी लगभग शान्त हो गया है। क्रमबद्धपर्याय, परमभाव-प्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे। अत: अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बातें ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बातें न के बराबर ही समझिये।''

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आंरभ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियायें आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी। वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करते ही; पर लोगों को धैर्य नहीं था, वे अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ में देवलाली (महाराष्ट्र) में लगनेवाले शिविर में डॉ. भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवीं गाथाएँ लीं, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग और अधिक तीव्रता से उठने लगी, फलत: २६ मई, १९९३ को समयसार अनुशीलन भाग - १ का पूर्वार्द्ध, २४ अप्रैल, १९९४ को उत्तरार्द्ध तथा १५ अगस्त, १९९४ को दोनों का संयुक्त संस्करण प्रकाशित किया गया। इसीप्रकार भाग - २ का पूर्वार्द्ध २ मई, १९९५ को, इसका उत्तरार्द्ध २५ अप्रैल, १९९६ को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण २ मई, १९९६ को प्रकाशित किया गया। भाग - ३ का पूर्वार्द्ध २० अप्रैल, १९९७ को, उसका उत्तरार्द्ध २९ अप्रैल, १९९८ को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण २९ अप्रैल, १९९८ को प्रकाशित किया गया। भाग - ४ का पूर्वार्द्ध १७ अप्रैल, १९९९ को, उसका उत्तरार्द्ध १६ अप्रैल, २००० को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण १६ अप्रैल, २००० को तथा भाग -५ का पूर्वार्द्ध २५ अप्रैल २००१ को तथा उत्तरार्द्ध २५ अप्रैल २००२ को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण अब आपके हाथों में है। इसप्रकार यह ग्रन्थ अब पूर्ण हो चुका है। आशा है इस कृति के पाँचों भाग आपकी आत्मपिपासा को शान्त करने में सफल होंगे।

गुरुदेवश्री का तो अनन्त उपकार हम सब पर है ही; क्योंकि उन्होंने न केवल

हमें सबकुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म समझने की दृष्टि भी दी है।

डॉ. भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो पूज्य स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हें इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने स्वयं अपनी आंखों से देखा है; क्योंकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है; यह अपने आप में अपूर्व है।

मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा। मेरे विश्वास को उन पत्रों से बल मिला है जो समय-समय पर हमें प्राप्त होते जा रहे हैं और जिन्हें वीतराग-विज्ञान में यथासंभव प्रकाशित भी किया गया है।

विदेशों से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि न केवल देश में, अपितु विदेशों में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है और इसका विधिवत् पठन-पाठन भी चल रहा है।

'वास्तव में यह ग्रन्थ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी' – बाहुबली कुम्भोज की विदुषी बहिन ब्र. गजाबेन की उक्त पंक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होंगी – ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत प्रकाशन के आकर्षक एवं शुद्ध मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स तथा प्रकाशन व्यवस्था सम्हालने हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं। साथ ही वे महानुभाव भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग दिया है; जिनकी सूची अन्त में दी गई है।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति से भरपूर लाभ लें; इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

२५ अप्रैल, २००२ ई. महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुक्रमणिका

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार	१-१८४
गाथा ३७२	१
कलश २२०-२२१	७
गाथा ३७३-३८२	१४
कलश २२२	१५
कलश २२३	३०
गाथा ३८३-३८६	३४
कलश २२४	३६
गाथा ३८७-३८६	४३
कलश २२५	४७
कलश २२६	५५
कलश २२७	५८
कलश २२८-२२६	६२
कलश २३०	६६
कलश २३१-२३२	८६
कलश २३३	६३
कलश २३४	६७
गाथा ३६०-४०४	६८
कलश २३५-२३६	११५
कलश २३७	१२०
गाथा ४०५-४०७	१२१
कलश २३८	१२५
गाथा ४०८-४११	१२६
कलश २३६	१३७
गाथा ४१२	१३८
कलश २४०	१४४
कलश २४१	१४७
गाथा ४१३	१५१
कलश २४२	१५४
कलश २४३	१५७
गाथा ४१४	१६०
कलश २४४	१६८
कलश २४५	१७२
गाथा ४१५	१७५
कलश २४६	१७६
समयसार परिशिष्ट	१८५
कलश २४७	१८५
कलश २४८-२४६	२०३
कलश २५०-२५१	२२२
कलश २५२-२५३	२३५-२३६
कलश २५४-२५५	२५३
कलश २५६-२५७	२६२-२६३
कलश २५८-२५६	२७५
कलश २६०-२६१	२८५

कलश २६२-२६३	२९४
सैंतालीश शक्तियाँ	३०५
जीवत्वशक्ति	३०८
चितिशक्ति	३१६
दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति	३२०
सुखशक्ति	३२६
वीर्यशक्ति	३२९
प्रभुत्वशक्ति	३३५
विभुत्वशक्ति	३३८
सर्वदर्शित्वशक्ति	
और सर्वज्ञत्वशक्ति	३४०
स्वच्छत्वशक्ति	३४५
प्रकाशशक्ति	३५१
असंकुचितविकासत्वशक्ति	३५४
अकार्यकारणत्वशक्ति	३६१
परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति	३६६
त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति	३७२
अगुरुलघुत्वशक्ति	३७५
उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति	३७८
परिणामशक्ति	३८०
अमूर्तत्वशक्ति	३८८
अकर्तृत्वशक्ति और	
अभोक्तृत्वशक्ति	३९०
निष्क्रियत्वशक्ति	३९४
नियतप्रदेशत्वशक्ति	३९९
स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति	४०२
अनन्तधर्मत्वशक्ति	४०८
विरुद्धधर्मत्वशक्ति	४१०
तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति	४१२
एकत्वशक्ति और	
अनेकत्वशक्ति	४२०
भाव-अभावादि ६ शक्तियाँ	४२२
भावशक्ति और क्रियाशक्ति	४३६
कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति	४४४
करणशक्ति	४४७
सम्प्रदानशक्ति और	
अपादानशक्ति	४५०
अधिकरणशक्ति	४५७
सम्बन्धशक्ति	४६१
कलश २६४-२६५	४६६-६७
उपाय-उपेय अधिकार	४७२
कलश २६६-२६८	४७९-४८०
कलश २६९-२७०	४८८-४८९
कलश २७१	५०४
कलश २७२-२७४	५१२
कलश २७५-२७६	५२१
कलश २७७	५२५
कलश २७८	५२७
गाथा पद्यानुवाद	५३७
कलश पद्यानुवाद	५४१

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

समयसार गाथा ३७२

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को मूल गाथा में स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है -

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

(हरिगीत)

गुणोत्पादन द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य नहीं करे।
क्योंकि सब ही द्रव्य निज-निज भाव से उत्पन्न हों ॥३७२॥

अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है; इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित होता है कि सर्वद्रव्य अपन-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र विषयवस्तु को विस्तार से सोदाहरण स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है -

"और ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिये कि परद्रव्य जीव को रागादिरूप परिणमाते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्यों में अन्य द्रव्यों के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है;क्योंकि सर्वद्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

अब इसी बात को विस्तार से द्रष्टान्तपूर्वक समझाते हैं -

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से?

यदि यह कहा जाय कि कुम्हार के स्वभाव से मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती है तो उस घट को उस कुम्हाररूप पुरुष के शरीराकार होना चाहिये, जो कुम्हार घट बनाने के अहंकार से भरा हुआ है और जिसका

हाथ घट बनाने का व्यापार कर रहा है; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, वह घट पुरुषाकार तो होता नहीं है; क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से किसी अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।

यदि ऐसा हो तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती; किन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है – यही निश्चित रहा; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के परिणाम का अपने स्वभावरूप से ही उत्पाद देखा जाता है।

ऐसा होने पर यह निश्चित हुआ कि मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती; इसलिए मिट्टी ही कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से ही कुंभ (घट) भावरूप से उत्पन्न होती है; कुम्हार कुंभ का उत्पादक है ही नहीं।

यह बात तो द्रष्टान्त पर घटित हुई है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते ह -

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि स्वपरिणामरूप पर्याय से उत्पन्न होते हुए सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने स्वभाव से ?

यदि यह कहा जाय कि निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से सभी द्रव्य उत्पन्न होते हैं तो उनके परिणामों को निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के आकार के होना चाहिये; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, द्रव्यों के परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकार के तो होते नहीं हैं; क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से किसी अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।

यदि ऐसा है तो फिर सर्वद्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते; परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं – यही निश्चित रहा; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के परिणाम का अपने स्वभाव से ही उत्पाद देखा जाता है।

ऐसा होने पर यह निश्चित हुआ कि सर्वद्रव्य अपने स्वभाव का उल्लंघन

नहीं करते; इसलिए सर्वद्रव्य ही निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव का स्पर्श न करते हुए अपने स्वभाव से ही अपने परिणाम से पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; निमित्तभूत अन्यद्रव्य उनके परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं। अत: आचार्यदेव अन्त में कहते हैं कि हम जीव में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का उत्पादक परद्रव्यों को देखते ही नहीं हैं, मानते ही नहीं हैं, जानते ही नहीं हैं; फिर उन परद्रव्यों पर क्रोध क्यों कर?''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव खोलते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''आत्मा में रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनय से विचार किया जाये तो अन्यद्रव्य रागादि का उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्यद्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्यद्रव्य के गुणपर्याय अन्यद्रव्य उत्पन्न नहीं करता – यह नियम है।

जो यह मानते हैं – ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं कि 'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं,' वे नयविभाग को नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। ये रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र हैं – ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है।

इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि - हम राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्यद्रव्य पर कोप क्यों करें ? राग-द्वेष का उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है।''

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन यह स्पष्ट करते हैं कि कार्य उपादानकारण के समान ही होता है , निमित्त के समान नहीं। उनका कथन मूलत: इसप्रकार है -

''कुम्भकारादि बहिरंगनिमित्तभूत अन्यद्रव्य के द्वारा उपादानरूप मिट्टी के अचेतन गुण का नाश नहीं किया जाता; क्योंकि चेतन के चेतन गुण का अचेतन द्वारा और अचेतन के अचेतन गुण का चेतन द्वारा नाश नहीं किया जा सकता; इसलिए मिट्टी आदि सभी द्रव्य जो घटादिरूप में उत्पन्न होते

हैं; वे सभी अपने उपादानकारण से ही मिट्टीरूप रहते हुए ही उत्पन्न होते हैं; कुंभकारादि बहिरंग निमित्तरूप नहीं; क्योंकि उपादानकारण के सदृश ही कार्य होता है - ऐसा अटल सिद्धान्त है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि अज्ञानी के रागादि पंचेन्द्रिय के विषयरूप शब्दादि बहिरंग निमित्तपूर्वक उत्पन्न होते हैं; तथापि वे रागादि चेतनमात्र जीवस्वरूप ही हैं, शब्दादिरूप अचेतन नहीं - यह भावार्थ है।''

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जीव की पर्याय में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप तथा काम-क्रोध, विषय-वासना आदि के परिणाम होते हैं, वे सब परद्रव्य से नहीं होते। अत: ऐसी शंका ही नहीं करना कि विकार परद्रव्य के कारण होते हैं; कर्म से होते हैं।

भगवान! तू कौन है ? तुझे इसकी भी खबर नहीं है। अरे! न तो तू परद्रव्य में कुछ कर सकता है और न परद्रव्य तुझमें कुछ कर सकते हैं; क्योंकि ऐसी योग्यता ही किसी द्रव्य में नहीं है जो पर में कुछ कर सके। इसलिए किसी भी परद्रव्य का कार्य मैं कर सकता हूँ और परद्रव्य मेरे कार्य करते हैं या कर सकते हैं - ऐसा मानना मिथ्या है; परन्तु यह भ्रमरूप अज्ञान संसारी जीवों को अनादि से है।

कुछ लोग इस मिथ्याश्रद्धान को दर्शनमोहनीय कर्मोदय से हुआ मानते हैं; परन्तु भाई ! यह मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि मोहकर्म का उदय तो निमित्तमात्र है और कर्मोदय से राग-द्वेषरूप विभावभाव नहीं होते। फिर भी जो कर्मोदयरूप निमित्त से कषायादि का होना मानता है; उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है।

वस्तुत: जीव में जो भ्रमरूप भाव होते हैं, मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं; वे सब स्वयं तत्समय की वैसी योग्यता से ही होते हैं, कर्मोदय से नहीं।[1]

देखा! आत्मा में ऐसी सामर्थ्य व योग्यता तो है कि वह तीनलोक व

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ६, पृष्ठ - ३६५-३६६

तीनकाल की सब बातों को एकसाथ जाने; परन्तु परपदार्थों में कुछ कर सके - ऐसी सामर्थ्य जीव में नहीं है। इस शरीर को चलाने की, हाथ-पैर हिलाने-डुलाने की और बाहर की धनादि सामग्री संग्रह करने की योग्यता जीव में नहीं है। फिर भी जो ऐसा मानता है कि मैं शरीर को चला सकता हूँ, हाथ-पैर हिला सकता हूँ, धनादि कमा सकता हूँ और कुटुम्ब-परिवार का भरण-पोषण कर सकता हूँ; तो वह झूठा है, मिथ्यादृष्टि है। अहा! परमाणु जड़ हैं और उन जड़ परमाणुओं का कार्य जड़ से ही होता है, आत्मा से नहीं तथा राग-द्वेषादि जीव के परिणाम हैं और वे स्वयं जीव से ही होते हैं, परद्रव्य से नहीं।[१]

ये आँखों की पलकें जो ऊँची-नीची होती हैं, ये भी जीव नहीं करता; क्योंकि पलकें अन्यद्रव्य हैं और आत्मा अन्यद्रव्य है। भाई ! आत्मा एक तृण के भी दो टुकड़े नहीं कर सकता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। अहा ! भगवान सर्वज्ञदेव ने अनन्त द्रव्य देखे हैं, अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक-एक धर्म, अधर्म, आकाश, और असंख्यात कालाणु - इसप्रकार अनन्त द्रव्य देखे हैं तथा उनमें कोई एक द्रव्य किसी अन्यद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि अन्यद्रव्य द्वारा किसी अन्यद्रव्य के गुणों का उत्पाद करने की अयोग्यता है। ऐसी भगवान सर्वज्ञदेव ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा वस्तु की स्वतंत्रता की उद्घोषणा की है।[२]

अहा! आचार्यदेव ने संक्षेप में यह महासिद्धान्त बता दिया है कि परद्रव्य का सहयोग करने के लिए प्रत्येक द्रव्य पंगु है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी सहयोग करने में असमर्थ है। ऐसी किसी भी द्रव्य में योग्यता ही नहीं है कि वह किसी परद्रव्य का कुछ कर सके।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ९, पृष्ठ ३६६
२. वही, पृष्ठ ३६७
३. वही, पृष्ठ ३६८

भाई ! यह महासिद्धान्त है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही अपने-अपने स्वकाल में होने योग्य पर्याय के रूप में परिणमित होता रहता है। ऐसी ही द्रव्य की पर्यायगत योग्यता है, इसमें परद्रव्य का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।[१]

भगवान केवली के केवलज्ञान में जगत के सर्व अनन्तानन्त पदार्थ स्वतंत्र स्वसहाय परिणमते देखे गये हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय से स्वयं स्वतंत्र ही परिणमते हैं। अहा ! द्रव्य में गुण ता त्रिकाल नित्य स्वसहाय हैं ही; उनकी एक-एक समय की पर्यायें भी स्वसहाय ही हैं। द्रव्य के स्वभाव से ही स्वतंत्र उत्पन्न होती हैं, अन्य द्रव्यों से नहीं।

भाई ! यह महासिद्धान्त आचार्यदेव ने इस गाथा में सिद्ध किया है। अहो ! यह सरस एवं अलौकिक गाथा है। जिसका परम सौभाग्य होता है, ऐसे भव का अभाव करनेवाले महासिद्धान्त उसी के कान में पड़ते हैं। इन सिद्धान्तों को समझने के लिए भी महापुरुषार्थ चाहिए।[२]

अज्ञानी जीव के पास यदि जीवनभर की कमाई से दस-बीस लाख की पूँजी हो गई हो तो कमाने का अभिमान करता है और सारी जिन्दगी परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान करता है; परन्तु भाई ! यह तो जीवन हार जाने की बात है।[३]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि जिसप्रकार घड़ा अपनी उपादानरूप मिट्टी का ही कार्य है और मिट्टीरूप ही है; उसे बनाने के विकल्प से परिणमित कुम्हाररूप नहीं, निमित्तरूप नहीं; उसीप्रकार से रागादिभाव भी अपने उपादानरूप चेतन आत्मा के ही कार्य हैं, चेतनरूप ही हैं; पररूप नहीं, अचेतनरूप नहीं, अचेतन कर्मरूप नहीं; निमित्तरूप नहीं।

१.प्रवचनरत्नाकर भाग - ९, पृष्ठ ३७०

२. वही, पृष्ठ -३७३

३. वही, पृष्ठ ३७५

इसप्रकार जब यह निर्णय पक्का हो जाता है तो फिर निमित्तरूप परद्रव्यों पर कोप करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। इसलिए निष्कर्ष के रूप में आचार्यदेव कहते हैं कि जब हमें कोई परद्रव्य हमारे सुख-दुःख और राग-द्वेष का कारण दिखाई ही नहीं देता तो फिर हम उन परद्रव्यों पर कोप क्यों करें ?

तात्पर्य यह है कि हम अपने सुख-दुःख के कारण पर में न खोजकर स्वयं में ही खोजें; स्वयं को ही जानें-मानें और स्वयं में ही समा जावें - यही मार्ग है।

अब गाथा और टीका के भाव के पोषक तथा आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप दो कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(मालिनी)

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधा
भवतु विदितमस्तंयात्वबोधोऽस्मि बोधः॥२२०॥

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः॥२२१॥

(रोला)

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आतम में।
उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है।
यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्त्ता।
यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ॥२२०॥
अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी॥
शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में।
अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे॥२२१॥

इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है; उसमें मूल अपराधी तो अज्ञान ही है। इसप्रकार विदित होने पर जब अज्ञान अस्त हो जाय तब फिर तो मैं ज्ञान ही हूँ।

जो लोग राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही मूलकारण मानते हैं अर्थात् परद्रव्य के निमित्त से ही राग उत्पन्न होता है - ऐसा मानते हैं; शुद्धज्ञान से रहित वे अंधबुद्धि लोग मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

इन कलशों का भाव भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते ह –

''अज्ञानी जीव परद्रव्य से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि 'यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ' – ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिये इस अज्ञान का नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रकट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है - ऐसा अनुभव करो; परद्रव्य को राग-द्वेष का उत्पन्न करनेवाला मानकर उस पर कोप न करो।

शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्तशक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है; उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है और उसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ ही नहीं है।

जिन्हें आत्मा के ऐसे स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्मा को जिसप्रकार परिणमन कराता है; उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते अथवा मोह-सैन्य को नहीं हरा सकते, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते; क्योंकि राग-द्वेष करने में यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उन्हें मिटाने में भी हो

सकता है; किन्तु यदि दूसरे के कराये ही राग-द्वेष होता हो तो पर तो राग-द्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँ से मिटा सकेगा; इसलिए राग-द्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं। - इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यग्ज्ञान है।''

पाण्डे राजमलजी कलश टीका में लिखते हैं -

''भावार्थ इसप्रकार है कि जीवद्रव्य संसार अवस्था में राग-द्वेष-मोह अशुद्धचेतनारूप परिणमता है; सो वस्तु के स्वरूप का विचार करने पर जीव का दोष है, पुद्गलद्रव्य का कुछ दोष नहीं है; कारण कि जीवद्रव्य अपने विभाव मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ अपने अज्ञानपना को लिए हुए राग-द्वेष-मोहरूप आप परिणमता है; जो कभी शुद्ध परिणतिरूप होकर शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमे, राग-द्वेष-मोहरूप न परिणमे तो पुद्गलद्रव्य का क्या चारा (इलाज) है।

जीवद्रव्य शुद्धस्वरूप है। उसमें मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति होती है। उस अशुद्ध परिणति के मेटने का उपाय यह है कि सहज ही द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमे तो अशुद्ध परिणति मिटे और तो कोई करतूति - उपाय नहीं है।

आठ कर्म, शरीर आदि नोकर्म तथा बाह्य भोगसामग्रीरूप पुद्गलद्रव्य का निमित्त पाकर जीव रागादि अशुद्धरूप परिणमता है – ऐसी श्रद्धा करती है जो कोई जीवराशि, वे मिथ्यादृष्टि हैं – अनन्त संसारी हैं, जिससे ऐसा विचार है कि संसारी जीव के रागादि अशुद्धरूप परिणमनशक्ति नहीं है, पुद्गलकर्म बलात्कार ही परिणमाता है। जो ऐसा है तो पुद्गलकर्म तो सर्वकाल विद्यमान ही है। जीव को शुद्ध परिणाम का अवसर कौन ? अपितु कोई अवसर नहीं।''

कलश टीका को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी इन कलशों का भाव पाँच दोहों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(दोहा)

कोऊ मूरख यौं कहै, राग दोष परिनाम।
पुग्गल की जोरावरी, वरतैं आतमराम॥
ज्यौं ज्यौं पुग्गल बल करै, धरि-धरि कर्मज भेष।
राग दोष कौ परिनमन, त्यौं-त्यौं होइ विशेष॥
इहिविधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोइ।
सो नर राग विरोध सौं, कबहूं भिन्न न होइ॥
सुगुरु कहै जग मैं रहै, पुग्गल संग सदीव।
सहज सुद्ध परिनमनि कौ, औसर लहै न जीव॥
तातैं चिद्भावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यात मैं, समकित मैं सिव भाउ॥

कोई मूर्ख इसप्रकार कहता है कि आत्मा में राग-द्वेष के परिणाम पुद्गलकर्म की जोरावरी से (जबरदस्ती) होते हैं।

कर्म का वेष धारण कर पुद्गल जितने-जितने अंशों में जोर करता है; उतने-उतने अंशों में राग-द्वेष का विशेष परिणमन होता है।

इसप्रकार कुछ लोग विपरीत पक्ष को गहण करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं; ऐसे लोग राग-द्वेष से कभी भी भिन्न नहीं हो पाते।

सुगुरु कहते हैं कि इस जगत में पौद्गलिक कर्मों का साथ तो सदा ही रहता है; ऐसी स्थिति में जीव को अपने सहज शुद्धपरिणमन का अवसर तो कभी मिलेगा ही नहीं।

इसलिए यही ठीक है कि चिद्भावों के करने में चेतनराज सदा ही समर्थ है। राग-द्वेष की उत्पत्ति तो मिथ्याभावों का फल है और सम्यक्भाव मुक्ति के कारण हैं।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''आत्मा की पर्याय में जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वह पर्याय

का अपराध है, उसमें परद्रव्य का जरा भी अपराध नहीं है।[१]

परद्रव्यों को रागादि दोषों का उत्पन्न करनेवाला मानकर उन पर कोप मत करो।[२]

यहाँ अकेला राग शब्द कहा, पर राग के साथ द्वेष को भी ग्रहण कर लेना। राग-द्वेष में भी सभी कषायें आ जाती हैं। इन सबकी उत्पत्ति में जो मात्र परद्रव्य को ही कारण मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, दीर्घ संसारी हैं।[३]

यद्यपि राग परद्रव्य के लक्ष्य से होता है; परन्तु परपदार्थ राग का सत्यार्थ कारण नहीं हैं। जब जीव की ज्ञानपर्याय स्वयं पर का लक्ष्य करती है, तब उसके राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। जो राग की उत्पत्ति में कर्म को कारण मानता है, वह अज्ञानी है। वह कभी भी मोहनदी को पार नही कर सकता। दर्शनमोह के निमित्त से मिथ्यात्व होता है, चारित्रमोह के उदय से जीवों को राग-द्वेषादि होते हैं - ऐसे कथन गोम्मटसार आदि में आते हैं। ऐसे कथन शास्त्रों में हैं अवश्य; परन्तु ये तो व्यवहारनय से निमित्त की मुख्यता से किये गये हैं। कर्म विकार का वास्तविक कारण नहीं है। यह तो मात्र यह बताता है कि जो विकार हुआ है, वह किसके लक्ष्य से या किसके निमित्त से हुआ है।[४]

आत्मा अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। अहा! स्वयं त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वरूप होते हुए भी जो वर्तमान पर्याय में मोह-राग-द्वेषरूप से परिणमता है, वह अपने अपराध से ही परिणमता है। यदि पर्याय में अशुद्धरूप से, विकाररूप से न परिणमता हो तो स्वयं तो चिदानन्द प्रभु है। फिर तो उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना चाहिए, परन्तु

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ६, पृष्ठ - ३८०
२. वही, पृष्ठ -३८०
३. वही, पृष्ठ - ३८२
४. वही, पृष्ठ -३८२

ऐसा तो होता ही नहीं है, इसलिए पर्याय में रागादि विकार हैं और वे अपने ही अपराध से हैं।[1]

ऐसा नहीं है कि जैसा निमित्तभूत परद्रव्य परिणमावे वैसा परिणमता है और उसमें आत्मा का कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि जैसा कर्म का उदय आये, तदनुसार आत्मा को परिणमना ही पड़ेगा। वास्तव में अपने विपरीत पुरुषार्थ से ही आत्मा स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमता है, कर्मोदय के निमित्त से नहीं।

अब कहते हैं कि जिसे ऐसा ज्ञान नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा को परद्रव्य या कर्मोदय जैसा परिणमाता है, वैसा ही आत्मा को परिणमना पड़ता है; परन्तु ऐसा माननेवाले कभी भी मोहनदी को पार नहीं कर सकते।[2]

पर्याय की दृष्टि से देखने पर पर्याय में जो रागादि हैं, वे अपने ही अपराध से हैं। कर्मों का उदय आत्मा को अपराध नहीं कराता। भाई! जीव के उल्टे पुरुषार्थ से ही रागादि विकार होते हैं। अत: कर्मों के माथे ही दोष मत मढ़ो। जो विकार होने में परद्रव्यों को दोष देते हैं, वे अज्ञानी हैं, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते।

अब कहते हैं कि अज्ञानी के राग-द्वेष नहीं मिटने का मुख्य कारण यह है कि वह पुण्य-पाप आदि विकारी भावों के होने में अपने उल्टे पुरुषार्थ को न मानकर कर्मों का ही कारण मानता है। यदि अपने विपरीत पुरुषार्थ को कारण माने तो सम्यक् पुरुषार्थ करके उसे मेट सकता है; किन्तु पर के कराने से ही राग-द्वेष होना माने तो पर तो राग-द्वेष कराते ही रहेंगे; उन्हें आत्मा कैसे मेट सकेगा ? इसलिए ऐसा मानना ही सम्यग्ज्ञान है कि राग-द्वेष आदि स्वयं की भूल से होते हैं और अपनी भूल सुधार कर उन्हें मेटा जा सकता है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ६, पृष्ठ - ३८७
२. वही, पृष्ठ - ३८८

समकिती धर्मीजीवों को भी राग-द्वेष अपनी अस्थिरता के अपराध से होते हैं, कर्मोदय से नहीं - ऐसा यथार्थ मानना चाहिए।[1]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि राग-द्वेषरूप विकारी भावों की उत्पत्ति में परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है; परद्रव्य इस आत्मा को बलात् राग-द्वेषरूप नहीं परिणमाते; अपितु यह आत्मा ही स्वयं अपने अज्ञानभाव के कारण राग-द्वेषरूप परिणमित होता है तथा जब यह आत्मा स्वयं अपने अज्ञान के कारण राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; तब परद्रव्य उसमें सहजभाव से निमित्तमात्र होते हैं। परद्रव्यों की निमित्तता देखकर उन्हें ही राग-द्वेष का कर्त्ता मान लेना स्वयं अज्ञानभाव है और यह अज्ञानभाव ही मुख्यत: बंधन का कारण है।

अब इसी बात को आगामी गाथाओं द्वारा विस्तार से स्पष्ट करेंगे ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ६, पृष्ठ - ३८६-६०

निश्चय केवली और व्यवहार केवली

केवली भगवान अपनी आत्मा को जानने के कारण निश्चय-केवली हैं और पर को जानने के कारण व्यवहारकेवली हैं। वे स्व और पर को प्रतिसमय एक साथ जानते हैं। ऐसा नहीं है कि जब वे 'स्व' को जानेंगे, तब वे निश्चयकेवली होंगे और जब वे पर को जानेंगे, तब व्यवहारकेवली होंगे। उन केवली भगवान में न तो व्यक्तिभेद है, न क्षेत्रभेद है और न ही कालभेद है। केवली भगवान तो एक ही हैं, हमने उनके निश्चयकेवली और व्यवहार केवली – ऐसे दो भेद कर दिए। जिससमय स्व को जानने के कारण वे निश्चयकेवली हैं, उसीसमय पर को जानने के कारण वे व्यवहारकेवली हैं।

– दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ४-१

समयसार गाथा ३७३-३८२

जो बात विगत कलशों में कही गई है; अब उसी की पुष्टि गाथाओं द्वारा करते हैं -

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ॥३७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं ॥३७५॥
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छं मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

(हरिगीत)

स्तवन निन्दा रूप परिणत पुद्गलों को श्रवण कर।
मुझको कहे - यह मान तोष- रु-रोष अज्ञानी करें ॥३७३॥
शब्दत्व में परिणमित पुद्गल द्रव्य का गुण अन्य है।
इसलिए तुम से ना कहा तुष-रुष्ट होते अबुध क्यों ?॥३७४॥
शुभ या अशुभ ये शब्द तुझसे ना कहें कि हमें सुन।
अर आतमा भी कर्णगत शब्दों के पीछे ना भगे ॥३७५॥
शुभ या अशुभ यह रूप तुझसे ना कहे कि हमें लख।
यह आतमा भी चक्षुगत वर्णों के पीछे ना भगे ॥३७६॥
शुभ या अशुभ यह गंध तुम सूँघो मुझे यह ना कहे।
यह आतमा भी घ्राणगत गंधों के पीछे ना भगे ॥३७७॥
शुभ या अशुभ यह सरस रस यह ना कह कि हम चख।
यह आतमा भी जीभगत स्वादों के पीछे ना भगे ॥३७८॥
शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे ना कहें कि हमें छू।
यह आतमा भी कायगत स्पर्शों के पीछे ना भगे ॥३७९॥
शुभ या अशुभ गुण ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत सुगुणों के पीछे ना भगे ॥३८०॥
शुभ या अशुभ द्रव्य ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत द्रव्यों के पीछे ना भगे ॥३८१॥
यह जानकर भी मूढ़जन ना ग्रहें उपशमभाव को।
मंगलमती को ना ग्रहें पर के ग्रहण का मन करें ॥३८२॥

पौद्गलिक भाषावर्गणायें बहुत प्रकार से निन्दारूप और स्तुतिरूप वचनों में परिणमित होती हैं। उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव 'ये वचन मुझसे कहे गये हैं' – ऐसा मानकर रुष्ट (नाराज) होते हैं और तुष्ट (प्रसन्न) होते हैं।

शब्दरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य और उसके गुण यदि तुझसे भिन्न हैं तो हे अज्ञानी जीव! तुझसे तो कुछ भी नहीं कहा गया, फिर भी तू रोष क्यों करता है ?

शुभ या अशुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें सुन और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर कर्ण इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्दों को ग्रहण करन (जानने) को नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ रूप यह नहीं कहता कि तू मुझे देख और आत्मा भी चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप को ग्रहण करने नहीं जाता तथा शुभ और अशुभ गंध भी तुझ से यह नहीं कहती कि तू मुझे सूँघ और आत्मा भी घ्राण इन्द्रिय के विषय में आयी हुई गंध को ग्रहण करने नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ रस तुझसे यह नहीं कहते कि तुम हमें चखो और आत्मा भी रसना इन्द्रिय के विषय में आये हुए रसों को ग्रहण करने नहीं जाता तथा शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे यह नहीं कहते कि तुम हमें स्पर्श करो और आत्मा भी स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आये स्पर्शों को ग्रहण करने नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ गुण तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए गुणों को ग्रहण करने नहीं जाता तथा शुभ या अशुभ द्रव्य तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्यों को ग्रहण करने नहीं जाता।

ऐसा जानकर भी यह मूढ जीव उपशमभाव को प्राप्त नहीं होता और कल्याणकारी बुद्धि को - सम्यग्ज्ञान को प्राप्त न होता हुआ स्वयं परपदार्थों को ग्रहण करने का मन करता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"आचार्यअमृतचन्द्रदेव पहले द्रष्टान्त पर घटित करके वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं -

जिसप्रकार इस जगत में देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है; उसप्रकार घट-पटादि बाह्य पदार्थ

दीपक को स्वप्रकाशन (बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने के कार्य) में नहीं लगाते अर्थात् ऐसा नहीं कहते कि तू हमें प्रकाशित कर और दीपक भी चुम्बक से खींची गई लोहे की सुई के समान अपने स्थान से च्युत होकर घट-पटादि बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु न तो वस्तुस्वभाव दूसरों से उत्पन्न किया जा सकता है और न दूसरों को उत्पन्न ही कर सकता है; इसलिए जिसप्रकार दीपक बाह्य पदार्थों के समीप न होने पर भी उन्हें अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है; उसीप्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी उन्हें अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है।

इसीप्रकार वस्तुस्वभाव से ही विभिन्न परिणति को प्राप्त होते हुए मनोहर और अमनोहर घट-पटादि बाह्यपदार्थों को अपने स्वरूप से प्रकाशित करते हुए दीपक में वे बाह्य पदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं -

जिसप्रकार देवदत्त यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है; उसप्रकार शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्यरूप बाह्य पदार्थ आत्मा को स्वज्ञान में (बाह्यपदार्थों को जानने के कार्य में) नहीं लगाते अर्थात् बाह्यपदार्थ आत्मा से ऐसा नहीं कहते कि तू हमें सुन, देख, सूंघ, चख, छू और जान और आत्मा भी चुम्बक से खींची गई लोहे की सुई के समान अपने स्थान से च्युत होकर उन बाह्य पदार्थों को जानने नहीं जाता; परन्तु न तो वस्तुस्वभाव दूसरों से उत्पन्न किया जा सकता है और न दूसरों को उत्पन्न ही कर सकता है; इसलिए जिसप्रकार आत्मा बाह्यपदार्थों के समीप न होने पर भी उन्हें अपने स्वरूप से ही जानता है; उसीप्रकार बाह्यपदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है।

इसप्रकार वस्तुस्वभाव से ही विभिन्न परिणति को प्राप्त होते हुए मनोहर और अमनोहर घट-पटादि बाह्यपदार्थों को अपने स्वरूप से ही जानते हुए आत्मा में वे बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इसप्रकार दीपक की भांति आत्मा भी पर के प्रति उदासीन ही है। यद्यपि ऐसी वस्तुस्थिति सदा ही रहती है; तथापि जो राग-द्वेष होता है, वह अज्ञान ही है, अज्ञान का ही फल है।''

इन गाथाओं और टीका का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''शब्दादिक जड़पुद्गलद्रव्य के गुण हैं। वे आत्मा से कभी यह नहीं कहते कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)' और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों, तब आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है, इसीप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है।

इसप्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले - ऐसे आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं कराते, जैसे कि अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले दीपक को घट-पटादि पदार्थ विकार नहीं कराते। ऐसा वस्तुस्वभाव है, तथापि जीव शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गंध को सूंघकर, रस का स्वाद लेकर, स्पर्श को छूकर, गुण-द्रव्य को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।''

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''देखो, यहाँ दीपक व घट का द्रष्टान्त देकर यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कहा है कि घट-पटादि बाह्य पदार्थ अपने स्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होते हैं, दीपक के कारण नहीं तथा वह बाह्य पदार्थ अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होता हुआ दीपक में किंचित् भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।[1]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ८

जैसे यह कहा जाता है कि दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम; उसीतरह प्रत्येक ज्ञेयपदार्थ पर उसे जाननेवाली ज्ञान की पर्याय का भी नाम लिखा है। आने-जाने वाले प्रत्येक परमाणु का आना-जाना भी उनके अपने-अपने स्वसमय में ही होता है, उसमें भी फेर-बदल करने की ताकत किसी में नहीं है। अत: तू जो पर को मिलाने या हटाने में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है - यह तेरी मूर्खता है, पागलपन है।[१]

यह वाणी जो जड़ध्वनि है, निन्दा-प्रशंसा के जो शब्द हैं, वे आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तू मुझे सुन।' इसीतरह स्त्री का सुन्दर रूप, उसका कोमल स्पर्श यह आग्रह नहीं करता कि 'तू मुझे देख, तू मुझे छू!' परन्तु अज्ञानी जीव ने इनमें मिथ्या सुखबुद्धि के भ्रम में पड़कर अपने को जाना-पहचाना नहीं। बस, इन्हीं विषयानुराग में स्वयं ही अटक रहा है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि 'बाहर से लक्ष्य हटाकर उपयोग को स्वरूपसन्मुख कर। इससे तुझे आत्मज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होगी और इसके बिना तेरा सारा श्रम निरर्थक ही रहेगा।[२]

देखो, यहाँ यह सिद्धान्त कहा है कि वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। आत्मा की ज्ञान की दशा शब्दादि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न नहीं की जा सकती; क्योंकि ज्ञान का स्व का परिणमन अपने गुण से ही उत्पन्न होता है, पर से नहीं। भाई! ऐसा मानना कि 'शास्त्र से ज्ञान होता है, भगवान की वाणी सुनने से ज्ञान होता है या गुरु के उपदेश सुनने से ज्ञान होता है, सही नहीं है; क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा नहीं है। परवस्तु से त्रिकाल में भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। अपना आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप है, उस पर दृष्टि करने से ही अपना ज्ञान व आनन्द उत्पन्न होता है। जब यह जीव स्वयं अपने से समझे तो उस समय कानों में पड़ी गुरु की

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ६
२. वही, पृष्ठ - ६

वाणी को निमित्त कहा जाता है। वास्तव में तो यह आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है।[1]

दूसरे प्रकार से कहें तो समयसार की ही १७-१८वीं गाथा में आचार्यदेव तो ऐसा कहते हैं कि भले अज्ञानी की ज्ञानपर्याय हो, उसमें भी आत्मा जाना जाता है। अज्ञानी की ज्ञानपर्याय का स्वभाव भी स्वपरप्रकाशक होने से पर्याय में स्वज्ञायक चिदानन्द भगवान पूरा का पूरा जाना जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है तो उसकी पर्याय में अकेला पर जानने में आये - ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानपर्याय का ऐसा ही स्वभाव है कि वह 'स्व' को भी जाने और 'पर' को भी जाने।[2]

जिसप्रकार त्रिकाली ज्ञानगुण का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है, उसीप्रकार उस ज्ञानगुण की वर्तमान प्रगट पर्याय का स्वभाव भी स्व-परप्रकाशक है। इसकारण उस पर्याय में सब जीवों को सदाकाल ज्ञायक जानने में आते हुए भी राग के वश होकर अज्ञानी जीव उस ज्ञायक को देख नहीं पाता, उसमें अपनापन स्थापित नहीं कर पाता। उसकी दृष्टि केवल पर्याय पर व राग पर रहती है, इसकारण 'मैं इस ज्ञायक को जानता हूँ' - अज्ञानी यह बात भूल जाता है।[3]

एक समय की जानन-देखनेरूप स्वपरप्रकाशक पर्याय में सम्पूर्ण आत्मद्रव्य, आत्मद्रव्य के अनन्त गुण एवं उसकी तीनों काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायें तथा छहों द्रव्यों के अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायें सब एक समय में जानने में आ जाते हैं।[4]

अरे प्रभु ! तू कौन है ? और तेरी सामर्थ्य क्या है ? इसकी तुझे खबर

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - १०
२. वही पृष्ठ - ११
३. वही, पृष्ठ - १२
४. वही, पृष्ठ - १३

नहीं है। अन्यथा ऐसी बात ही क्यों करता ?[१]

जिससमय आत्मा अपने स्वपरप्रकाशक स्वभाव की सामर्थ्य से स्व को प्रकाशित करता है, उसीकाल में तथा उसीप्रकार कालभेद किए बिना एक समय में तीनलोक व तीनकाल के सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों को भी जानता है। उसकी ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है। भाई ! जो अन्तर में जाग्रत होकर देखे, यह बात उसी की समझ में आ सकती है।

केवलज्ञान स्व को जानते हुए बाहर के दूरवर्ती या निकटवर्ती पदार्थों को एकसमय में ही एक साथ जानता है। केवलज्ञान के जानने में कालभेद नहीं होता। श्रुतज्ञान की पर्याय भी दूरवर्ती अनन्त सिद्धों को तथा समीपवर्ती समवशरण में विराजमान अरहंतदेव को एक साथ जानती है। 'स्व' को जानते हुए, 'पर' को जाने - ऐसा ही उसका स्वरूप है।[२]

जिसप्रकार दीपक पर को प्रकाशित करने में तटस्थ है; उसीतरह आत्मा का स्वभाव पर के प्रति तटस्थ है। जिसतरह नदी में पानी का प्रवाह चला जाता है और दोनों तट (किनारे) अपनी जगह स्थित रहते हैं; उसीतरह आत्मा पर को जानता है, वह पर से सम्बन्ध रहित रहकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा भाव से जानता है। यह वस्तु का स्वरूप है और यही सच्चा मोक्षमार्ग है।[३]''

गाथाओं और उनकी टीका में यहाँ दो बातों पर सोदाहरण और सतर्क प्रकाश डाला गया है।

(१) न तो बाह्य ज्ञेयपदार्थ आत्मा से यह कहते हैं कि तुम हमें जानो।

(२) और न आत्मा भी उन्हें जानने के लिए उनके पास जाता है; वह तो समीपवर्ती और दूरवर्ती पदार्थों को अपने स्वभाव से ही सहजभाव से

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - १३
२. वही, पृष्ठ - १४
३. वही, पृष्ठ - १७

जानता है।

इसप्रकार यह आत्मा और परद्रव्यों के बीच होनेवाला एक सहज ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; इसमें परस्पर किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है।

इस बात को समझाने के लिए आत्मख्याति में दीपक का उदाहरण दिया है। दीपक की बात को स्पष्ट करने के लिए देवदत्त और यज्ञदत्त का उदाहरण दिया है; पर वह व्यतिरेकी है।

जिसप्रकार देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी काम में लगाता है; उसप्रकार घट-पटादि बाह्य ज्ञेयपदार्थ आत्मा को उन्हें जानने के लिए प्रेरित नहीं करते। यह उदाहरण व्यतिरेकी उदाहरण है; क्योंकि देवदत्त तो यज्ञदत्त को प्रेरित करता है; पर बाह्य पदार्थ आत्मा को उन्हें जानने के लिए प्रेरित नहीं करते।

दीपक भी बाह्यपदार्थों को प्रकाशित करने के लिए उनके पास नहीं जाता - इस बात को समझाने के लिए चुम्बक द्वारा खींची गई लोहे की सुई का व्यतिरेकी उदाहरण दिया है। सुई तो चुम्बक के द्वारा खिंचकर उसके समीप चली जाती है; पर दीपक दीप्य पदार्थों से आकर्षित नहीं होता, आकर्षित होकर उनके पास नहीं जाता। बाह्य दीप्यपदार्थों और दीपक में सहज ही दीप्य-दीपक संबंध बन रहा है। उनमें परस्पर कोई पराधीनता नहीं है।

दीपक के समान यह भगवान आत्मा भी सहजभाव से ज्ञेयपदार्थों को जानता है। न तो ज्ञेयपदार्थ आत्मा के पास आते हैं और न आत्मा उन्हें जानने के लिए उनके पास ही जाता है; न तो ज्ञेयपदार्थ आत्मा को प्रेरित करते हैं कि तुम हमें जानो और न आत्मा ज्ञेयपदार्थों को ही प्रेरित करता है कि तुम हमारे ज्ञान के ज्ञेय बनो। दोनों अपने सहजस्वभाव के कारण ही ज्ञेय-ज्ञायक भाव से परिणमित होते हैं। बाह्यपदार्थ अपने ज्ञेयस्वभाव के

कारण ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं और आत्मा अपने ज्ञायकस्वभाव के कारण उन्हें जानता है, जाननेरूप परिणमित होता है।

दीपक के उदाहरण से एक बात और भी स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार दीपक दूरवर्ती और समीपवर्ती सभी पदार्थों को समानरूप से प्रकाशित करता है; उसीप्रकार यह आत्मा भी दूरवर्ती और समीपवर्ती सभी पदार्थों को समानरूप से जानता है।

अन्त में आचार्यदेव आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ऐसी वस्तुस्थिति अत्यन्त स्पष्ट होने पर भी अज्ञानीजन उपशमभाव को प्राप्त नहीं होते हैं; कल्याणकारीबुद्धि को, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त न होते हुए परपदार्थों को ग्रहण करने का भाव बनाये रखते हैं - यह बड़े आश्चर्य की बात है।

तात्पर्य यह है कि न तो परपदार्थ आत्मा को विकार कराते हैं और न आत्मा ही उनमें कुछ फेरफार करता है। पर को जानना विकार का कारण नहीं है और ज्ञान के जानने में आना पराधीनता नहीं है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में ये गाथायें यहाँ न प्राप्त होकर आत्मख्याति की गाथा ३८६ के उपरान्त प्राप्त होती हैं।

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथाओं के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं; तथापि वे शंका उपस्थित कर एक बात का विशेष स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है-

"**शंका** – हे भगवन्! इसके पहले बंधाधिकार में कहा है कि -

'एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादि एहिं भावेहिं॥

इसप्रकार ज्ञानी शुद्ध है, वह रागादिभावों से स्वयं परिणमन नहीं करता है; लेकिन वह अन्य रागादिभावों से (दोषों से) रागादिविकारभावमय किया जाता है। इसलिए ज्ञानी (आत्मा) रागादिकों का अकर्त्ता है और रागादि परद्रव्य से उत्पन्न होते हैं – ऐसा कहा गया है। लेकिन यहाँ

'स्वकीयबुद्धिदोष से उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव हैं, परकीय शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों का दोष नहीं है - ऐसा कहते हो तो; इसमें पूर्वापर विरोध आता है ?

समाधान – वहाँ बंधाधिकार के व्याख्यान में ज्ञानी जीव की मुख्यता है और सम्यग्ज्ञानी तो रागादिभावों से परिणमन नहीं करता है; इसलिये रागादिभाव परद्रव्यजनित हैं – ऐसा कहा है। और यहाँ अज्ञानी जीव की मुख्यता है। वह अज्ञानी जीव अपने बुद्धिदोष से परद्रव्य को निमित्तमात्र आश्रय करके रागादिभावरूप से परिणमन करता है; इसकारण से परकीय शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों का दोष नहीं है - ऐसा कहा गया है। इसलिये इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है।

इसप्रकार निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूत निश्चयकारणसमयसार और व्यवहारकारणसमयसार – इन दोनों को न जाननेवाला होकर अज्ञानी जीव स्वकीयबुद्धिदोष से रागादिभावरूप से परिणमन करता है; इसमें परकीय शब्दादिकों का दोष नहीं है।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जब ज्ञेयपदार्थ स्वयं को जानने के लिए आत्मा को बाध्य नहीं करते और आत्मा भी उन्हें जानने के लिए उनके पास नहीं जाता; सहजभाव से ही ज्ञेयपदार्थ जानने में आ जाते हैं, आते रहते हैं।

ऐसी स्थिति होने पर भी न जाने क्यों कुछ अज्ञानीजन उन्हें जानने के लिए आकुलित होते रहते हैं और कुछ लोग ज्ञेयों को जान लेने मात्र से अपराधबोध से ग्रस्त हो जाते हैं। -यह बड़े आश्चर्य की बात है; क्योंकि परज्ञेयों को जानने और नहीं जानने - इन दोनों स्थितियों के प्रति सहजभाव धारण करना ही मार्ग है।

अब आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयी भवंति सहजां मुंचन्त्युदासीनताम्॥२२२॥

(रोला)

जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित।
वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो॥
फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं।
न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं॥२२२॥

जिसप्रकार दीपक दीपक से प्रकाशित होनेवाले पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार शुद्धबोध है महिमा जिसकी ऐसा यह पूर्ण, एक और अच्युत ज्ञायक आत्मा ज्ञेयपदार्थों से किंचित् मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति होने पर भी जिनकी बुद्धि इसप्रकार की वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है – ऐसे अज्ञानी जीव अपनी सहज उदासीनता छोड़कर राग-द्वेष मय होते हैं - यह बड़े खेद की बात है, आश्चर्य की बात है।

आचार्यदेव खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ऐसा क्यों होता है ? तात्पर्य यह है कि यद्यपि ऐसा होना नहीं चाहिए; तथापि ऐसा होता है - यह तथ्य है।

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए कलशटीका में पाण्डे राजमलजी लिखते हैं -

''भावार्थ इसप्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी आशंका करेगा कि जीवद्रव्य ज्ञायक है, समस्त ज्ञेय को जानता है; इसलिए परद्रव्य को जानते हुए कुछ थोड़ा-बहुत रागादि अशुद्ध परिणति का विकार होता होगा?

उत्तर इसप्रकार है कि परद्रव्य को जानते हुए तो एक निरंशमात्र भी

विकार नहीं है, अपनी विभावपरिणति करने से विकार है। अपनी शुद्ध परिणति होने पर निर्विकार है।

भावार्थ इसप्रकार है कि जिसप्रकार दीपक प्रकाशस्वरूप है, घट-पट आदि अनेक वस्तुओं को प्रकाशता है। प्रकाशते हुए जो अपना प्रकाशमात्र स्वरूप था, वैसा ही है; विकार तो कुछ देखा नहीं जाता।

उसीप्रकार जीवद्रव्य ज्ञानस्वरूप है, समस्त ज्ञेय को जानता है। जानते हुए जो अपना ज्ञानमात्र स्वरूप था, वैसा ही है। ज्ञेय को जानते हुए विकार कुछ नहीं है – ऐसा वस्तु का स्वरूप जिनको नहीं भासित होता; वे मिथ्यादृष्टि हैं।''

उक्त कथन में पाण्डे राजमलजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कह रहे हैं कि पर को जानने के कारण रंचमात्र भी विकार नहीं होता, बंध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि पर को जानना बंध का कारण नहीं है, रागादि होने का कारण भी नहीं है।

उक्त भाव को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में पाँच दोहे लिखे हैं; जो इसप्रकार हैं -

(दोहा)

ज्यौं दीपक रजनी समै चहुं दिसि करै उदोत।
प्रगटै घटपटरूप मैं घटपटरूप न होत॥
त्यौं सुग्यान जानै सकल ज्ञेय वस्तु कौ मर्म।
ज्ञेयाकृति परिनवै पै तजै न आतम-धर्म॥
ग्यानधम अविचल सदा गह विकार न कोइ।
राग विरोध विमोहमय कबहूं भूलि न होइ॥
ऐसी महिमा ग्यान की निहचै है घट मांहि।
मूरख मिथ्याद्रिष्टि सौं सहज विलोकै नांहि॥
पर सुभाव मैं मगन ह्वै, ठानै राग विरोध।
धरै परिग्रह धारना, करै न आतम सोध॥

जिसप्रकार दीपक रात्रि के समय चारों दिशाओं में प्रकाश करता है

और उस दीपक के प्रकाश में घट-पटादि पदार्थ प्रकाशित होते हैं; पर इसकारण दीपक घट-पटरूप नहीं हो जाता, दीपक ही रहता है; उसीप्रकार ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तुओं के मर्म को जानता है, ज्ञेयाकाररूप से परिणमन करता है; परन्तु अपने आत्मधर्म को नहीं छोड़ता।

ज्ञान अपने स्वभाव में सदा अचल रहता है, विकार को कभी भी ग्रहण नहीं करता और भूलकर भी कभी मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप नहीं होता।

इस जगत में ज्ञान की ऐसी ही महिमा है; किन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के कारण उसे सहजता से देख नहीं पाता।

अज्ञानी जीव परवस्तुओं के स्वभाव में मगन होकर राग-द्वेष में पगे रहते हैं और परिग्रह जोड़ने में लिप्त रहनेवाले वे लोग आत्मा की शोध नहीं करते।

इस प्रकरण ने कविवर पण्डित बनारसीदासजी को इतना प्रभावित किया कि वे नाटक समयसार में यहाँ सुमति को राधिका (राधा) और कुमति को कुब्जा कहकर अनेक छन्द लिखते हैं; जो मूलत: पठनीय हैं; क्योंकि उन छन्दों में ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति का बहुत ही आकर्षक चित्रण किया गया है। यद्यपि यह प्रकरण विशेष ध्यान देने योग्य है; तथापि उन छन्दों संबंधी भाव के पोषक कलश आत्मख्याति में नहीं हैं; अत: उन्हें यहाँ देना उचित प्रतीत नहीं होता। जिज्ञासु पाठक उन्हें नाटक समयसार में अवश्य पढ़ें।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं-

"जैसे दीपक का स्वभाव घट-पटादि को प्रकाशित करने का है; उसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। ज्ञेयों को जानकर,

उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागी-द्वेषी-विकारी होता है जो कि अज्ञान है। इसलिए आचार्यदेव ने सोच किया है कि 'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर रागद्वेषरूप क्यों परिणमित होता है ? अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता ?' इसप्रकार आचार्यदेव ने जो सोच किया है, सो उचित ही है; क्योंकि जबतक शुभराग है, तबतक प्राणियों को अज्ञान से दु:खी देखकर करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है।''

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यद्यपि भगवान केवली समस्त ज्ञेयों को - तीन लोक एवं तीन काल को तथा उनकी सभी द्रव्य-गुण-पर्यायों को केवलज्ञान में एक साथ जानते हैं; तथापि उन्हें उनमें जरा भी राग नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि परपदार्थों को जाननेमात्र से जीवों को विकार नहीं होता; किन्तु अज्ञानी प्राणी बाह्य पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल मानता है, इसकारण उसे राग-द्वेष होता है।

बाह्य पदार्थ अज्ञानी को भी राग-द्वेष नहीं कराते। अज्ञानी स्वयं बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, भले-बुरे की मिथ्या कल्पना करता है, इसकारण उसे स्वयं राग-द्वेष होता है।

परज्ञेयों के कारण राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न नहीं होता। उन ज्ञेयों के जानने से भी विकार उत्पन्न नहीं होता।

देखो, लिखा भी है कि 'कामपि विक्रियां न यायात्' अर्थात् आत्मा में ज्ञेयपदार्थों के कारण जरा भी विक्रिया नहीं होती।

भाई ! यदि परवस्तु के जानने से विकार होता हो तो केवली को सबसे अधिक विकार होना चाहिए; क्योंकि वे तो तीन लोक व तीन कालों की समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जानते हैं, फिर भी उन्हें किंचित् भी रागादि विकार नहीं होता।

यद्यपि आत्मा पूर्ण, अभेद, एकरूप है; तथापि उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र हैं, रागादि हैं - ऐसे भेद करना व्यवहार है। केवली भगवान ऐसे भेदों को भी जानते हैं, तथापि उनके राग नहीं होता। हाँ, रागी जीवों को पर को एवं भेदों को जानते हुए उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि होने के कारण राग-द्वेष होता है, मात्र पर को जानने के कारण नहीं।[१]

देखो, इसमें बहुत सरस बात की है। पर्याय है तो वस्तुत: अपनी ही अवस्था; परन्तु यदि पर्याय और भेदों पर दृष्टि जायेगी तो सरागी को विकल्प-राग होगा, निर्विकल्पता नहीं होगी। इसकारण अभेद की दृष्टि कराने के लिए अपनी होते हुए भी पर्याय व भेदों को भी गौण करके इन्हें व्यवहार कहा है और त्रिकाली अभेद वस्तु का आश्रय कराने के लिए अभेद को निश्चय कहा है। वीतराग होने के बाद केवली तो भेद और अभेद सब जानते हैं।[२]

पंचाध्यायी में आता है कि हे ज्ञानी! तेरा तो ज्ञानस्वभाव है, सब कुछ जान। जानने से राग-द्वेष नहीं होता। पर में भले-बुरे की मिथ्या कल्पना करने से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। पंचपरमेष्ठी ठीक हैं - ऐसी कल्पना करेगा तो राग होगा। पंचपरमेष्ठी को परज्ञेयरूप से मात्र जानेगा तो राग नहीं होगा।[३]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञेयों को जानने से ज्ञान में रंचमात्र भी विकार नहीं होता। पर के जानने को विकार का कारण मानना अज्ञान है। जिन लोगों की ऐसी मान्यता है कि पर को जानना विकार का कारण है और इसीकारण वे पर को जानने का निषेध भी करते हैं; उन्हें उक्त प्रकरण पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलशकाव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - २०-२१

२. वही, पृष्ठ - २२

३. वही, पृष्ठ - २३

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥

(रोला)

राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से।
मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं॥
और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता।
को धारण कर निज में नित्य मगन रहते हैं॥२२३॥

राग-द्वेषरूपी विभाव से मुक्त तेजवाले, निज चैतन्यचमत्कारी स्वभाव का नित्य स्पर्श करनेवाले, भूत और भावी कर्मों से रहित और वर्तमान कर्मोदय से भिन्न सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजन अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से अपने रस से सम्पूर्ण जगत को सींचा है अर्थात् सम्पूर्ण जगत को जाना है जिसने – ऐसी चैतन्यज्योतिमयी चमकती ज्ञानचेतना का अनुभव करते हैं।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं–

"जिनका रागद्वेष दूर हो गया है, अपने चैतन्यस्वभाव को जिन्होंने अंगीकार किया और जिनका अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्म का ममत्व दूर हो गया है – ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यों से अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्र के बल से, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न जो अपनी चैतन्य के परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है, उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगमप्रमाण, अनुमानप्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है। यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में

भी होता है और जब अप्रमत्त अवस्था होती है; तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है। उससमय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथम श्रद्धान किया था, उसमें लीन हो जाता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके साक्षात् ज्ञानचेतनारूप हो जाता है।''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि सम्यग्दृष्टि और केवली की ज्ञानचेतना में क्या अन्तर है ?

यद्यपि जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ में यह बात स्पष्ट हो गई है; तथापि विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

केवलज्ञानी जीव के साक्षात् ज्ञानचेतना होती है। केवलज्ञान होने से पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभव के समय जीव के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यदि ज्ञानचेतना के उपयोगात्मकत्व को मुख्य न किया जाये तो सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना निरन्तर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उसका निरन्तर ज्ञान के स्वामित्वभाव से परिणमन होता है, कर्म के और कर्मफल के स्वामित्वभाव से परिणमन नहीं होता।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि सम्यग्दृष्टियों के केवलज्ञान होने के पहले भी ज्ञानचेतना होती है और केवलज्ञान होने पर साक्षात् ज्ञानचेतना होती है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं-

(सवैया इकतीसा)

जहां सुद्ध ग्यान की कला उदोत दीसै तहां,
सुद्धता प्रवांन सुद्ध चारित कौ अंस है।
ता कारन ग्यानी सब जानै ज्ञेयवस्तु मर्म,
वैराग विलास धर्म वाकौ सरवंस है॥
राग दोष मोह की दसा सौं भिन्न रहै यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्मजाल कौं विधुंस है।
निरुपाधि आतम समाधि मैं विराजै तातैं,
कहिए प्रगट पूरन परम हंस है॥

जहाँ पर शुद्धज्ञान की कला का उद्योत होता है; वहाँ उसकी शुद्धता के परिमाण में शुद्ध चारित्र का अंश अवश्य ही प्रगट हो जाता है। इसकारण ज्ञानी जीव समस्त ज्ञेयवस्तुओं का मर्म जान लेते हैं और उनके सर्वांग वैरागभाव प्रगट हो जाता है।

वे ज्ञानी जीव राग-द्वेष और मोह (मिथ्यात्व) की अवस्था से सर्वथा भिन्न रहते हैं; इसकारण उनके भूत-भविष्य और वर्तमानकालीन कर्मों के जाल का विध्वंस हो जाने से वे निरुपाधि आत्मसमाधि में विराजते हैं और प्रगटरूप से पूर्ण परमात्मा बन जाते हैं।

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"देखो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र की बात करते हैं। जिन्हें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान हुआ है, उन ज्ञानीजनों को ज्ञानचेतना है। यद्यपि उन्हें कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वामीपना नहीं है, फिर भी इनका वेदन उन्हें भी गौणपने होता है। चारित्र की प्राप्ति में वे ज्ञानीजन कर्मचेतना व कर्मफलचेतना का अभाव करते हैं।[१]

देखो, यह चारित्र की दशा! भूतकाल के राग से रहित होना प्रतिक्रमण है और भविष्यकाल के राग से रहित होना प्रत्याख्यान है तथा वर्तमान राग से रहित होना आलोचना है। तीनों ही बातें कलश में कही हैं।[२]

जो आत्मा अतीत कर्मों के प्रति ममत्व छोड़ता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। जो अनागत कर्म न करने की प्रतिज्ञा करे अर्थात् जिनभावों से आगामी कर्म बंधते हैं, उन भावों का ममत्व छोड़े; वह आत्मा प्रत्याख्यान है तथा जो उदय में आते हुए वर्तमान कर्मों का ममत्व छोड़े, वह आत्मा आलोचना है। ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक वर्तता हुआ आत्मा चारित्र है।[३]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - २५
२. वही, पृष्ठ - २७
३. वही, पृष्ठ - ३४-३५

देखो, यहाँ यह कहा है कि भूतकाल में हुए दया-दान आदि के शुभभाव या हिंसा आदि के अशुभ विकल्पों से पीछे हटकर अन्दर अपने निजस्वरूप में स्थिर हो जाना, ठहर जाना आत्मा का प्रतिक्रमण है। मैं तो एक ज्ञाता-द्रष्टा आत्माराम हूँ - ऐसा अन्तर में एकाग्र होकर स्वरूप में लीन होकर रमण करना प्रतिक्रमण है।[१]

अहो ! ऐसा एकसमय का प्रतिक्रमण जन्म-मरण का अभाव करनेवाला है।[२]

दया-दान, व्रत-भक्ति आदि शुभभाव तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि अशुभभाव भविष्य में नहीं करने की प्रतिज्ञा करके अपने स्वरूप में रमने का नाम प्रत्याख्यान है।[३]

जो वर्तमान में उदय में आते हुए कर्मों का ममत्व छोड़ता है, वह आत्मा आलोचना है। निज ज्ञानानन्द परमानन्दमय स्वरूप को जानकर उसी में लीन हो जाना आलोचना है।

ये जो निश्चय प्रतिक्रमण आदि हैं; वे संवर हैं, निर्जरा हैं तथा मोक्ष के मार्ग हैं। ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक वर्तता आत्मा चारित्र है। ऐसे ही चारित्र का विधान आगामी गाथाओं में कहेंगे।[४]''

इसप्रकार आगामी गाथाओं के भाव की सूचना देनेवाले इस कलश में यही कहा गया है कि प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना के माध्यम से भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन कर्मों से रहित एवं अपने स्वभाव का नित्य स्पर्श करनेवाले ज्ञानीजन चारित्र के बल से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित होकर केवलज्ञानमयी साक्षात् ज्ञानचेतना को प्राप्त होते हैं। ●

१.प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ३५

२. वही, पृष्ठ -३५

३. वही, पृष्ठ - ३५

४. वही, पृष्ठ - ३५

समयसार गाथा ३८३-३८६

जो बात विगत कलश में कही गई है; उसी बात को अब गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं-

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा॥३८६॥

(हरिगीत)

शभ-अशुभ कर्म अनेकविध हैं जो किए गतकाल में।
उनसे निवर्तन जो करे वह आतमा प्रतिक्रमण है॥३८३॥
बंधेंगे जिस भाव से शुभ-अशुभ कर्म भविष्य में।
उससे निवर्तन जो करे वह जीव प्रत्याख्यान है॥३८४॥
शुभ-अशुभ भाव अनेकविध हो रहे सम्प्रति काल में।
इस दोष का ज्ञाता रहे वह जीव है आलोचना॥३८५॥
जो करें नित प्रतिक्रमण एवं करें नित आलोचना।
जो करें प्रत्याख्यान नित चारित्र हैं वे आतमा॥३८६॥

जो पूर्वकाल में किये गये अनेकप्रकार के ज्ञानावरणादि शुभाशुभकर्मों से स्वयं के आत्मा को दूर रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

जिस भाव से भविष्यकालीन शुभाशुभकर्म बंधता है, उस भाव से निवृत्त होनेवाला आत्मा प्रत्याख्यान है।

वर्तमानकालीन उदयागत अनेकप्रकार के विस्तारवाले शुभाशुभकर्मों के दोष को चेतनेवाला-छोड़नेवाला आत्मा आलोचना है।

जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है; वह आत्मा वस्तुत: चारित्र है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है–

"जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक से हुए भावों से स्वयं को छुड़ाता है, दूर रखता है; वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है, वही आत्मा उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्मों का प्रत्याख्यान करता हुआ स्वयं ही प्रत्याख्यान है और वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाक को अपने से भिन्न अनुभव करता हुआ आलोचना है।

इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ पूर्वकर्मों के कार्यरूप और उत्तरकर्मों के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ और वर्तमान कर्मविपाक को अपने से अत्यन्त भिन्न अनुभव करता हुआ अपने में ही, अपने ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर चरने से, लीन रहने से चारित्र है।

इसप्रकार चारित्रस्वरूप होता हुआ आत्मा स्वयं को ज्ञानमात्र चेतनारूप अनुभव करता है; इसलिए स्वयं ही ज्ञानचेतना है - ऐसा आशय है।"

तात्पर्यवृत्ति में ये गाथायें यहाँ प्राप्त न होकर ३७२ वीं गाथा के उपरान्त प्राप्त होती हैं और उसमें इनका भाव आत्मख्याति के समान ही स्पष्ट किया गया है।

इन गाथाओं का भाव जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषों से आत्मा को निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्य में दोष लगाने का त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोष

से आत्मा को पृथक् करना सो आलोचना है।

यहाँ निश्चयचारित्र को प्रधान करके कथन है; इसलिये निश्चय से विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकाल के कर्मों से अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है; वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है।

इसप्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतना से (अर्थात् ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।''

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''देखो, एक ही समय में प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान है -

१. जिससमय आत्मा पुण्य-पाप के भावों से निवृत्त हुआ, उसीसमय उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्म से निवृत्त हुआ है, इसलिए वह आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण है।

२. उसीसमय उन भावों के कार्यभूत भविष्य के कर्मों से निवृत्त हुआ, इसलिए वही आत्मा स्वयं ही प्रत्याख्यान है।

३. तथा उसीसमय वर्तमान कर्मों के उदय से निवृत्त हुआ, इसलिए वही आत्मा स्वयं ही आलोचना है।

बस इसी का नाम चारित्र है। भाई ! जो शुभाशुभभाव हैं; वे अचारित्र हैं, अप्रतिक्रमण हैं, अप्रत्याख्यान हैं। ये सब आस्रवभाव हैं; इनसे निवृत्त होकर स्वरूप में एकाग्र होना ही भावसंवर है, चारित्र है।[1]

यह एकसमय की स्वरूपस्थिति की दशा है; इसे ही पूर्वकर्म से निवृत्त होने की अपेक्षा प्रतिक्रमण कहते हैं, भविष्य के कर्म से निवृत्त होने की

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ३९-४०

अपेक्षा प्रत्याख्यान कहते हैं और वर्तमान कर्मविपाक से निवृत्त होने की अपेक्षा आलोचना कहते हैं। यही चारित्र है।[१]

जिनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, उन्हें अभी अस्थिरता का भाव है। इस अस्थिरता से निवृत्त होकर स्वभाव में प्रवर्तना, रमना, लीन होना आलोचना है तथा वही भूत व भावी कर्म से निवृत्त होने की अपेक्षा प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान है। यह चारित्र की विधि है।

भाई! व्रत, भक्ति, दया आदि पालनेरूप जो भाव होते हैं, वे अस्थिरता हैं, उनसे निवृत्त होने की बात है। जिनसे निवृत्त होना है, अज्ञानी उसे ही संयम व चारित्र मानने लगता है। भले ही मुनिराजों को निश्चयचारित्र के साथ यह व्यवहार सहचारीपने हो; परन्तु यह शुभभावरूप व्यवहार चारित्र नहीं है। वस्तुतः वह चारित्र का कारण भी नहीं है।

'मैं प्रतिक्रमण करूँ, प्रत्याख्यान करूँ, आलोचना करूँ - ऐसे जो विकल्प हैं – ये सब राग हैं, ये चारित्र नहीं हैं; क्योंकि ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप ही नहीं हैं। कहते हैं कि जो आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के, चैतन्यस्वरूप के आश्रय से राग की एकत्वबुद्धि तोड़कर, अस्थिरतारूप राग से निवृत्त होकर स्वभाव में लीनतारूप प्रवृत्ति करता है; वह आत्मा ही प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, संवर है तथा इसी का नाम चारित्र है।[२]

यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि पूर्वकर्मों के कार्य और उत्तरकर्मों के कारण ऐसे जो पुण्य-पाप आदि भाव धर्मात्माओं को अपनी दशा में होते हैं, उनसे निवृत्त होकर अपने ज्ञानस्वभाव में वर्तना, रमना, ठहरना चारित्र है। परभावों से निवृत्त हुआ एक ज्ञानभाव में ही निरन्तर विचरता आत्मा स्वयं ही चारित्रस्वरूप है।[३]

१.प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ४०

२.वही, पृष्ठ - ४०-४१

३. वही, पृष्ठ - ४१

भूत, वर्तमान और भविष्य के कर्मों से निवृत्त होकर एक ज्ञानस्वभाव में ही एकाकार होने का नाम चारित्र है। जो स्वयं उस चारित्ररूप सदा परिणम रहा है, उसे यदा-कदा व्यवहार प्रतिक्रमण आदि के विकल्प भी उठते हैं; परन्तु वे दोष हैं। यह बात भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आयी है।

प्रश्न – मुख्यरूप से तो यह चारित्र ही मोक्षमार्ग है न ? सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तो मात्र इसके कारण ही ठहरे न ?

उत्तर – भाई ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र - ये भेद तो मात्र समझने के लिए हैं। ये तीनों होते तो एक समय में ही हैं। तीनों मिलकर ही एक मोक्षमार्ग है।[1]

देखो, यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता है, व्यवहार की क्रिया यहाँ गौण है। अत: यहाँ तो यह कहते हैं कि शुभाशुभ - दोनों ही दोषों से निवृत्त होकर आत्मरूप होना ही चारित्र है। उपयोग को स्वरूपलीन करना ही निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना है।

जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं होती, तबतक स्वरूप की दृष्टि और चारित्र की भूमिका में व्यवहार प्रतिक्रमण के विकल्प होते अवश्य हैं; परन्तु उसमें मात्र अशुभ से निवृत्त होने की ही मर्यादा होती है।

इसप्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का ही निरन्तर अनुभवन करना निश्चय चारित्र है। यही ज्ञानचेतना है। इस चेतना से ही साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानगम्य आत्मा प्रगट होता है।[2]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना तो भूत, भविष्य और वर्तमान

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - ४२
२. वही, पृष्ठ - ४३

- तीनों काल संबंधी शुभाशुभभावों से निवृत्त होकर अपने ज्ञानस्वभाव में वर्तना, रमना, स्थिर होना ही है और यही निश्चय चारित्र है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक होता है।

अत: एकमात्र करने योग्य कार्य तो आत्मज्ञानपूर्वक आत्मरमणता ही है।

अब आगामी गाथाओं के भाव को बतानेवाला कलश काव्य कहते हैं; जो इसप्रकार है-

(उपजाति)

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंध: ॥२२४॥

(रोला)

ज्ञानचेतना शुद्धज्ञान को करे प्रकाशित।
शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञानचेतना॥
और बंध की कर्त्ता यह अज्ञानचेतना।
यही जान चेतो आतम नित ज्ञानचेतना॥२२४॥

यह ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञान की निरन्तर संचेतना से अत्यन्त शुद्धरूप में प्रकाशित होता है और अज्ञान की संचेतना से बंध दौड़ता हुआ आकर ज्ञानस्वभावी आत्मा की शुद्धता को रोक लेता है।

तात्पर्य यह है कि यदि बंध को रोकना है और शुद्धज्ञान को प्रकाशित करना है तो ज्ञान की संचेतना को निरन्तरता प्रदान करो। यही एक मार्ग है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करने के लिए कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में पाँच दोहे और दो चौपाइयाँ लिखी हैं; जो इसप्रकार हैं-

(दोहा)

ग्यायकभाव जहां तहां, शुद्ध चरन की चाल।
तातैं ग्यान विराग मिलि, सिव साधे समकाल॥
जथा अंध के कंध पर, चढ़ै पंगु नर कोइ।
वाके दृग वाके चरन, होंहि पथिक मिलि दोइ॥

जहां ग्यान किरिया मिलै, तहां मोख-मग सोइ।
वह जानै पद का मरम, वह पद मैं थिर होइ॥
ग्यान जीव की सजगता, करम जीव की भूल।
ग्यान मोख अंकूर है, करम जगत का मूल॥
ग्यानचेतना के जगे, प्रगटै केवलराम।
कर्मचेतना मैं बसै, कर्मबंध परिनाम॥

(चौपाई)

जबलग ग्यान चेतना न्यारी। तबलग जीव विकल संसारी॥
जब घट ग्यान चेतना जागी। तब समकिती सहज वैरागी॥
सिद्ध समान रूप निज जानै। पर संजोग भाव पर मानै॥
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासै। त्रिविध कर्म की ममता नासै॥

जहाँ ज्ञायकभाव अर्थात् आत्मज्ञान है, वहाँ शुद्ध चारित्र अवश्य रहता है। इसप्रकर ये ज्ञान और वैराग्य (चारित्र) एकसाथ मिलकर मुक्ति को साधते हैं।

जिसप्रकार अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठ जावे तो अंधे के पैर और लगड़े की आँखे मिलकर रास्ता पार कर लेते हैं; उसीप्रकार जहाँ आत्मज्ञान और आत्मरमणतारूप क्रिया मिल जाती है; वहाँ मोक्षमार्ग सध जाता है; क्योंकि ज्ञान आत्मपद का मर्म जान लेता है और चारित्र आत्मपद में उपयोग को स्थिरता प्रदान करता है।

ज्ञानचेतना जीव की सजगता है, सावधानी है और कर्मचेतना जीव की भूल है, जीव को भुलावे में डालनेवाली है; ज्ञानचेतना मोक्ष का अंकुर है और कर्मचेतना संसार की जड़ है। ज्ञानचेतना के जगने पर आत्मा का शुद्धस्वरूप प्रगट होता है और क़र्मचेतना में बसने पर कर्मों का बंध करनेवाले भाव पैदा होते हैं।

जबतक ज्ञानचेतना नहीं है, तबतक यह जीव दु:खी होकर संसार में ही भटकता रहता है और जब हृदय में ज्ञानचेतना जाग जाती है; तब जीव

सहज वैराग्य को धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

ज्ञानचेतना के जागने पर वह सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को सिद्ध भगवान के समान जानने लगता है और परपदार्थों और संयोगी भावों को पर मानने लगता है तथा शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करने लगता है और द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म – इसप्रकार इन तीन प्रकार के कर्मों की ममता छोड़ देता है; इनमें एकत्व-ममत्व नहीं करता, इनका कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं बनता।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"देखो, यहाँ ज्ञान और अज्ञान की संचेतना का फल कहा है। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वीतरागस्वभावी शुद्ध एक चैतन्यमात्र वस्तु है। ऐसे निजस्वरूप में एकाग्र होकर जो उसे ही वेदता है, उसका ही अनुभव करता है; उसकी पर्याय में अत्यन्त शुद्ध ज्ञान प्रकाशित होता है, उसे शुद्धता की विशेषदशा प्रगट होती है। इसे ही संवर व निर्जरा कहते हैं।

संवर व निर्जरा - दोनों साथ होते हैं। वर्तमान में जो शुद्धि होती है, वह संवर तथा विशेष रमणता से जो शुद्धि में वृद्धि होती है, वह निर्जरा है। यह चारित्र की विशेषदशा की बात है।[1]

कलश में जो 'संचेतन' शब्द आया है, उसका अर्थ यह है कि वस्तु के प्रति एकाग्र होकर, उपयोग को उसी में जोड़कर उसके प्रति ही जाग्रत रहना, उसी के स्वाद में लीन रहना ज्ञान का संचेतन है, ज्ञानचेतना है। सम्यग्दर्शनपूर्वक उपयोग की अन्तर एकाग्रता होना ही ज्ञान की संचेतना है।[2]

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु ज्ञान व आनन्दस्वरूप है, उसमें एकाग्र होकर उसी में लीन होना ज्ञानचेतना है। जिसतरह मोर उत्साह में आकर, आनन्दविभोर होकर जब नृत्य करता है तो उसके पंख खिलते हैं, पंख फैल

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ -४४
२. वही, पृष्ठ -४६

जाते हैं; उसीतरह जब भगवान आत्मा निजस्वभाव में एकाग्र होकर रमता है, तब पर्याय में ज्ञान और आनन्द की कला खिल उठती है तथा वह ज्ञानचेतना वृद्धिंगत होकर पूर्णमासी के चाँद की भांति सर्व कलाओं से खिलकर केवलज्ञान के रूप में व्यक्त हो जाती है।

देखो, पुण्य-पाप आदि कर्मरूप और कर्मफलरूप भावों में एकाग्र होकर उसी में उपयोग को रोककर रखना अज्ञानचेतना है। उससे कर्मों का बन्ध होता है, क्योंकि वह अज्ञानचेतना ज्ञान की शुद्धता को रोककर रखती है।

स्वयं अपना आत्मा चैतन्यप्रकाश का पुंज जिनचन्द्र है, उसे भूलकर व्रतादि के राग में एकाग्र होकर प्रवर्तना मिथ्यात्व के अन्धकार में ही रहना है। ऐसे जीव का संसारपरिभ्रमण मिटता नहीं है।[1]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ज्ञानचेतना मोक्षमार्ग है और कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना संसार का मार्ग है।

इसलिए हमें कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना से मुक्त होकर ज्ञानचेतनारूप ही निरन्तर प्रवर्तना चाहिए। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ४६-४७

इसमें ही सार है, शेष सब संसार है

दृष्टि के विषय को समझे बिना न तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यग्ज्ञान की, आत्मा का ध्यान भी संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मूलाधार तो दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा ही है। उसके आश्रय बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तो आगे की बात ही क्या करें?

निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता का एकमात्र आधार यह दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा ही है। अतः इसे अवश्य जानों; इसमें ही सार है, शेष सब संसार है। — *दृष्टि का विषय, पृष्ठ - 75*

समयसार गाथा ३८७-३८९

जो बात विगत कलशों में कही गई है; अब उसी बात को निम्नांकित मूल गाथाओं में कहते हैं –

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥

(हरिगीत)

जो कर्मफल को वेदते निजरूप मानें करमफल।
हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को ॥३८७॥
जो कर्मफल को वेदते मानें करमफल मैं किया।
हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को ॥३८८॥
जो कर्मफल को वेदते हों सुखी अथवा दुखी हों।
हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को ॥३८९॥

जो आत्मा कर्म के फल का वेदन करता हुआ कर्म के फल को निजरूप करता है अर्थात् उसमें एकत्वबुद्धि करता है; वह आत्मा दुख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को पुन: बाँधता है।

जो आत्मा कर्म के फल का वेदन करता हुआ ऐसा जानता-मानता है कि मैंने कर्मफल किया; वह आत्मा दुख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को पुन: बाँधता है।

कर्म के फल का वेदन करता हुआ जो आत्मा सुखी-दुखी होता है; वह आत्मा दुख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है

ये तीनों गाथायें लगभग समान सी ही हैं। शेष बातें समान होने पर भी अन्तर मात्र इतना ही है कि पहली गाथा में वेदन में आते हुए कर्मफल में एकत्व-ममत्व की बात है, दूसरी गाथा में कर्तृत्व की बात है और तीसरी गाथा में भोक्तृत्व की बात है।

तीनों गाथाओं का तात्पर्य मात्र इतना है कि वेदन में आते हुए कर्मफल में एकत्व-ममत्व एवं कर्त्तत्व-भोक्तृत्व धारण करनेवाला आत्मा पुनः-पुनः कर्मबंधन को प्राप्त होता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"ज्ञानस्वभावी अपने आत्मा से भिन्न भावों में इसप्रकार चेतना-सोचना, जानना-मानना कि 'ये मैं हूँ' अज्ञानचेतना है। यह अज्ञानचेतना दो प्रकार की होती है - कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।

इनमें ज्ञान (आत्मा) से अन्य भावों में ऐसा जानना-मानना कि 'मैं इनका कर्त्ता हूँ'- कर्मचेतना है और ऐसा मानना कि 'मैं इनका भोक्ता हूँ' - कर्मफलचेतना है।

यह समस्त अज्ञानचेतना संसार की बीज है; क्योंकि संसार के बीजरूप जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, यह अज्ञानचेतना उनका बीज है। इसलिए मोक्षार्थी पुरुष को इस अज्ञानचेतना के प्रलय के लिए, जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए सम्पूर्ण कर्मों से संन्यास की भावना को और सम्पूर्ण कर्मफल से संन्यास की भावना को नचाकर, बारम्बार भाकर; स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतना को ही सदा नचाना चाहिए, भाना चाहिए।"

इन गाथाओं के भाव को तात्पर्यवृत्ति में भी इसीप्रकार स्पष्ट किया गया है।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"ज्ञान से अन्य' ऐसा जो कहा, उस 'ज्ञान' शब्द का अर्थ आत्मा है। भाई! शुभ व अशुभभाव सभी आत्मा से अन्य हैं, जुदे हैं। उनमें अपनेपन का अनुभव

करना अज्ञानचेतना है।[1]

वह अज्ञानचेतना दो प्रकार की है - कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतना।

भगवान आत्मा के सिवाय अन्य पुण्य-पाप के विकारीभाव को 'मैं करता हूँ' - ऐसा अनुभवना-मानना कर्मचेतना है। यहाँ 'कर्म' शब्द से जड़कर्म की बात नहीं लेना। यह शुभाशुभभावरूप भावकर्म की बात है।[2]

तथा विकार में हर्ष-शोक का वेदन करना कर्मफलचेतना है।[3]

देखो, समस्त शुभाशुभभावों को करनेरूप एवं भोगनेरूप परिणाम संसार के बीज हैं, चौरासी लाख योनियों में भटकने के बीज हैं; क्योंकि आठों ही कर्म अज्ञानचेतना के बीज हैं।[4]

राग से भिन्न करके भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा 'मैं तो शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु हूँ' अन्तर में ऐसी प्रतीति व अनुभव करने का नाम ज्ञानचेतना है और वह धर्म है। आत्मा शुद्ध एक चैतन्य सत्तापने अन्दर में विराजमान है; उसमें सन्मुखता करके उसी का अनुभव करना भगवती ज्ञानचेतना है तथा वही भवछेद का उपाय है।

प्रश्न – शुभाशुभभाव यदि करने लायक नहीं तो छोड़ने लायक भी तो नहीं हैं; क्योंकि ये सम्यग्दृष्टि के भी तो होते हैं ?

उत्तर – अरे भाई ! सर्व शुभाशुभभाव छोड़ने लायक ही हैं। १०८ वें कलश की टीका में पाण्डे राजमलजी ने इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार किया है–

यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभक्रियारूप या आचरणरूप जो चारित्र है, वह यदि करने योग्य नहीं है तो छोड़ने योग्य भी तो नहीं है ?

उत्तर इसप्रकार है कि वर्जनयोग्य है; कारण कि व्यवहारचारित्र होते

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ -५०

२. वही, पृष्ठ -५०

३. वही, पृष्ठ -५०

४. वही, पृष्ठ -५०

हुए भी दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसकारण विषय-कषाय की भाँति ही क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है।[१]

ज्ञानी को भी राग का विकल्प आता है; परन्तु उसे निरन्तर ऐसा भेदज्ञान वर्तता है कि 'मैं इससे भिन्न हूँ'। भेदज्ञान के ऐसे ही उग्र अभ्यास से स्वरूपसन्मुखता होती है। इसलिए हे भव्य! सकल कर्म की और सकल कर्मफल की भावना का त्याग कर स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतना को ही सदा भाओ![२]

जिनको अन्तरंग में सिद्धपद को प्राप्त करने की भावना हुई; उनको आचार्य फरमाते हैं - हे मोक्षार्थी! तुम सकल कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाकर अपनी स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतना को ही सदा नचाओ; ज्ञानचेतनारूप होकर ही सतत् परिणमन करो। भगवान आत्मा का स्व-संवदेन करके ज्ञान व आनन्द के वेदन में ठहरो![३]

इस भगवती ज्ञानचेतना को ही सदैव नचाओ; क्योंकि यही एकमात्र मोक्ष का उपाय है। भगवती ज्ञानचेतना कहो या भगवतीप्रज्ञा कहो - दोनों एक ही बात है।[४]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना – ये दोनों अज्ञानचेतनारूप होने से हेय हैं और ज्ञानचेतना परम उपादेय है।

विगत गाथाओं और उनकी आत्मख्याति टीका में भगवती ज्ञानचेतना को नित्य नचाने की प्रेरणा दी गई है। उक्त प्रेरणा को स्वयं ही अपनाकर अब यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव पद्य और गद्य के माध्यम से ज्ञानचेतना

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - ५०-५१
२. वही, पृष्ठ - ५१
३. वही, पृष्ठ - ५१-५२
४. वही, पृष्ठ - ५२

का नृत्य प्रस्तुत करते हैं; जिसमें वे भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन कर्मचेतना संबंधी भूलों को प्रतिक्रमणकल्प, आलोचनाकल्प और प्रत्याख्यानकल्प के माध्यम से मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करने की बारम्बार भावना भाते हैं और १४८ कर्म प्रकृतियों के फल के त्यागरूप कर्मफलचेतना संबंधी भूलों के त्याग की भावना भाते हैं।

सर्वप्रथम वे तीनों कल्पों की प्रस्तावनारूप एक आर्या छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है –

(आर्या)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे॥२२५॥

(रोला)

भूत भविष्यत वर्तमान के सभी कर्म कृत।
कारित अर अनुमोदनादि मैं सभी ओर से॥
सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से।
अवलम्बन लेता हूँ परम निष्कर्मभाव का॥२२५॥

त्रिकाल के समस्त कर्मों का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करके अब मैं परमनैष्कर्म्यभाव का अवलम्बन लेता हूँ।

इस कलश की भूमिका को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उत्थानिका में लिखते हैं कि सबसे पहले सम्पूर्ण कर्मों से संन्यास लेने की भावना को नचाते हैं।

इसतरह यह कलश प्रतिक्रमणकल्प, आलोचनाकल्प और प्रत्याख्यान कल्प – इन तीनों कल्पों की प्रस्तावनारूप कलश है।

भूतकाल में किये गये दुष्कृतों का प्रायश्चित प्रतिक्रमणकल्प में और वर्तमान में हो रहे दुष्कृतों का प्रायश्चित आलोचनाकल्प में किया जाता है

तथा प्रत्याख्यानकल्प में भविष्यकाल में संभावित दुष्कृतों से बचने की भावना भायी जाती है, उनसे बचने का संकल्प किया जाता है।

इन तीनों कालों के दुष्कृतों के त्याग की भावना मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक की जाती है।

स्वयं करना कृत कहलाता है, दूसरों से कराना कारित कहलाता है और न तो स्वयं करना और न दूसरों से कराना; किन्तु दूसरों के द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा करना अनुमोदना कहलाती है।

इन सबको परस्पर में संयुक्त करने से, गुणनफल निकालने से कुल मिलाकर प्रतिक्रमणकल्प के ४९, आलोचनाकल्प के ४९ और प्रत्याख्यानकल्प के ४९ – इसप्रकार कुल मिलाकर १४७ भंग बन जाते हैं।

प्रत्येक के इन ४९+४९+४९= १४७ भंगों को बनाने की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए पण्डित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री 'अध्यात्म अमृत कलश' में लिखते हैं -

"मन-वचन-काय – इन तीन में एक-एक का पृथक्-पृथक् ग्रहण करने से ३ भेद होते हैं। दो-दो को एक साथ लेने से भी ३ भेद बनते हैं। तीनों को एक साथ लेने से १ भेद बनता है - ऐसे सात भेद बने।

कृत-कारित-अनुमोदना के भी इसीप्रकार एक-एक रूप में ३ भेद, द्विसंयोगी ३ भेद तथा तीनों को मिलाकर १ भेद - ऐसे सात भेद बनते हैं।

मन-वचन-काय संबंधी सातों को कृत-कारित-अनुमोदना संबंधी सातों भेदों से मिलावें तो ७×७= ४९ भेद हो जाते हैं।[१]"

इसप्रकार इस कलश में मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्रिकाल में किये गये समस्त शुभाशुभभावों का त्याग करके परमनैष्कर्म्य भाव में स्थित होने की कामना की गई है।

प्रतिक्रमणकल्प की भूमिका बाँधते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी

१. अध्यात्म अमृत कलश, पृष्ठ ३१५

एक दोहा लिख़ते हैं; जो इसप्रकार है-

(दोहा)

ग्यानवंत अपनी कथा, कहै आपसौं आप।
मैं मिथ्यात दसाविषैं, कीने बहुविधि पाप॥

ज्ञानी जीव अपनी कहानी स्वयं की जवानी (जवान से) स्वयं से ही कहता है कि मैंने भूतकाल में मिथ्यात्व दशा में अनेकप्रकार के अनेक पाप किये हैं।

इसके उपरान्त वे एक इकतीसा सवैया द्वारा उन पापों का चित्रण इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

हिरदै हमारे महा मोह की विकलताई,
तातैं हम करुना न कीनी जीवघात की।
आप पाप कीनैं औरनि कौं उपदेस दीनैं,
हुती अनुमोदना हमारे याही बात की॥
मन वच काया मैं मगन ह्वै कमाये कर्म,
धाये भ्रमजाल मैं कहाये हम पातकी।
ग्यान के उदय भए हमारी दसा ऐसी भई,
जैसैं भानु भासत अवस्था होत प्रात की॥

हमारे हृदय में महामोह अर्थात् मिथ्यात्व के कारण अनन्त संकल्प-विकल्प थे, अत्यधिक आकुलता थी; इसकारण हमने अनन्त जीवों का घात किया, उनके प्रति रंचमात्र भी दयाभाव नहीं रखा।

हमने स्वयं पाप किये और दूसरों से कराये, उन्हें पाप करने का उपदेश दिया तथा दूसरों के द्वारा किये गये पापों की अनुमोदना भी की। इसतरह हमने कृत, कारित और अनुमोदना करके निर्दय होकर अनन्त पाप किये हैं।

ये पाप हमने मन, वचन और काय से किये, मन-वचन और काय की क्रिया में मगन होकर किये, इनमें एकत्व स्थापित करके किये; इसप्रकार

भ्रमजाल में पड़कर हम महापापी कहलाये।

किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से हमारी दशा वैसी ही हो गई है कि जैसी प्रात:काल की अवस्था में सूर्य प्रकाशित हो उठने से घना अंधकार विलीन हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य के उदय से हमारा अज्ञानरूप रात्रि का घना अंधकार विलीन हो गया है।

इसप्रकार प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान के इन ४९-४९ भंगों को याद रखना यद्यपि सरल नहीं है; तथापि इन्हें निम्न सूत्र के माध्यम से आसानी से याद रखा जा सकता है।

एक त्रिसंयोगी, तीन द्विसंयोगी और तीन असंयोगी इसप्रकार मन-वचन-काय के अधिक से अधिक ७ भंग बनते हैं, जो इसप्रकार हैं - १. मन-वचन-काय २. मन-वचन ३. मन-काय ४. वचन-काय ५. मन ६. वचन ७. काय।

इसीप्रकार कृत-कारित-अनुमोदना के भी अधिक से अधिक ७ भंग बनते हैं, जो इसप्रकार हैं -

१. कृत-कारित-अनुमोदना २. कृत-कारित ३. कृत-अनुमोदना ४. कारित-अनुमोदना ५. कृत ६. कारित ७. अनुमोदना।

मन-वचन-काय आदि ७ भंगों में से प्रत्येक को कृत-कारित-अनुमोदनादि ७ भंगों पर घटित करने पर ४९ भंग हो जावेंगे। जैसे -

१. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

२. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह मिथ्या हो।

३. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

४. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन

किया; वह मिथ्या हो।

५. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया; वह मिथ्या हो।

६. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत कराया; वह मिथ्या हो।

७. मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह मिथ्या हो।

जिसप्रकार मन-वचन-काय के ये ७ भंग बनते हैं; उसीप्रकार मन-वचन, मन-काय, वचन-काय तथा मन, वचन और काय – इनमें से प्रत्येक के सात-सात भंग बनेंगे; इसप्रकार ४९ भंग बन जावेंगे। ये ४९ भंग प्रतिक्रमण के हैं, इसीप्रकार ४९ भंग आलोचना के एवं ४९ भंग प्रत्याख्यान के बन जावेंगे।

इसप्रकार इन १४७ भंगों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए इनके त्याग की भावना बारम्बार भाना, दुहराना, नचाना ही कर्मचेतना के त्यागरूप ज्ञानचेतना का नृत्य है और १४८ कर्मप्रकृतियों के फल के त्याग की भावना भाना, बारम्बार दुहराना ही कर्मफल के त्यागरूप ज्ञानचेतना का नृत्य है।

प्रश्न – प्रतिक्रमणकल्प, आलोचनाकल्प एवं प्रत्याख्यानकल्प के ४९-४९ भंग कौन-कौन से हैं?

उत्तर – आत्मख्याति टीका में इस कलश के उपरान्त ४९-४९ भंगों को इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है –

प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है -

(१) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२) मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(३) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(४) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(५) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(६) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(७) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(८) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया, कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(९) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१०) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(११) मैंने पूर्व में मन व वचन से जो दुष्कृत किया, कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१२) मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१३) मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१४) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१५) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१६) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह

दुष्कृत मिथ्या हो।

(१७) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१८) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(१९) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२०) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२१) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया, कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२२) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२३) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२४) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२५) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२६) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया और कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२७) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२८) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत कराया और अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(२९) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(३०) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

(३१) मैंने पूर्व में मन-वचन-काय से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह

दुष्कृत मिथ्या हो।
(३२) मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३३) मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३४) मैंने पूर्व में मन-वचन से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३५) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३६) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३७) मैंने पूर्व में मन व काय से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३८) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(३९) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४०) मैंने पूर्व में वचन व काय से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४१) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४२) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४३) मैंने पूर्व में मन से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४४) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४५) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४६) मैंने पूर्व में वचन से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४७) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४८) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत कराया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।
(४९) मैंने पूर्व में काय से जो दुष्कृत अनुमोदन किया; वह दुष्कृत मिथ्या हो।

प्रतिक्रमणकल्प के उक्त ४९ भंगों के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में उनके उपसंहाररूप एक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(आर्या)

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।२२६ ।।

(रोला)

मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो।
उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो ।।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ।।२२६।।

मोह (अज्ञान) से किये गये भूतकालीन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

इसप्रकार प्रतिक्रमणकल्प को प्रस्तुत करने के उपरान्त आत्मख्याति में आलोचनाकल्प के ४९ भंग प्रस्तुत किये हैं; जो इसप्रकार हैं –

१. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२. मैं वर्तमान में मन-वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

३. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

४. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

५. मैं वर्तमान में मन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

६. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

७. मैं वर्तमान में काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते

हुए का अनुमोदन करता हूँ।
८. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।
९. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
१०. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म न तो कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
११. मैं वर्तमान में मन-वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ ।
१२. मैं वर्तमान में मन-वचन से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
१३. मैं वर्तमान में मन-वचन से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
१४. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।
१५. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
१६. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
१७. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।
१८. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
१९. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म न तो कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
२०. मैं वर्तमान में मन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।
२१. मैं वर्तमान में मन से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।
२२. मैं वर्तमान में मन से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन

करता हूँ।

२३. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

२४. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२५. मैं वर्तमान में वचन से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२६. मैं वर्तमान में काय से कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ।

२७. मैं वर्तमान में काय से कर्म न तो करता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२८. मैं वर्तमान में काय से कर्म न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ।

२९. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म नहीं करता हूँ।

३०. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से कर्म नही कराता हूँ।

३१. मैं वर्तमान में मन-वचन-काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

३२. मैं वर्तमान में मन व वचन से कर्म नहीं करता हूँ।

३३. मैं वर्तमान में मन व वचन से कर्म नहीं कराता हूँ।

३४. मैं वर्तमान में मन व वचन से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

३५. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म नहीं करता हूँ।

३६. मैं वर्तमान में मन व काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

३७. मैं वर्तमान में मन व काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

३८. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म नहीं करता हूँ।

३९. मैं वर्तमान में वचन व काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

४०. मैं वर्तमान में वचन व काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

४१. मैं वर्तमान में मन से कर्म नहीं करता हूँ।

४२. मैं वर्तमान में मन से कर्म नहीं कराता हूँ।

४३. मैं वर्तमान में मन से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

४४. मैं वर्तमान में वचन से कर्म नहीं करता हूँ।

४५. मैं वर्तमान में वचन से कर्म नहीं कराता हूँ।

४६. मैं वर्तमान में वचन से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

४७. मैं वर्तमान में काय से कर्म नहीं करता हूँ।

४८. मैं वर्तमान में काय से कर्म नहीं कराता हूँ।

४९. मैं वर्तमान में काय से अन्य के करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करता हूँ।

इसप्रकार आलोचनाकल्प के ४९ भंग लिखने के उपरान्त इनके उपसंहाररूप एक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

(रोला)

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो ॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२७॥

मोह के विलास से फैले हुए इन उदयमान कर्मों की आलोचना करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही वर्त रहा हूँ।

इसप्रकार इन २२६ और २२७ वें छन्द में क्रमशः प्रतिक्रमण और आलोचनापूर्वक निष्कर्म आत्मा में वर्तने की बात कही गई है।

यहाँ श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक निज में स्थिर होने का नाम ही वर्तना है।

प्रतिक्रमणकल्प और आलोचनाकल्प के ४६-४६ भंगों के उपरान्त अब प्रत्याख्यानकल्प के ४६ भंग प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैं -

१. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

३. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

४. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

५. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

६. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

७. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

८. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

९. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१०. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

११. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

१२. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१३. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए

का अनुमोदन करूँगा।

१४. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

१५. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१६. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१७. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

१८. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

१९. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२०. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

२१. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२२. मैं भविष्य में मन से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२३. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

२४. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२५. मैं भविष्य में वचन से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२६. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो करूँगा और न कराऊँगा।

२७. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो करूँगा और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा।

२८. मैं भविष्य में काय से कर्म न तो कराऊँगा और न अन्य करते हुए का

अनुमोदन करूँगा।

२९. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म नहीं करूँगा।

३०. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

३१. मैं भविष्य में मन-वचन-काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

३२. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म नहीं करूँगा।

३३. मैं भविष्य में मन-वचन से कर्म नहीं कराऊँगा।

३४. मैं भविष्य में मन-वचन से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

३५. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म नहीं करूँगा।

३६. मैं भविष्य में मन-काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

३७. मैं भविष्य में मन-काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

३८. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म नहीं करूँगा।

३९. मैं भविष्य में वचन-काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

४०. मैं भविष्य में वचन-काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

४१. मैं भविष्य में मन से कर्म नहीं करूँगा।

४२. मैं भविष्य में मन से कर्म नहीं कराऊँगा।

४३. मैं भविष्य में मन से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

४४. मैं भविष्य में वचन से कर्म नहीं करूँगा।

४५. मैं भविष्य में वचन से कर्म नहीं कराऊँगा।

४६. मैं भविष्य में वचन से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

४७. मैं भविष्य में काय से कर्म नहीं करूँगा।

४८. मैं भविष्य में काय से कर्म नहीं कराऊँगा।

४९. मैं भविष्य में काय से अन्य करते हुए कर्म का अनुमोदन नहीं करूँगा।

इन ४९ भंगों के उपसंहाररूप में जो कलश लिखा गया है, वह इसप्रकार है–

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

(रोला)

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं।
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥२२८॥

जिसका मोह नष्ट हो गया है – ऐसा मैं अब भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

कर्मचेतना से संन्यास की चर्चा १४७ भंगों और तीन कलशों के द्वारा विस्तार से करने के उपरान्त अब आत्मख्याति में उक्त सम्पूर्ण प्रकरण के उपसंहाररूप एक कलश लिखा गया है; जो इसप्रकार है –

(उपजाति)

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥२२९॥

(रोला)

तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह।
परमशुद्ध निश्चयनय का अवलम्बन लेकर॥
निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥२२९॥

जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है - ऐसा शुद्धनयावलंबी अब मैं इसप्रकार से तीनों कालसंबंधी समस्त कर्मों को दूर करके सर्वविकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ।

२२५ से २२९ तक के ५ कलशों एवं प्रतिक्रमण, आलोचना और

प्रत्याख्यान संबंधी १४७ भंगों के संदर्भ में पण्डित श्री जयचंदजी छाबड़ा ने जो स्पष्टीकरण भावार्थों में यथास्थान दिया है; उसका ध्यान देने योग्य अंश इसप्रकार है –

''भूतकाल में किये गये कर्म को ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे, इसकी यह विधि है।

'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इसप्रकार है - जैसे किसी ने पहले धन कमाकर घर में रख छोड़ा था और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा; उससमय भूतकाल में जो धन कमाया था, वह नहीं कमाने के समान ही है; इसीप्रकार जीव ने पहले कर्मबन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था, वह नहीं बाँधने के समान मिथ्या ही है।

वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है, उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है कि पहले जो कर्म बांधा था, उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं है। मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।

निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है कि समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है। इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।

यहाँ तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिए - व्यवहारचारित्र में तो प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है।

यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है; इसलिए शुद्धोपयोग से विपरीत सर्वकर्म आत्मा के दोषस्वरूप हैं। उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का, तीनों काल के कर्मों का प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा निष्प्रमाददशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है। यह ज्ञानी का कार्य है।''

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण पर प्रकाश डालते हुए स्वामीजी कहते हैं -

''धर्मी चारित्रवन्त पुरुष कहते हैं कि मैं तीनकाल के समस्त पुण्य-पापरूप विकारी कर्मों का मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करता हूँ। मैं इन कर्मों का कर्त्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ। - इसप्रकार सर्वकर्मों का मैं त्याग करता हूँ। पर में कार्य हो – इसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।[1]

यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी जीव त्रिकाल के समस्त कर्मों को अर्थात् शुभाशुभभावों को भी नहीं करता। न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और न मन-वचन-काय से अनुमोदना करता है। वह तो ऐसा विचार करता है कि 'मैं तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध एक चिदानन्द भगवान हूँ' तथा वह उसी में स्थिर होता है, बस इसी का नाम चारित्र है। महाव्रतादि का शुभराग चारित्र नहीं है। उसका तो वह त्याग करता है। इसप्रकार सकल कर्म के संन्यासपूर्वक सम्यग्दृष्टि को जो स्वरूप में स्थिरता-रमणता होती है, वह चारित्र है।

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु सदैव निष्कर्मशक्ति के स्वभावरूप है। उसे आत्मा के सन्मुख होकर परिणमन करते हुए जो स्व-संवेदन ज्ञान हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है, 'मैं यही हूँ' ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन और उसी का उग्र आश्रय करने से जो निष्कर्म-वीतरागदशा होती है, वह चारित्र है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ५२

इसप्रकार ज्ञानी सर्वकर्मों का त्याग करने की प्रतिज्ञा करता है।[१]

पहले अज्ञानवश पर में अटक कर जो शुभाशुभभाव किए, उन सभी का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्तता हूँ। भाई ! शुभाशुभभाव भी दोष है, दुष्कृत है। इसकारण ज्ञानी जीव उसका प्रतिक्रमण करता है।[२]

देखो !धर्मात्मा जो हिंसादि अशुभभावों का त्यागकर दया-दान आदि के शुभभावों में वर्तते हैं, वह व्यवहार प्रतिक्रमण है; परन्तु वह व्यवहार प्रतिक्रमण दोष है, दुष्कृत है। 'मैं उन सर्व दोषों को छोड़कर चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं से ही वर्तता हूँ' इसप्रकार ज्ञानी भूतकाल में हुए सर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करते हैं।[३]

निरन्तर निज चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव ही वस्तुत: प्रतिक्रमण है।[४]

भाई ! धर्मात्मा तो राग को मोह का विलास जानते हैं। शुभाशुभभाव ज्ञानी की दृष्टि में मोह के ही विलास हैं। ये सब पुद्गल के विलास हैं, जीव के विलास नहीं हैं। धर्मी जीव इन्हें चैतन्य का विलास नहीं मानते। भक्ति के काल में भी उन्हें जो भगवान के प्रति राग होता है, उसे भी वे हेय जानते हैं। उन्हें जैसा अपने अन्दर विराजे ज्ञायकभाव का आदर है, वैसा आदर शुभ के प्रति नहीं है। यद्यपि भक्ति आदि का शुभराग आता है; परन्तु उसे वे हेय जानते हैं।[५]

वास्तव में राग से भेदज्ञान करके अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप में रमना/ठहरना ही सम्यग्दर्शन और धर्म है और यही वास्तविक आलोचना है।[६]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ -५३
२. वही, पृष्ठ - ६१
३. वही, पृष्ठ - ६२
४. वही, पृष्ठ - ६३
५. वही, पृष्ठ - ६८
६. वही, पृष्ठ - ६९

शुद्धोपयोग में उग्रतापूर्वक रमण करने का नाम प्रत्याख्यान है। दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उठना तो अप्रत्याख्यान है, अशुद्धता है। इससे भेदज्ञान करके शुद्धचैतन्यमात्र भाव में उपयोग का रमना प्रत्याख्यान है।[१]

मैं भविष्य में समस्त कर्म न स्वयं करूँगा, न दूसरों से करवाऊँगा और न अन्य करते हुए की अनुमोदना ही करूँगा। इसतरह मन-वचन-काय से सर्वकर्म का त्याग करके धर्मात्मा कर्म से मुक्त होकर स्वसन्मुखता द्वारा शुद्धोर्पयोगरूप परिणमन में स्थिर होता है। स्वरूप में ही उपयोग को रमाता है। इसका नाम प्रत्याख्यान है, चारित्र है।[२]

जिसप्रकार अशुभराग अशुचि है, उसीप्रकार शुभराग भी अशुचि ही है; जिसप्रकार अशुभभाव दुःखरूप है, उसीप्रकार शुभभाव भी आकुलतारूप ही है। एकमात्र शुद्धोपयोगरूप परिणाम ही पवित्र और निराकुल है। आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। उपयोग को वहीं स्थिर करके उसी में रमना वास्तविक प्रत्याख्यान एवं चारित्र है।[३]

धर्मात्माओं को दया-दान, व्रतादि शुभभाव होते ही न हों - ऐसी बात नहीं है, होते हैं; किन्तु उन सबके यथास्थान होते हुए भी शुद्धोपयोगरूप निर्मल परिणति में इनका कोई उपयोग नहीं है; बल्कि निश्चय प्रत्याख्यान होने के लिए इन शुभभावों का न होना ही अभीष्ट है; क्योंकि ये शुभभाव वीतरागरूप शुद्धोपयोग में बाधक ही होते हैं।[४]

तात्पर्य यह है कि - व्यवहारचारित्ररूप प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है, उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है; परन्तु यहाँ निश्चयचारित्र का प्रधानपने कथन होने से शुद्धोपयोग से विपरीत सभी कर्म

१.प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ७६

२.वही, पृष्ठ - ७७

३. वही, पृष्ठ - ७७

४. वही, पृष्ठ - ७८

आत्मा के दोषस्वरूप हैं। उन सर्व कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का, तीनों काल के कर्मों का - प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से जुदे अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान से तथा उसी में स्थिर होने के विधान से निष्प्रमाददशा को प्राप्त होकर, श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यही ज्ञानी का कार्य है।

देखो ! यहाँ कहते हैं कि व्यवहारचारित्ररूप प्रतिज्ञा में जो दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण वगैरह होता है जो कि शुभभावरूप है और पुण्यबंध का कारण है और निश्चयचारित्र में तो शुद्धोपयोग से विपरीत सर्वधर्म आत्मा के लिए दोषस्वरूप हैं।

कहते हैं कि इन सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान के द्वारा तथा इसी में स्थिर होने के विधान से निष्प्रमाददशा को प्राप्तकर श्रेणी का आरोहण करके ज्ञानी केवलज्ञान प्राप्त करने के सन्मुख होता है। बस, यही एकमात्र ज्ञानी का कार्य है।[1]

सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्रदशा प्रगट करने की, स्वरूप में रमण करने की जिसको इच्छा है वह ऐसा जानता है, अनुभव करता है कि भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल के पुण्य-पाप के भाव मेरा स्वरूप नहीं हैं, मैं उनसे पीछे हटता हूँ, उनका परित्याग करता हूँ। इसतरह तीनों कालों के समस्त शुभाशुभ दोषों को दूर करके शुद्धनयावलम्बी और विलीन मोही मैं सर्व विरोधों से रहित शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ। मैं तो शुद्ध एक सच्चिदानन्दमय आत्मा हूँ, उसी में रमता हूँ, स्थिर होता हूँ। मुझे इन शुभाशुभभावों से क्या प्रयोजन ?

ये शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय आदि तो सब जड़पदार्थ, परपदार्थ हैं। इनका तो मैंने कभी स्पर्श ही नहीं किया। 'मैं इनसे निर्वृत्त होता हूँ, यह भी नास्ति का कथन है। अस्ति से तो 'मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ -७८-७९

को ही अवलम्बता हूँ, प्राप्त होता हूँ।'

मैं तो त्रिकाली अकषायी, परमशान्त वीतरागरस से, चैतन्यरस से भरा भगवान हूँ, उसी का अवलम्बन करता हूँ। बस, यही धर्मी पुरुष का कार्य है। धर्मी जीव तो ऐसे चिन्तन से, आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ से अल्पकाल में ही कार्य परमात्मा बन जाता है।[१]

यहाँ तीन बातें कही हैं -

१. मैं तीनकाल के समस्त शुभाशुभकर्मों को छोड़ता हूँ। उनसे मैं स्वयं को भिन्न अनुभवता हूँ।

२. मैं अन्तर में शुद्ध चिदानन्दकन्द प्रभु हूँ, शुद्धनय का अवलम्बन लेकर उसे ही प्राप्तकर उसी का आश्रय लेता हूँ।

३. मेरा चिन्मात्र आत्मा ही, चित्स्वभावी आत्मा ही मेरा आलम्बन है, राग मेरा आलम्बन नहीं; क्योंकि राग मेरा स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं।

इसप्रकार जिसमें एक चिन्मात्र आत्मा का ही आलम्बन है, वह चारित्र है।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन के मंथन करने पर एक बात स्पष्ट होती है कि यहाँ दुष्कृत शब्द का अर्थ पापक्रिया और पापभाव मात्र नहीं है; अपितु सम्पूर्ण प्रकार की शुभाशुभ क्रियायें और शुभाशुभभाव हैं; क्योंकि यहाँ निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय आलोचना और निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

यद्यपि व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार आलोचना और व्यवहार प्रत्याख्यान में अशुभ क्रिया और अशुभभावों का निषेध कर शुभक्रिया और शुभभाव करने की बात भी आती है; तथापि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि तीनों कालों संबंधी समस्त शुभाशुभ क्रियाओं और समस्त शुभाशुभभावों के

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ८०

२. वही, पृष्ठ - ८०-८१

अभावपूर्वक शुद्धोपयोगरूपदशा होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है, वास्तविक आलोचना है और वास्तविक प्रत्याख्यान है।

यदि आप ध्यान से देखेंगे तो यहाँ एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से दिखाई देगी कि उक्त पाँचों कलशों की अन्तिम पंक्ति में निष्कर्म स्थिति के अवलम्बन की बात कही गई है, चैतन्य आत्मा में नित्य वर्तने की बात कही गई है।

इसप्रकार कर्मचेतना के त्यागपूर्वक होनेवाले ज्ञानचेतना के नृत्य की चर्चा के उपरान्त अब कर्मफल के त्यागरूप ज्ञानचेतना के नृत्य के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र सबसे पहले एक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(आर्या)

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्॥२३०॥

(रोला)

कर्म वृक्ष के विषफल मेरे बिन भोगे ही।
खिर जायें बस यही भावना भाता हूँ मैं॥
क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥२३०॥

मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलता से संचेतन करता हूँ, अनुभव करता हूँ; इससे मेरे कर्मरूपी विषवृक्ष के समस्त फल बिना भोगे ही खिर जायें – मैं ऐसी भावना करता हूँ।

इस कलश का भाव भावार्थ में स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं –

"ज्ञानी कहता है कि जो कर्म उदय में आता है, उसके फल को मैं ज्ञाताद्रष्टारूप से जानता-देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता; इसलिए मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें; मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन

होता हुआ उसका ज्ञाता-द्रष्टा ही होऊँ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि अविरत, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशा में तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है और जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है, तब यह अनुभव साक्षात् होता है।''

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं -

''समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना करनेवाला कहता है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं तथा इनके भेद-प्रभेद करें तो एक सौ अड़तालीस भेद होते हैं। ज्ञानी के इन समस्त कर्मों के फलों को त्यागने की भावना होती है। ज्ञानी धर्मात्मा कहते हैं कि कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे भोगे बिना ही खिर जाओ।

देखो ! ज्ञानीजनों को शुभभावों के जोर में विश्वकल्याण की भावना होने से तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का भी बंध होता तो है; किन्तु वे उसे भी विषवृक्ष ही मानते हैं; क्योंकि उन्हें तीर्थंकर जैसे महान् यश का भी लोभ नहीं रहता। साधारण लोगों को ऐसा लग सकता है कि तीर्थंकर जैसे पवित्र पद को विषवृक्ष की हीन उपमा क्यों दी जा रही है; पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि ज्ञानी को भूमिकानुसार शुभभाव होते हैं; परन्तु उन्हें सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों के फल के प्रति हेयबुद्धि हो गई है; अत: वे सभी कर्मों से पीछे हट गये हैं, सबका प्रत्याख्यान कर चुके हैं। अत: वे भावना भाते हैं कि जो हमने पूर्व में शुभाशुभकर्म बाँधे थे; वे सब विषवृक्ष के फल हैं, वे सब बिना फल दिये ही खिर जावें।

किसी को यह बात अटपटी लग सकती है; परन्तु यह तो अनादिसिद्ध वीतरागता का मार्ग है।[1]

भाई ! कर्मों के फल विषवृक्ष के ही फल हैं, उनमें मिठास है ही कहाँ। अत: धर्मी जीव कहते हैं कि ये कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे भोगे बिना ही

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ८२

नष्ट हो जावें, खिर जावें। उनकी भावना कर्मफल भोगने की बिल्कुल नहीं है। वे तो कहते हैं कि 'हम तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द निज आत्मा का ही संचेतन करते हैं।

यद्यपि साता वेदनीय के उदय में पुण्य के फलस्वरूप भोगसामग्री प्रचुरमात्रा में मिलती है; परन्तु ये सब ज्ञानियों को विषफल जैसी ही प्रतीत होती है, विचार करने पर आकुलतामय होने से दुःखदाई ही लगती है; इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करनेवाले ज्ञानीजन कहते हैं कि ये कर्मफल भोगे बिना ही खिर जावें।

इसप्रकार पहले कर्मचेतना के त्याग की भावना भायी और अब कर्मफल चेतना के त्याग की भावना भाते हैं।[१]

देखो, चौथे-पाँचवें गुणस्थान में राग की एकता टूटी है; किन्तु अभी यहाँ अस्थिरता नहीं छूटी। पाँचवे गुणस्थान में देशविरत श्रावक को आनन्द की वृद्धि जरूर हुई है; तथापि उसे अभी अस्थिरता का भाव होता है। छठवें गुणस्थान में भी यद्यपि अनन्तानुबंधी आदि तीन कषायों का अभाव हुआ है, प्रचुर आनन्द का संवेदन वर्तता है; किन्तु अभी प्रमत्तदशा है, प्रमादजनित राग है; इसकारण इन तीनों ही अवस्थाओं में ज्ञान-श्रद्धान ही मुख्य है। जब यह जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्तकर श्रेणी चढ़ता है, तब यह अनुभव साक्षात् होता है।[२]"

ग्रन्थ के आरंभ में ही कहा था कि हमारे जीवन में एक मोह ही नाचता है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का होना ही मोह का नृत्य है और इन दोनों का अभाव होकर ज्ञानचेतना का होना ही ज्ञान का नृत्य है।

कर्मचेतना से संन्यास की चर्चा में मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से तीनों कालों के शुभाशुभभावों के कर्तृत्व के त्याग की बात

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ८३
२. वही, पृष्ठ - ८४-८५

कही थी और अब यहाँ कर्मफलचेतना के संन्यास की चर्चा में बिना किसी भेदभाव के आठों कर्मों की एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों के - जिसमें तीर्थंकर नामकर्म जैसी पुण्यप्रकृतियाँ भी शामिल हैं -फल के भोक्तृत्व की भावना के त्याग की बात कही जा रही है।

इस कलश के तत्काल बाद आचार्यदेव उन १४८ प्रकृतियों के फल के भोक्तृत्व से संन्यास की बात स्वयं पृथक्-पृथक्रूप से कर रहे हैं कि जिससे कोई भ्रम न रह जाये।

ध्यान रहे, यहाँ तीर्थंकर नामकर्म के फल के अभोक्तृत्व की भावना मिथ्यात्व के अभोक्तृत्व की भावना के समान ही, दोनों में किसी भी प्रकार का अन्तर डाले बिना, भा रहे हैं।

कर्मफलत्याग की भावना के १४८ प्रकार इसप्रकार हैं –

१. मैं मतिज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

२. मैं श्रुतज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३. मैं अवधिज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४. मैं मन:पर्ययज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५. मैं केवलज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

६. मैं चक्षुर्दर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७. मैं अचक्षुर्दर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८. मैं अवधिदर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
९. मैं केवलदर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१०. मैं निद्रादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
११. मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१२. मैं प्रचलादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१३. मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१४. मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१५. मैं सातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१६. मैं असातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१७. मैं सम्यक्त्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१८. मैं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
१९. मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२०. मैं अनन्तानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता

हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२१. मैं अप्रत्याख्यानावरणीक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२२. मैं प्रत्याख्यानवरणीक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२३. मैं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२४. मैं अनन्तानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२५. मैं अप्रत्याख्यानावरणीमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२६. मैं प्रत्याख्यानावरणीमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२७. मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२८. मैं अनन्तानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
२९. मैं अप्रत्याख्यानावरणीमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३०. मैं प्रत्याख्यानावरणीमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३१. मैं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३२. मैं अनन्तानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

३३. मैं अप्रत्याख्यानावरणीलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३४. मैं प्रत्याख्यानावरणीलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३५. मैं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३६. मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३७. मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३८. मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
३९. मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
४०. मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
४१. मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
४२. मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
४३. मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
४४. मैं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
४५. मैं नरक-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप

आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४६. मैं तिर्यंच-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४७. मैं मनुष्य-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४८. मैं देव-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

४९. मैं नरकगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५०. मैं तिर्यंचगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५१. मैं मनुष्यगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५२. मैं देवगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५३. मैं एकेन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५४. मैं द्वीन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५५. मैं त्रीन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५६. मैं चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५७. मैं पंचेन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

५८. मैं औदारिकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
५९. मैं वैक्रियिकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६०.मैं आहारकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६१. मैं तैजसशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६२. मैं कार्मणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६३. मैं औदारिकशरीर-अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६४. मैं वैक्रियिकशरीर-अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६५. मैं आहारकशरीर-अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६६. मैं औदारिकशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६७. मैं वैक्रियिकशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६८. मैं आहारकशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
६९. मैं तैजसशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।
७०. मैं कार्मणशरीरबंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७१. मैं औदारिकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७२. मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७३. मैं आहारकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७४. मैं तैजसशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७५. मैं कार्मणशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७६. मैं समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७७. मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७८. मैं सातिकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

७९.मैं कुब्जकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८०. मैं वामनसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८१. मैं हुंडकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८२. मैं वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८३. मैं वज्रनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८४. मैं नाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८५. मैं अर्धनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८६. मैं कीलिकसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८७. मैं असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८८. मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

८९. मैं रूक्षस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९०. मैं शीतस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९१. मैं उष्णस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९२. मैं गुरुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९३. मैं लघुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९४. मैं मृदुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९५. मैं कर्कशस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९६. मैं मधुररस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९७. मैं अम्लरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९८. मैं तिक्तरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

९९. मैं कटुकरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१००. मैं कषायरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०१. मैं सुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०२. मैं असुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०३.मैं शुक्लवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०४. मैं रक्तवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०५. मैं पीतवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०६. मैं हरितवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०७. मैं कृष्णवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०८. मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१०९. मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११०. मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१११. मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११२. मैं निर्माण नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११३. मैं अगुरुलघु नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११४. मैं उपघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११५. मैं परघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११६. मैं आतप नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११७. मैं उद्योत नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११८. मैं उच्छ्वास नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

११९. मैं प्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२०. मैं अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि

मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२१. मैं साधारणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२२. मैं प्रत्येकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२३. मैं स्थावर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२४. मैं त्रस नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२५. मैं सुभग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२६. मैं दुर्भग नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२७. मैं सुस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२८. मैं दुःस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१२९. मैं शुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३०. मैं अशुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३१. मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३२. मैं बादरशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३३. मैं पर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३४. मैं अपर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३५. मैं स्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३६. मैं अस्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३७. मैं आदेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३८. मैं अनादेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१३९. मैं यश:कीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४०. मैं अयश:कीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४१. मैं तीर्थंकर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४२. मैं उच्चगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४३. मैं नीचगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४४. मैं दानांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४५. मैं लाभांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप

आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४६. मैं भोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४७. मैं उपभोगांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

१४८. मैं वीर्यान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; क्योंकि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

उक्त १४८ बोलों पर ध्यान देने पर एक बात स्पष्टरूप से नजर आती है कि प्रत्येक बोल के उत्तरार्ध में यह कहा गया है कि मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ तथा पूर्वार्द्ध में क्रमशः १४८ कर्मप्रकृतियों के नाम देकर यह कहा गया है कि मैं इनके फल को नहीं भोगता हूँ।

मात्र कर्मप्रकृति के नाम परिवर्तन के साथ एक ही बात को १४८ बार दुहराया गया है। इसका एकमात्र हेतु कर्मफलचेतना के त्याग की एवं ज्ञानचेतना की भावना को बारम्बार नचाना ही है; क्योंकि साक्षात् मुक्ति का मार्ग इसप्रकार की भावना की प्रबलता ही है।

उक्त १४८ बोलों पर टिप्पणी करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि -

"यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि मतिज्ञानावरणी कर्म के फल में जो मेरी ज्ञान की हीनदशा है, उस पर मेरा लक्ष्य नहीं है। मेरा लक्ष्य तो त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा पर है। इसकारण मैं मतिज्ञानावरणी कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। मैं उससे भिन्न अपने ज्ञान अर्थात् ज्ञायकस्वभाव का ही संचेतन करता हूँ, उसी का एकाग्रपने अनुभव करता हूँ, वेदन करता हूँ।[1]

बात सूक्ष्म है बापू ! मतिज्ञानावरणी कर्म की प्रकृति सत्ता में पड़ी है, उसका उदय भी है तथा उसके निमित्त से ज्ञान की हीनदशा भी है; किन्तु वह हीनदशा कर्म का फल है, उसे मैं कैसे भोगूँ ? मैं तो उससे भिन्न सच्चिदानन्द

१. प्रवचन रत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १०२

स्वरूप भगवान हूँ, मैं तो अपने उस भगवान आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

शरीर, वाणी, स्त्री, महल-मकान एवं प्रतिष्ठा आदि सब संयोग तो बाह्य वस्तुएँ हैं। उन्हें आत्मा भोगता है या भोग सकता है - यह तो बात ही असंभव है। यहाँ तो ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान की वर्तमान हीनदशा भी कर्म का फल है, उसे भी मैं नहीं भोगता।

वर्तमान में तो करणानुयोग के बहाने अधिकांश ऐसा ही माना एवं कहा जाता है कि कर्म के कारण विकार होता है; परन्तु यह बात ठीक नहीं है। कर्म तो निमित्तमात्र है, विकाररूप कार्य तो उपादान में उपादान की तत्समय की योग्यता से होता है। विकार का उपादान जड़कर्म नहीं, बल्कि जीव है। विकार होने में हीनदशा का परिणमन मेरे में मेरे से होता है - ऐसा ज्ञानी जानते हैं, मानते हैं।

यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि वह हीनदशा मेरा स्वरूप नहीं है, मैं नहीं हूँ, मैं उसे भोगता भी नहीं हूँ। अब मेरा लक्ष्य स्वभाव में जुड़ गया है, स्वभावसन्मुख हुआ है। राग व हीनदशा के पक्ष को छोड़कर अब मुझे स्वभाव का पक्ष हो गया है। भाई ! जन्म-मरण से छूटने की एकमात्र यही विधि है, यही मार्ग है। चैतन्यस्वरूप निज आत्मतत्त्व की, ज्ञायकतत्त्व की दृष्टि करना ही एकमात्र धर्म का मार्ग है। पर्याय की इसमें बात ही नहीं है। चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव भी पर्याय है; परन्तु उसे पर्याय का आश्रय नहीं है, उस पर्याय को त्रिकालीद्रव्य का ही आश्रय है।[1]

प्रश्न – जब मन:पर्ययज्ञान है ही नहीं तो उसे भोगने या न भोगने की बात ही नहीं बनती? फिर भी 'मैं उसे नहीं भोगता' - ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर – यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी के किसी भी कर्मफल का स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी का पर्याय की ओर जोर ही नहीं है, एक निजानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा का ही जोर है। यह बताने के लिए एक-एक

१. प्रवचन रत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १०२-१०३

कर्मप्रकृति के नाम के साथ निषेध किया गया है।[1]

देखो, कर्म की १४८ प्रकृतियाँ हैं। सभी जीवों को १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता तथा उदय आदि सदा नहीं होते; परन्तु सामान्य वर्णन करने में सभी भेद-प्रभेदों की बात कहने में आती है। क्षायिक समकिती को मिथ्यात्व संबंधी तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं होती; परन्तु अन्य सम्यग्दृष्टियों के तीनों प्रकृतियाँ सत्ता में होते हुए भी ज्ञानी का उन पर लक्ष्य नहीं होता; इसलिए वे कहते हैं कि मैं उन्हें भोगता ही नहीं हूँ।[2]

एक तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति भी सभी को नहीं होती। मिथ्यादृष्टि की तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो क्षणिक रागादिभाव से भिन्न पड़कर त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेने की बात है। यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि मैं प्रकृति के उदय के फल को नहीं भोगता हूँ। तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में आता है; किन्तु यदि वह प्रकृति भी ज्ञानी की सत्ता में पड़ी हो तो उसके फल की ओर भी ज्ञानी का लक्ष्य नहीं रहता। 'भविष्य में मैं तीर्थंकर होनेवाला हूँ'- ऐसा भी ज्ञानी का लक्ष्य नहीं रहता। वह तो तीर्थंकर प्रकृति के फल को भी विषवृक्ष का फल जानता है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष कहता है कि 'मैं ज्ञानावरणी आदि कर्म के फलों को नहीं भोगता हूँ। मैं तो निर्विकार, पूर्ण, पर्याय की पामरता से पृथक् तीनलोक का नाथ ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा हूँ। मैं अपने ऐसे निजज्ञायक स्वरूपी आत्मा का ही संचेतन करता हूँ, अनुभव करता हूँ। वर्तमान ज्ञान की अधूरी दशा पर मेरा लक्ष्य नहीं है। मैं पूर्ण वस्तु का अनुभव करता हूँ।'

ज्ञानी इसीप्रकार दर्शनावरणीकर्म की प्रकृतियों के संबंध में विचार करता है कि मैं चक्षुदर्शनावरणी, अचक्षुदर्शनावरणी, अवधिदर्शनावरणी, केवलदर्शनावरणी आदि कर्मों के फल को नहीं भोगता हूँ। मैं तो चैतन्यस्वरूप

१. प्रवचन रत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १०४
२. वही,पृष्ठ - १०५

आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। जो प्रकृतियाँ उदय में हैं और सत्ता में पड़ी हैं, उनके निमित्त से हीनदशा भी है; किन्तु ज्ञानी का उनके वेदन के प्रति लक्ष्य नहीं है, उधर झुकाव नहीं है; वह पूर्णानन्द के नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ही वेदन करता है, अनुभवन करता है।[१]

इसीप्रकार वेदनीय कर्म की जो दो प्रकृतियाँ हैं, उनमें सातावेदनीकर्म के निमित्त से बाह्य सामग्री - धन, कुटुम्ब, परिवार, शरीर की नीरोगता आदि की प्राप्ति होती है तथा असाता के उदय में प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, उनके प्रति भी ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है। वह विचारता है कि साता के उदय में जो फल प्राप्त होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उसे भोगता नहीं हूँ। मैं तो निज चैतन्यमूर्ति चिद्रूप प्रभु आत्मा में ही चेतता हूँ। इसीतरह असाता के उदय में जो रोग आदि प्रतिकूलतायें प्राप्त होती हैं, ज्ञानी उन्हें भी नहीं भोगता है।[२]

अब मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों के संबंध में ज्ञानी कहते हैं कि मैं मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) एवं सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व कर्म के फल को नहीं भोगता।[३]

मैं अनन्तानुबंधी क्रोध कषाय वेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।[४]

'मैं अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलन संबंधी क्रोधकषाय वेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता; मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगता हूँ।[५]

इसप्रकार जैसे क्रोधकषाय की चौकड़ी की बात की; उसीप्रकार मान,

---

१. प्रवचन रत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १०५-१०६
२. वही, पृष्ठ - १०६
३. वही, पृष्ठ - १०७
४. वही, पृष्ठ - १०८
५. वही, पृष्ठ - १०८

माया एवं लोभ कषाय की चौकड़ी के फल के त्याग की भी ज्ञानी भावना भाते हैं, वे कहते हैं कि मैं इन कर्मों को नहीं भोगता। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।

नोकषाय मोहनीयकर्म की प्रकृति के जो हास्य, रति,अरति, शोक, भय, जुगुप्सा एवं स्त्री-पुरुष व नपुंसक वेद के भेद कहे, ज्ञानी उनके फल को भी नहीं भोगता।[१]

मैं नरक आयु, तिर्यंच आयु,मनुष्य आयु एवं देव आयु कर्म के फल को नहीं भोगता। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ।[२]

इसप्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना करते हैं। जिसप्रकार सकल पुण्य-पाप के संन्यास की भावना की अर्थात् कर्मचेतना के त्याग की भावना की; उसीप्रकार सकलकर्मों के फल के संन्यास की भावना की।

यहाँ भावना का अर्थ है बारम्बार चिन्तवन करके उपयोग का अभ्यास करना।[३]

पंचास्तिकाय की ३९ वीं गाथा में ऐसा कहा है कि 'ज्ञानचेतना तो केवली के ही होती है' सो वह तो पूर्णता की अपेक्षा से कहा गया है। ज्ञानचेतनारूप अनुभव की शुरुआत तो चौथे गुणस्थान से हो जाती है। राग से हटकर ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होना ज्ञानचेतना है और यह चौथे गुणस्थान से प्रारंभ होती है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना होती है; परन्तु यहाँ पूर्ण नहीं होती। साथ में कर्मचेतना व कर्मफलचेतना भी होती है।

साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन होने के पश्चात् आत्मा अनन्तकालतक ज्ञानचेतनारूप रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।[४]''

१. प्रवचन रत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १०८-१०९
२. वही, पृष्ठ - १०९
३. वही, पृष्ठ - ११०
४. वही, पृष्ठ - ११२

इसप्रकार यहाँ प्रत्येक कर्म का नाम लेकर स्वरूप स्पष्ट करते हुए, उसके फल के त्याग की भावना भायी गई है।

इसके बाद कर्मफलचेतना के त्याग की भावना के उपसंहाररूप में दो कलश काव्य दिये गये हैं; जो इसप्रकार हैं –

(वसन्ततिलका)

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्य लक्ष्मभजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ॥२३१॥
यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वतः एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥२३२॥

(रोला)

सब कर्मों के फल से सन्यासी होने से।
आतम से अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो॥
चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ।
यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस अमित कालतक ॥२३१॥

(वसंततिलका)

रे पूर्वभावकृत कर्मजहरतरु के।
अज्ञानमय फल नहीं जो भोगत हैं॥
अर तृप्त हैं स्वयं में चिरकाल तक वे।
निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं ॥२३२॥

इसप्रकार मैं पूर्वोक्त समस्त प्रकार के कर्मों के फल का संन्यास (त्याग) करके चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता से भोगता हूँ और उससे भिन्न अन्य सर्व क्रियाओं के विहार से मेरी वृत्ति पूर्णतः निवृत्त है। इसप्रकार

आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल - ऐसे मुझे यह काल की आवली जो कि प्रकटरूप से अनन्त है; वह आत्मतत्त्व के उपयोग में ही बहती रहे। उपयोग की प्रवृत्ति अन्य विषयों में कभी भी न जाये।

पहले अज्ञानभाव में उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष उनका स्वामी होकर नहीं भोगते और अपने में ही तृप्त हैं; वे पुरुष वर्तमान और भविष्य में रमणीय निष्कर्म सुखमय दशा को प्राप्त होते हैं।

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधनरूप है और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है, वह मोक्ष का उपाय नहीं है।

ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है कि इस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है, अन्य तृष्णा नहीं रहती और भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मों से रहित मोक्ष-अवस्था को प्राप्त होता है।"

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"तेरा चैतन्यतत्त्व अन्दर कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न है। विकारीभावों में एकाग्र होकर चेतने का नाम कर्मचेतना है तथा उसमें हर्ष-शोक का होना कर्मफलचेतना है। दोनों ही दुःखदायक हैं। इन दोनों से भिन्न होकर भेदज्ञान करके अन्दर चिन्मात्र निजस्वरूप के आश्रय से जिसने ज्ञानचेतना प्रगट की है, वह ज्ञानी है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसका ज्ञानानन्दस्वभाव भी त्रिकाल है। ऐसे निजस्वभाव का भान करके अन्दर में एकाग्रता द्वारा आनन्दानुभूति करना

ही ज्ञानचेतना है।[1]

वह ज्ञानचेतना ही भव का अंत करनेवाली और परमानन्द को देनेवाली है, इसे ही धर्म कहते हैं।[2]

देखो, यह अन्तररमण करने की-चारित्र की बात है। सम्यग्दर्शन के बाद जिसको अंतरंग में, स्वरूप में रमण करने की स्थिरता हो गई है, वह ऐसा पूर्ण तृप्त हो जाता है कि मानो वह साक्षात् केवली ही हो गया है। अब उसे स्वरूप में से बाहर निकलना पुसाता ही नहीं है, स्वरूप से बाहर आना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। वह अनन्तकाल स्वरूप में ही रहना चाहता है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कहते हैं कि यह बात योग्य ही है; क्योंकि ऐसी भावना से ही केवली होते हैं। व्रत-तप आदि क्रियाकाण्ड के विकल्प से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। स्व-स्वरूप का अनुभव, फिर उसी का अभ्यास और फिर स्वरूपरमणता की ही जमावट-स्थिरता। बस, यही एक उपाय है केवलज्ञान प्राप्त करने का।[3]

मोक्ष का यथार्थ साधन तो स्वरूपरमणता ही है; परन्तु रागांश को उसका सहचर या निमित्त जानकर उसे भी व्यवहार से साधन कहा जाता है। वास्तविक साधन बिना व्यवहारचारित्र कुछ भी नहीं है। वह अकेला बाह्यसाधन केवल शुभकर्म को ही बांधता है।[4]

भगवान आत्मा तो अमृत का वृक्ष है और कर्मों का फल विषवृक्ष का फल है। दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। अमृतस्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेने से परिणति में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमृत के फल पकते हैं; परन्तु अज्ञानदशा में जो कर्म बांधे गये, उनके फल में विषवृक्ष के फल ही

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - ११४
२. वही, पृष्ठ - ११४
३. वही, पृष्ठ - ११७
४. वही, पृष्ठ - ११७

प्राप्त होते हैं। उन कर्मों के फलरूप में भले साता का उदय आवे या असाता का उदय आवे - वे सब विषवृक्ष के ही फल हैं।

यहाँ धर्मी पुरुष कहते हैं कि अन्तरंग में निश्चल चारित्रभाव को प्राप्त मैं उन शुभाशुभ कर्मों के फलों को नहीं भोगता हूँ। भले तीर्थंकर प्रकृति का उदय आवे, वह भी मेरे लिए तो विषवृक्ष का फल ही है।[1]

यहाँ कहते हैं कि चारित्रवान धर्मी पुरुष अपने स्वरूप से ही तृप्त है, उसकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का महासागर उछलता है। जो किंचित् राग रहता है, उसे वह मात्र जानता है अर्थात् उसका ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रह जाता है। अहा ! निज निर्मल ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभवी ज्ञानी पूर्वकर्मों के फल में जुड़ता नहीं है। स्थिरता को प्राप्त स्वरूपाचरण में रमते हुए मुनिवरों को वर्तमान में रमणीय सुख का अनुभव वर्तता है और भविष्य में उसके फल में रमणीय, निष्कर्म पूर्ण सुखमयदशा रहती है। ऐसे सुखमय चारित्र को अज्ञानीजन कष्टदायक मानते हैं। न केवल मानते हैं, यह कहते भी सुना जाता है कि चारित्र का धारण करना लोहे के चने चबाने जैसा कष्टप्रद एवं कठिन काम है। अरे भाई ! ऐसे लोगों को चारित्र के वास्तविक स्वरूप का पता नहीं है।[2]

देखो, राग में एकाग्र होना कर्मचेतना है और हर्ष-शोक में एकाग्र होना कर्मफलचेतना है। इन दोनों से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वभावी चिन्मात्रवस्तु भगवान आत्मा में एकाग्र होना ज्ञानचेतना है। उस ज्ञानचेतना का फल यह है कि उसकी भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है। उसके जीवन में अन्य कोई तृष्णा नहीं रहती।[3]''

पर में कुछ करने की वृत्ति कर्मचेतना है और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों

१.प्रवचन रत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - ११८-११९

२. वही, पृष्ठ - १२१

३. वही, पृष्ठ - १२२

मेंअनुकूलता-प्रतिकूलता का वेदन ही कर्मफलचेतना है। ये दोनों ही अज्ञानचेतना हैं तथा अपने आत्मा में अपनापन, उसे ही निज जानना और उसमें ही मग्न रहना ज्ञानचेतना है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना हेय हैं और ज्ञानचेतना उपादेय है; अत: धर्म है, मुक्ति का मार्ग है, मुक्तिस्वरूप है।

अत: यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना भाकर अज्ञानचेतना को जड़मूल से उखाड़ कर ज्ञानचेतना में मग्न रहने की चर्चा करने के उपरान्त इस सम्पूर्ण प्रकरण के उपसंहार के रूप में आत्मख्याति में एक कलश लिखा गया है। ध्यान रहे, विगत दो कलश कर्मफलचेतना के उपसंहार के थे और प्रस्तुत कलश सम्पूर्ण प्रकरण के उपसंहार का कलश है -

(स्रग्धरा)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनाया:।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयन्त: प्रशमरसमित: सर्वकालं पिबन्तु॥२३३॥

(वसंततिलका)

रे कर्म कर्मफल से सन्यास लेकर।
सद्ज्ञान चेतना को निज में नचाओ॥
प्याला पियो नित प्रशमरस का निरंतर।
सुख में रहो अभी से चिरकालतक तुम॥२३३॥

कर्म और कर्मफल से अत्यन्त विरक्तिभाव को भाकर, समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर और निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके अपनी ज्ञानचेतना को आनन्दपूर्वक नचाते हुए अब से सदा काल प्रशमरस को पियो।

इस कलश में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप अज्ञानचेतना का अभाव कर आत्मा के अनुभवरूप

ज्ञानचेतना की भावना सदा भावो - यही मार्ग है। यह ही वास्तविक धर्म है, शेष सब क्रियाकाण्ड का धर्म से कोई नाता नहीं है। धर्म के नाम पर उसमें समय और शक्ति गमाना अमूल्य नरभव की हार है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ?

कविवर बनारसीदास ने भी नाटक समयसार में उक्त प्रकरण को आधार बनाकर अनेक छन्द लिखे हैं; जो मूलत: पठनीय हैं। यद्यपि उन सभी को देना तो यहाँ संभव नहीं है; तथापि कतिपय महत्त्वपूर्ण छन्द नमूने के तौर पर यहाँ दिये जा रहे हैं; जो उक्त प्रकरण पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

(दोहा)

ग्यानवंत अपनी कथा, कहै आप सौं आप।
मैं मिथ्यात दसाविषैं, कीने बहुविधि पाप॥
मैं कीनौं मैं यौं करौं, अब यह मेरौ काम।
मन वच काया मैं बसै, ए मिथ्या परिनाम॥
मन-वच-काया करमफल, करम-दसा जड़ अंग।
दरबित पुग्गल पिंडमय, भावित भरम तरंग॥
तातैं आतम धरम सौं, करम सुभाउ अपूठ।
कौन करावै कौ करै, कोसल है सब झूठ॥
करनी हित हरनी सदा, मुकति वितरनी नांहि।
गनी बंध-पद्धति विषै, सनी महादुखमांहि॥

प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान की क्रिया में ज्ञानी जीव अपनी कहानी को स्वयं से ही कहते हैं। वे कहते हैं कि हमने भूतकाल में मिथ्यात्व अवस्था में बहुतप्रकार के पाप किये हैं।

'मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा करता हूँ और अब मैं ऐसा करूँगा अर्थात् अब मेरा यह कार्य है, कर्त्तव्य है' - इसप्रकार के मिथ्या परिणाम मेरे मन-वचन-काय में बस रहे हैं।

ये मन-वचन-काय कर्मोदय से प्राप्त हुए हैं; इसलिए ये कर्मों के फल

ही हैं और कर्म की अवस्था तो जड़रूप ही है। द्रव्यकर्म पुद्गल के पिण्ड ही हैं और भावकर्म आत्मा में उत्पन्न भ्रमरूप तरंगे हैं।

इसलिए आत्मधर्म से कर्म का स्वभाव विपरीत ही है। अत: इन कर्मों को कौन करे और कौन करावे ? अर्थात् इनका कर्त्ता-कारयिता आत्मा नहीं है। इनका कर्त्ता स्वयं को मानना झूठी चतुराई है।

अधिक क्या कहें - पर में कुछ भी करने का परिणाम अहित करनेवाला ही है, मुक्ति देनेवाला नहीं; यह तो महादु:ख से सनी हुई-भरी हुई बंधपद्धति ही मानी जाती है।

(चौपाई)

मैं त्रिकाल करनी सौं न्यारा। चिदविलास पद जग उजयारा॥
राग विरोध मोह मम नांही। मेरौ अवलंबन मुझ मांही॥

मैं तो सदा ही कर्त्तत्वबुद्धि से भिन्न हूँ, चैतन्य में विलास करनेवाला हूँ, सम्पूर्ण जगत का प्रकाशक हूँ, ज्ञायक हूँ, मोह-राग-द्वेष मेरे नहीं हैं; इसलिए मेरा आश्रय तो मुझमें ही विद्यमान है अर्थात् मेरा आश्रय तो मैं स्वयं ही हूँ।

(दोहा)

कहै विचच्छन मैं रह्यौ, सदा ग्यान रस राचि।
सुद्धातम अनुभूति सौं, खलित न होहुं कदाचि॥
पुव्वकरम विषतरु भए, उदै भोग फलफूल।
मैं इनको नहि भोगता, सहज होहु निरमूल॥
जो पूरवकृत करम-फल, रुचि सौं भुंजै नांहि।
मगन रहै आठौं पहर, सुद्धातम पद मांहि॥
सो बुध करमदसा रहित, पावै मोख तुरंत।
भुंजै परम समाधि सुख, आगम काल अनंत॥

विचक्षण पुरुष कहते हैं कि मैं तो सदा अपने ज्ञानरस में ही रच-पच रहा हूँ; क्योंकि अपने शुद्धात्मा की अनुभूति से कभी भी स्खलित नहीं होता हूँ।

पूर्वकृतकर्म विषवृक्ष हैं; पूर्वकृत कर्मों के उदय को भोगना ही उनके

फल-फूल हैं। मैं इनका भोक्ता नहीं हूँ; इसलिए ये सहज निर्मूल हो जावेंगे।

जो व्यक्ति पूर्वकृत कर्मों के फल रुचिपूर्वक नहीं भोगते हैं और आठों पहर अर्थात् दिन-रात शुद्धात्मा में मग्न रहते हैं; वे लोग अतिशीघ्र कर्मरहित मुक्तिदशा को प्राप्त करते हैं और आगामी अनंत कालतक परमसमाधिगत सुख को भोगते हैं।

(छप्पय)

जो पूरवकृतकरम, विरख-विष-फल नहिं भुंजै।
जोग जुगति कारिज करंति, ममता न प्रयुंजै॥
राग विरोध निरोधि, संग विकलप सब छंडइ।
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासि, सिव नाटक मंडइ॥
जो ग्यानवंत इहि मग चलत, पूरन ह्वै केवल लहै।
सो परम अतीन्द्रिय सुख विषैं, मगनरूप संतत रहै॥

जो पूर्वकृत कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को नहीं भोगते और मन-वचन-कायरूप योगों की क्रिया में ममता नहीं रखते; राग-द्वेष को रोककर, परिग्रह और विकल्पों को छोड़कर शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं; वे ज्ञानीजन इस मार्ग पर चलते हुए पूर्णता को प्राप्त कर केवलज्ञान की प्राप्ति करते हैं तथा सदा ही परम अतीन्द्रिय आनन्द में मगन रहते हैं।

कविवर बनारसीदासजी के उक्त छन्दों में भी यही बात कही गई है कि ज्ञानीजन प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान के माध्यम से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना भाते हुए ज्ञानचेतनारूप परिणमित होकर अनन्तसुख को प्राप्त करते हैं और फिर उसे ही अनंत कालतक भोगते हैं।

वास्तविक धर्म भी यही है, यही करने योग्य एकमात्र कार्य है; इससे अतिरिक्त धर्म के नाम पर जो कुछ हो रहा है; वह धर्म नहीं है, कर्म ही है, कर्मबंध का ही कारण है, कर्मचेतना ही है, कर्मफलचेतना ही है, अज्ञानचेतना

ही है; ज्ञानचेतना कदापि नहीं।

एकमात्र ज्ञानचेतना ही धर्म है, धर्म का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, साक्षात् मुक्ति ही है।

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। इसमें अभीतक यह बताया जा रहा था कि सर्वविशुद्धज्ञान पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

अब आगामी गाथाओं में यह बतायेंगे कि निश्चय से सर्वविशुद्धज्ञान परज्ञेयों को जानते हुए भी परज्ञेयों से सर्वथा भिन्न है।

उक्त विषय को स्पष्ट करनेवाली गाथाओं की उत्थानिका के रूप में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने एक कलश लिखा है; जो इसप्रकार है -

(वंशस्थ)

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद्विना
कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

(दोहा)

अपने में ही मगन है अचल अनाकुल ज्ञान।
यद्यपि जाने ज्ञेय को तदपि भिन्न ही जान ॥२३४॥

अब यहाँ से आगे की गाथाओं में कहते हैं कि समस्त वस्तुओं से भिन्नत्व के निश्चय के द्वारा यह ज्ञान पदार्थों के विस्तार के साथ गुथित होने से उत्पन्न होनेवाली क्रिया से रहित एक ज्ञानक्रियामात्र अनाकुल और दैदीप्यमान निश्चल रहता है।

इस कलश में मात्र यही कहा गया है कि ज्ञान ज्ञेयों के साथ गुथित होने पर भी, ज्ञेयों को जानते रहने पर भी, ज्ञेयों का नहीं हो जाता, ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, ज्ञेयों से पृथक् ही रहता है।

अब इसी बात को विस्तार से आगामी गाथाओं में कहते हैं।

समयसार गाथा ३९० से ४०४

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति ॥३९५॥
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति ॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति ॥३९९॥
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति ॥४००॥
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति ॥४०१॥

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

(हरिगीत)

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शास्त्र अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९०॥
शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शब्द अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९१॥
रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रूप अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९२॥
वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही वर्ण अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९३॥
गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही गंध अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९४॥
रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस भी कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रस अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९५॥
स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही स्पर्श अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९६॥
कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही कर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९७॥
धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही धर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९८॥
अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही अधर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥३९९॥

काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए हो काल अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४००॥
आकाश ज्ञान नहीं ह क्योंकिआकाश कुछ जान नहीं।
बस इसलिए ही आकाश अन्य रु ज्ञानअन्य श्रमण कहें ॥४०१॥
अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वे अचेतन जिन कहे।
इसलिए अध्यवसान अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ॥४०२॥
नित्य जाने जीव बस इसलिए ज्ञायकभाव है।
है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायकभाव से यह जानना ॥४०३॥
ज्ञान ही समदृष्टि संयम सूत्र पूर्वगतांग भी।
सद्धर्म और अधर्म दीक्षा ज्ञान हैं - यह बुध कहें ॥४०४॥

शास्त्र ज्ञान नहीं है; क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रूप ज्ञान नहीं है; क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

वर्ण ज्ञान नहीं है; क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

गंध ज्ञान नहीं है; क्योंकि गंध कुछ जानती नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और गंध अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रस ज्ञान नहीं है; क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रस अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

स्पर्श ज्ञान नहीं है; क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

कर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

धर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि धर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

अधर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

काल ज्ञान नहीं है; क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और काल अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

आकाश ज्ञान नहीं है; क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है - ऐसा जिनदेव कहते हैं।

चूंकि जीव निरन्तर जानता है; इसलिए यह ज्ञायक जीव ज्ञानी है, ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है, अभिन्न है - ऐसा जानना चाहिए।

बुधजन (ज्ञानीजन) ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) और दीक्षा मानते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"श्रुत (वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है; क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (भिन्नता) है। शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक-भिन्नता है। रूप ज्ञान नहीं है; क्योंकि रूप अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक-भिन्नता है। वर्ण ज्ञान नहीं है; क्योंकि वर्ण अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेक-भिन्नता है। गंध ज्ञान नहीं है; क्योंकि गंध अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और गंध के व्यतिरेक-भिन्नता है। रस ज्ञान नहीं है; क्योंकि रस अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रस के व्यतिरेक-भिन्नता

है। स्पर्श ज्ञान नहीं है; क्योंकि स्पर्श अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक-भिन्नता है। कर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और कर्म के व्यतिरेक-भिन्नता है। धर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक-भिन्नता है। अधर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक-भिन्नता है। काल ज्ञान नहीं है; क्योंकि काल अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और काल के व्यतिरेक-भिन्नता है। आकाश ज्ञान नहीं है; क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेक-भिन्नता है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अध्यवसान के व्यतिरेक-भिन्नता है।

इसप्रकार ज्ञान का अन्य सब परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि निश्चय से विचार करें तो ज्ञान परद्रव्यों से भिन्न ही है।

अब यह निश्चित करते हैं कि जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (अभेद) है।

इस बात की रंचमात्र भी आशंका नहीं करना चाहिए कि ज्ञान और जीव में किंचित् मात्र भी व्यतिरेक होगा; क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। इसप्रकार ज्ञान और जीव के अभिन्न होने से ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या है।

इसप्रकार ज्ञान का जीव की पर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक (अभेद) निश्चयसाधित देखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जीवपर्यायों का जीव के साथ अभेद निश्चय से ही है।

इसप्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को दूर

करते हुये; अनादि विभ्रम के कारण होनेवाले पुण्य-पाप एवं शुभ-अशुभरूप धर्म-अधर्मात्मक परसमय को दूर करके, स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप प्रव्रज्या को प्राप्त करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है - ऐसे त्याग-ग्रहण से रहित साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप एक शुद्धज्ञान को निश्चल देखना चाहिए अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से निश्चल अनुभव करना चाहिए।''

गाथाओं और आत्मख्याति टीका के अभिप्राय को पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में विस्तार से इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बताया है; इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षणदोष दूर हो गये। आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है; इसलिए वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है और अपनी सर्व अवस्थाओं में है; इसलिए अव्याप्तिवाला नहीं है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है; क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है।

यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमें से कितने ही तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मों के कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहिचान सकता है ? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं; परन्तु उनमें से कितने ही तो – अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो – अन्य द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं; इसलिए उनके कहने से पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता और कितने ही (धर्म) परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं; उन्हें कहने से परमार्थभूत आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसे जाना जा सकता है ? इसलिए ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है - इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षा में गुण-गुणी का अभेद होने से, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षा में चाहे ज्ञान कहें या आत्मा - कोई विरोध नहीं है; इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए।

टीका के अन्त में यह कहा गया है कि जो, अपने म अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके, जो सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त हुआ है और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात्, समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहे हुये, शुद्ध, पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए।

यहाँ 'देखना' तीन प्रकार से समझना चाहिए -

१. शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकार का देखना है। वह अविरत आदि अवस्था में भी होता है।

२. ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके उसका (पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में स्थिर करना। जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना-श्रद्धान किया था, वैसा ही ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना और पुनः-पुनः उसी का अभ्यास करना सो दूसरे प्रकार का देखना है।

इसप्रकार देखना अप्रमत्तदशा में होता है। जहाँ तक उसप्रकार के अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखने का दूसरा प्रकार हुआ।

यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है।

३. जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब साक्षात् देखना है।

सो यह तीसरे प्रकार का देखना है। उस स्थिति में ज्ञान सर्वविभावों से

रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।''

इन सबका भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ कहते हैं कि - द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है, भगवान की वाणी ज्ञान नहीं है, आत्मा नहीं है; क्योंकि वह अचेतन है।

प्रश्न – धवला में तो ऐसा कहा है कि 'भगवान की वाणी में भावश्रुत से उपदेश किया है, उसका क्या अर्थ है ?'

उत्तर – हाँ, वाणी तो जड़ है,किन्तु वाणी के सुननेवाले वाणी को सुनकर अन्तर्मुख होकर भावश्रुतरूप से परिणमते हैं न ? बस, इसीकारण भगवान की वाणी में भावश्रुत से उपदेश दिया गया है - ऐसा कहा जाता है। वाणी भावश्रुत नहीं है। वाणी में केवलज्ञान भी नहीं है। वाणी तो द्रव्यश्रुत है, अचेतन है।[१]

धवला में ऐसा पाठ है कि भगवान भावश्रुत से प्ररूपणा करते हैं, केवलज्ञान से नहीं। इसका तो यह तात्पर्य है कि श्रोता स्वयं अपने अन्दर स्वरूप में लक्ष्य करते हैं; तब उन्हें भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है। उसमें भगवान की दिव्यध्वनि निमित्त है। बस, इसकारण उस दिव्यध्वनि को भावश्रुत से प्ररूपणा की - ऐसा कहा गया है। भगवान को तो केवलज्ञान है; किन्तु वाणी में भावश्रुत का भाव श्रोताओं को प्राप्त होता है। इसकारण भाव से प्ररूपणा की - ऐसा कहने में आया है।

वहाँ जो भी दिव्यध्वनि में निरक्षरी ध्वनि निकलती है; वह तो जड़ है। वह भावश्रुतरूप नहीं है। उस ॐ ध्वनि से जो ज्ञान होता है; वह भी जड़ है, अचेतन है। उसीसमय जो ज्ञान अपने चैतन्यज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा के लक्ष्य से प्रगट होता है, वह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। वह आत्मज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, भावश्रुतज्ञान है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - १३८
२. वही, पृष्ठ - १३९

देखो, अब कहते हैं कि जीव ही ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान चेतन है और जीव भी चेतन है। यहाँ ज्ञान और जीव की एकता में अभिन्नता बताई गई है। ज्ञान और जीव - इसप्रकार दो शब्दों की भिन्न-भिन्न ध्वनि उठती है, इसकारण ऐसा भ्रम होता है कि ज्ञान व जीव दोनों जुदे-जुदे होंगे - लोग ऐसा समझते हैं; किन्तु ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। भगवान आत्मा भाववान और ज्ञान भाव - ऐसे भाव एवं भाववान को भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही समझना चाहिए; क्योंकि दोनों वस्तुपने एक ही हैं। नाम जुदे-जुदे दो हैं, पर वस्तु दो नहीं हैं। जीव और ज्ञान – ऐसे दो नाम होने पर भी वस्तु तादात्म्यरूप से एक ही है।[१]

अब कहते हैं कि ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। यहाँ प्रश्न है कि जो सम्यग्दृष्टि है वह आत्मा है कि नहीं ? उत्तर में कहा है कि हाँ, आत्मा ही सम्यग्दृष्टि है; क्योंकि आत्मा से जुदा कोई सम्यग्दर्शन तो है नहीं। अहा ! आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु है। वह ज्ञान में ज्ञेय होने पर उसकी जो प्रतीति हुई कि 'यह मैं हूँ' बस, यही तो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूप है। सम्यग्दर्शन कोई जुदी वस्तु और आत्मा जुदा है - ऐसा नहीं है; इसलिए कहते हैं कि ज्ञान ही सम्यदृष्टि है। यहाँ ज्ञान शब्द से अभेदरूप आत्मा ही कहा है। इसतरह यह स्पष्ट है कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि है; क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई और सम्यग्दर्शन नहीं है, सम्यग्दृष्टि नहीं है।

अब कहते हैं कि ज्ञान ही संयम है। ज्ञान अर्थात् आत्मा ही संयम है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों को त्यागना और मन को जीतना – ये तो नास्ति से संयम की बात है। अस्ति से तो ज्ञान अर्थात् आत्मा में ही रमने का नाम संयम है और वह संयम आत्मा ही है। संयम की वीतरागी पर्यायरूप से आत्मा ही परिणमता है न ? इसलिए आत्मा ही संयम है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - १४१-१४२

२. वही, पृष्ठ - १४२

देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन, संयम आदि पर्यायों को आत्मा कहा है, जबकि गाथा ११ में इन्हें व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। नियमसार की ३८ वीं गाथा में पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा, मोक्ष सहित जितनी पर्यायें हैं, उन सबको परद्रव्य कहकर हेय कहा है।

प्रश्न – इन दोनों कथनों में कौनसा कथन सत्य है ?

उत्तर – अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों ही कथन सत्य हैं। भाई ! अनेकान्त से सब सिद्ध होता है।[1]

आत्मा का स्वयं अपने में स्थिर हो जाना, जम जाना ही संयम है, ज्ञान ही संयम है। यह देह की क्रिया और दया, दान, व्रत, तप आदि क्रियाकाण्ड के विकल्प संयम नहीं हैं।[2]

बारह अंग का ज्ञान मात्र शब्दों तक सीमित नहीं है, स्व के आश्रय से जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वह भावश्रुतज्ञान अंगपूर्वरूप सूत्र है।

अब कहते हैं कि ज्ञान ही धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-पाप है। देखो, पुण्य-पाप आत्मा की पर्याय में होते हैं, मात्र इस अपेक्षा से इन्हें यहाँ आत्मा कहा है, किन्तु विभ्रम इनकी उत्पत्ति का मूल है। भले ये जीव की पर्याय में उत्पन्न हुए हैं; किन्तु ये परसत्तावलम्बी भाव होने से बन्धरूप ही हैं, बंध के ही कारण हैं।

प्रश्न – जब ये परावलम्बी हैं और बंध के कारण हैं, फिर भी इन्हें आत्मा कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – भाई ! यहाँ स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वकीय हैं, पर से भिन्न हैं; परन्तु परद्रव्यरूप नहीं हैं - ऐसा सिद्ध करना है, इसकारण इस जीव की पर्याय में जो शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें यहाँ आत्मा कहा है। आत्मा की पर्याय भी आत्मा – इस शैली से यहाँ बात की है। इसीकारण सम्यग्दर्शन,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - १४३-१४४
२. वही, पृष्ठ - १४४

संयम, अंगपूर्वसूत्र की निर्मल पर्याय और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) की विभावरूप मलिन पर्यायों को यहाँ आत्मा कहा है।[१]

जीव अनादि से शुभाशुभभाव करता आया है, ये शुभाशुभभाव अनादि-सान्त हैं। इतने लम्बे समय से अशुद्धता रही, यदि इसे मानें ही नहीं तो गुण ही सिद्ध नहीं होगा और द्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा। गुणों का अशुद्ध परिणमन होना भी उनकी अपनी तत्समय की योग्यता है। यदि इन सब के अशुद्ध परिणमन को न माना जाय तो त्रिकाली गुण ही सिद्ध नहीं होंगे; तो फिर उन गुणों के समूह द्रव्य की सिद्धि कैसे होगी ?[२]

प्रवचनसार के नय अधिकार में ऐसा कथन है कि शुद्ध व अशुद्ध परिणामों का अधिष्ठाता आत्मा है तथा यहाँ भी यही कहा है कि ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है। यहाँ तो वर्तमान वर्तती पर्याय को आत्मा का कहना है न ? भाई ! कहाँ किस अपेक्षा से कहा जा रहा है - यह समझना बहुत जरूरी है।[३]

यहाँ यह सिद्ध करना है कि ज्ञान अर्थात् आत्मा ही पुण्य-पाप है; क्योंकि त्रिकालीद्रव्य (अंशी) के अंश (पर्याय) में ये भाव उत्पन्न होते हैं।

त्रिकाली द्रव्य आत्मवस्तु सामान्यस्वरूप है और निर्मल व मलिन पर्यायें इसका विशेष स्वरूप हैं। सामान्य व विशेष मिलकर ही सम्पूर्ण वस्तु होती है। यदि इस वस्तु का एक पर्याय अंश निकाल दें तो वस्तु ही अधूरी रह जायेगी। अखण्ड वस्तु की सिद्धि ही संभव नहीं होगी। जबकि यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि द्रव्य-पर्याय दोनों ही जीव का स्वरूप है; इसलिए कहा है कि आत्मा ही संयम है, आत्मा ही पुण्य-पाप है।

अब कहते हैं कि ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा) है। मात्र नग्नदशा धारणकर

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १४४-१४५

२. वही, पृष्ठ - १४६

३. वही, पृष्ठ - १४७-१४८

स्थूलरूप से महाव्रतादि का पालन करना दीक्षा नहीं है। विषय-कषाय में अटके रहना तो विशुद्ध पाप है ही; किन्तु मात्र दया-दान और व्रतादि के शुभभाव भी राग ही हैं। ये दया-दानादि के परिणाम तो परसमय हैं, इनका लक्ष्य छोड़कर अपने स्वसमय में आओ - ऐसा यहाँ कहा है; क्योंकि आत्मा ही प्रव्रज्या है। आत्मा को छोड़कर कोई प्रव्रज्या का, चारित्र का स्वरूप ही नहीं है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा स्वयं ही चारित्र है। चैतन्यघन प्रभु आत्मा स्वयं ही प्रव्रज्या है। स्व-स्वरूप में अन्तर्लीन हुई दशा चारित्र है और वह स्वयं आत्मा ही है। उसमें राग का आलम्बन नहीं है।

इसप्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना। यहाँ 'ज्ञान' शब्द को आत्मा के अर्थ में ग्रहण करना। मलिन व निर्मल पर्यायों के साथ आत्मा की भिन्नता नहीं, अभिन्नता है - ऐसा निश्चय से सिद्ध हुआ जानना। पर्याय में जो शुद्धता-अशुद्धता है, वह आत्मा ही है - ऐसा जानना।

अब यहाँ कहते हैं कि सर्व परद्रव्यों के साथ आत्मा की भिन्नता है। ये शरीर-मन-वाणी, इन्द्रियाँ, आठकर्म और देव-शास्त्र-गुरु आदि परपदार्थों से ज्ञान की (आत्मा की) भिन्नता है, पृथकता है तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जीवस्वभाव के साथ अव्यतिरेक (अभिन्नता) है, एकरूप हैं। इसप्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों को दूर करके शुद्ध एक परमार्थरूप ज्ञान का प्रत्यक्ष स्व-संवेदन से अनुभव करना।[1]

यदि द्रव्यदृष्टि के विषय की अपेक्षा बात हो तो पुण्य-पाप के परिणाम पुद्गल के परिणाम हैं - ऐसा कहा जाता है; किन्तु इस कथन से कोई एकान्त से ऐसा मान ले कि वे जीव की पर्याय में हुए ही नहीं हैं; तो यह मानना सही नहीं है।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा पुण्य-पाप के भाव भी जड़ हैं, अजीव हैं – ऐसा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ -१४६-१५०

कहकर पुद्गल इनका स्वामी है – ऐसा कहा है और पर्याय की अपेक्षा ये जीव की पर्याय में व्याप्त हैं, इसलिए जीव ही हैं - ऐसा कहा है। ऐसा अनेकान्तमय वस्तु का स्वरूप है।[1]

आत्मा का लक्षण उपयोग है। इस लक्षण से लक्ष्य (आत्मा) जाना जा सकता है। देखो, भगवान आत्मा व्यवहाररत्नत्रय के राग से नहीं जाना जा सकता। वह तो ज्ञानलक्षण से ही जाना जा सकता है। यहाँ उपयोग में ज्ञान की मुख्यता से बात की है, दर्शन की अपेक्षा यहाँ बात नहीं की। ज्ञान अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है तथा सम्पूर्ण आत्माओं में है; अत: यह ज्ञानलक्षण ही जीव का निर्दोष लक्षण है।

यहाँ ज्ञानप्रधान आत्मा का अधिकार है; क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि ज्ञान ही प्रधान है; क्योंकि –

१. बहुत से धर्म तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मों के कहने से, उनका उल्लेख करने से आत्मा को कैसे पहचाना जा सकता है ?

२. जो बहुत कुछ धर्म अनुभवगोचर हैं, वे सर्व द्रव्यों में सामान्य हैं। जैसे कि – अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। ये अन्य द्रव्यों में भी समानरूप से पाये जाते हैं; अत: इनसे भी आत्मा की पहचान नहीं हो सकती।

३. कुछ धर्म, जो परद्रव्यों के निमित्त से हुए नैमित्तिक भाव हैं। जैसे - पुण्य-पाप आदि विभाव। वस्तुत: ये औपाधिक भाव हैं। इनसे भी शुद्धात्मस्वरूप की पहचान नहीं हो सकती।

इसलिए यह निश्चय हुआ कि ज्ञान कहने से ही ज्ञानी आत्मा की पहचान हो सकती है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण होने से निर्दोष, निर्बाध लक्षण है; इसलिए आत्मा के अधिकार में ज्ञान प्रधान है।[2]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - १०, पृष्ठ - १५१-१५२

२. वही, पृष्ठ -१५४-१५५

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण पर दृष्टिपात करने पर एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से उभर कर सामने आती है कि इन गाथाओं में उन सभी परपदार्थों को ज्ञानस्वभावी आत्मा से भिन्न बताया गया है; जो हैं तो ज्ञेय; पर जिन्हें भ्रम से ज्ञान समझ लिया जाता है।

पिछली गाथाओं में शुभाशुभक्रियाओं और शुभाशुभभावों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध किया गया है और यहाँ इन गाथाओं में ज्ञेयपदार्थों से एकत्व-ममत्व का निषेध किया जा रहा है।

शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश और अध्यवसान (मिथ्यात्व) - इन सभी में ज्ञानत्व (आत्मापन) का निषेध किया गया है।

ये सभी आत्मा के ज्ञेय हैं। इनसे आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के अलावा कोई संबंध नहीं है; फिर भी अज्ञानीजन इनमें अपनापन स्थापित कर लेते हैं; किन्तु ज्ञानीजन यह भली-भांति जानते हैं कि इनसे आत्मा का कोई भी संबंध नहीं है।

ये जो परपदार्थ जानने में आते हैं; सो इनको जानना भी आत्मा के सहजस्वभाव का ही सहज परिणमन है।

इन गाथाओं में से किसी भी रूप में यह ध्वनि नहीं निकलती है कि आत्मा इन्हें जानता ही नहीं है या इन्हें जानना आत्मा का स्वभाव नहीं; विभाव है, अपराध है।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि अन्तिम गाथा में सम्यग्दर्शन, अंगपूर्वगत सूत्र, संयम, धर्म-अधर्म और प्रव्रज्या को आत्मा से अनन्य अर्थात् आत्मा ही कहा गया है। गजब की बात तो यह है कि परद्रव्यों से भिन्नता और निज की पर्यायों से अभिन्नता - इन दोनों को ही निश्चयसाधित कहकर निश्चयनय का कथन बताया गया है। इन्हीं के आधार पर अर्थात् सर्व परद्रव्यों से व्यतिरेक और सर्वदर्शनादि जीवस्वभावों से अव्यतिरेक के

द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से रहितपना सिद्ध करके निश्चल अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी ने भी विस्तार से प्रकाश डाला है; जिसका कुछ महत्त्वपूर्ण अंश ऊपर उद्धृत किया ही गया है; जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, वे प्रवचनरत्नाकर भाग १० के उक्त प्रकरण का गहराई से अध्ययन करें।

मूल बात यह है कि इस सम्पूर्ण प्रकरण में परज्ञेयों से भिन्नता की बात ही मुख्य है; उन्हें आत्मा जानता ही नहीं है - यह बात बिल्कुल ही नहीं है।

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अथ आत्मख्याति के समान ही करते हैं; यहाँ तक कि वे यहाँ आत्मख्याति के कलशों को भी उद्धृत करते हैं; तथापि अन्त में प्रश्नोत्तर के माध्यम से जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं; वह इसप्रकार है –

"यदि कोई यहाँ यह प्रश्न करे कि संयम, प्रव्रज्या आदि तो तपश्चरणरूप हैं, इन्हें किस नय से ज्ञान माना जाता है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक अपने-अपने गुणस्थान के योग्य शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के साथ अविनाभाव रखनेवाले अशुद्ध-उपादानरूप विवक्षित अशुद्ध-निश्चयनय से तपश्चरणादि को ज्ञान माना जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध-उपादानरूप शुद्धपारिणामिकपरम-भावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीवादि व्यावहारिक नवपदार्थों से भिन्न; आदि, मध्य और अन्त से रहित, एक, अखण्ड प्रतिभासमय, सर्वप्रकार से उपादेयभूत, सहजशुद्ध, निज निरंजन परम समयसार नामक शुद्धज्ञान-स्वभाववाला शुद्धात्मतत्व ही श्रद्धा करने योग्य है, अपनापन स्थापित करने योग्य है, जानने योग्य है; इसलिए उसका ही ध्यान करना चाहिए"

आचार्य जयसेन ने यहाँ आकर इन गाथाओं की टीका समाप्त करके लिख दिया कि इसप्रकार जीव,अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर,

निर्जरा और मोक्ष - इन व्यावहारिक नौ तत्वों में भूतार्थनय से एक शुद्ध जीव ही स्थित है- इस कथन की मुख्यता से ग्यारहवें स्थल की पंद्रह गाथायें पूर्ण हुईं।

इसके उपरान्त वे **किंच** लिखकर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रमेय उपस्थित करते हैं; जो ३२० वीं गाथा के उपरान्त दिये जानेवाले प्रमेय के समान ही महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। वह कथन मूलत: इसप्रकार है –

''मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान - ये पाँच ज्ञान पर्यायरूप हैं और शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप है। जीवपदार्थ न अकेले द्रव्यरूप है और न अकेली पर्यायरूप; किन्तु परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायरूप धर्मों का धर्मी है।

अब यहाँ इस बात का विचार करते हैं कि मोक्ष किस ज्ञान से होता है?

केवलज्ञान तो फलरूप है और वह तो भविष्य में होगा तथा अभी हमारे पास है ही नहीं। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान - ये दोनों मूर्त्त विषयों को ही जानने के कारण अमूर्त्त आत्मा को जानने में असमर्थ हैं; क्योंकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में – **रूपिष्ववधे:, तदनंतभागे मन:पर्ययस्य** – अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ ही है और मन:पर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का ही अनंतवाँभाग सूक्ष्म पुद्गल ही है – ऐसा लिखा है। अत: इन अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

अत: सहज सामर्थ्य से ही यह बात सिद्ध होती है कि बाह्य विषयों के विकल्प से रहित स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षणवाले निश्चय निर्विकल्पभावरूप मानस तथा पंचेन्द्रियों के विषयों से पार अतीन्द्रिय शुद्धपारिणामिकभाव-विषयकभावनारूप निर्विकारस्वसंवेदन शब्द से वाच्य विशिष्ट भेदज्ञानरूप तथा क्षायोपशमिकभावरूप मति-श्रुतज्ञान ही मुक्ति के कारण हैं; क्योंकि संसारियों के क्षायिकज्ञान तो है ही नहीं।

प्रश्न – संसारी जीवों का निश्चयस्वसंवेदनरूप मति-श्रुत नामक

क्षायोपशमिकज्ञान मुक्ति का कारण कैसे है ?

उत्तर – समस्त मिथ्यात्वरागादिरूप विकल्पों की उत्पत्ति से रहित, स्वशुद्धात्मभावना से उत्पन्न, परम आल्हादलक्षणवाले सुखरूपी अमृतरस के स्वाद में एकाकार, परमसमरसीभाव के कार्यभूत अनंत ज्ञान-सुखादिकरूप मोक्ष के फल का विवक्षितएकदेशशुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादानकारणरूप होने से वे क्षायोपशमिक मति-श्रुतज्ञान मुक्ति के कारण हैं।

इस बात की पुष्टि आत्मख्याति में समागत निम्नांकित कलश से भी होती है –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

जितने भी जीव आजतक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी संसार में बंधे हैं, वे सब भेदज्ञान के अभाव से ही बंधे हुए हैं।''

आचार्य जयसेन के उक्त कथन में यह बात तो अत्यन्त स्पष्ट ही है कि मुक्ति की प्राप्ति एकमात्र ज्ञान से ही होती है; पर वह ज्ञान आत्मानुभूतिरूप होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उसमें श्रद्धा का बल और आत्मरमणतारूप चारित्र भी शामिल होना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही संभव है कि यदि ज्ञान ही मुक्ति का कारण है तो ज्ञान तो पाँच प्रकार का है; उनमें से कौन सा ज्ञान मुक्ति का कारण है ?

आचार्यदेव समझाते हुए कहते हैं कि केवलज्ञान तो एकप्रकार से मोक्षरूप ही है और वह हमारे पास है भी कहाँ ? अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का विषय पुद्गल है; अत: उनके माध्यम से आत्मज्ञान संभव ही नहीं है।

अब रहे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। सो इनके द्वारा छहों द्रव्यों को उनकी कतिपय पर्यायों के साथ जाना जा सकता है; किन्तु पर को जानना मुक्ति के मार्ग में कुछ भी कार्यकारी नहीं है; इसलिए आत्मसम्मुख हुए मति-श्रुतज्ञान

ही मुक्ति के कारण हैं; परन्तु वे आत्मश्रद्धान और आत्मध्यान से संयुक्त होने चाहिए।

इसलिए हमारा परम कर्तव्य है कि हम मति-श्रुतज्ञानरूप उपलब्ध क्षयोपशम ज्ञान को बुद्धिपूर्वक आत्मा में लगावें, आत्मसम्मुख करें – यही मार्ग है।

अब इसी भाव के पोषक कलशरूप काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥

(हरिगीत)

है अन्य द्रव्यों से पृथक् विरहित ग्रहण अर त्याग से।
यह ज्ञाननिधि निज में नियत वस्तुत्व को धारण किये॥
है आदि-अन्त विभाग विरहित स्फुरित आनन्दघन।
हो सहज महिमा प्रभाभास्वर शुद्ध अनुपम ज्ञानघन॥२३५॥
जिनने समेटा स्वयं ही सब शक्तियों का स्वयं में।
सब ओर से धारण किया हो स्वयं को ही स्वयं में॥
मानो उन्हीं ने त्यागने के योग्य जो वह तज दिया।
अर जो ग्रहण के योग्य वह सब भी उन्हीं ने पा लिया॥२३६॥

अन्य द्रव्यों से भिन्न, अपने में ही नियत, पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ, ग्रहण-त्याग से रहित यह अमल ज्ञान (आत्मा) इसप्रकार अनुभव में आता है कि जिसकी आदि, मध्य और अन्त रूप विभागों से

रहित सहज फैली हुई प्रभा के द्वारा दैदीप्यमान शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य उदित रहे।

सर्व शक्तियों को स्वयं में समेट लिया है जिसने ऐसे इस आत्मा के द्वारा पूर्ण आत्मा का आत्मा में धारण करना ही छोड़ने योग्य सभी को छोड़ना और ग्रहण करने योग्य सभी को ग्रहण करना है।

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं –

"ज्ञान का पूर्णरूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है, तब सर्व विशेषणों से सहित प्रगट होता है; इसलिए उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है।

पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियों का समूहरूप जो आत्मा है, उसे आत्मा में धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागने योग्य था, उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है।"

इन कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जैसो निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसो निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूं कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि,
राग रस राचिकैं न परवस्तु गहैगौ।
अमलान ग्यान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगम अनंत काल रहैगौ॥
जबही तैं चेतन विभाव सौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाउ गहि लीनौ है।

तबहीं तैं जो जो लेने जोग सो सो सब लीनौ,
जो जो त्याग जोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है ॥
लैबे कौं न रही ठौर त्यागिवे कौं नांहि और,
बाकी कहा उबर्‌यो जु कारजु नवीनौ है।
संग त्यागि अंग त्यागि वचनतरंग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा सुद्ध कीनौ है ॥

निश्चयनय से द्रव्यस्वभाव में जिसप्रकार का अभेद अनादिकाल से है; उसप्रकार का अभेद अब पर्याय में भी प्रगट हो गया है; इसकारण अब भेद की चर्चा कौन करेगा ? जो ज्ञान कर्मरहित और सुख-शान्तिमय दिखाई देता है तथा जिसने निजस्थान प्राप्त कर लिया है; ऐसी स्थिति में अब वह ज्ञान बहिर्वृत्ति में क्यों बहेगा ?

अब तो वह अपने स्वभाव का त्याग करके राग के रस में रच-पच के परवस्तु को कभी भी ग्रहण नहीं करेगा। जो अमल ज्ञान अब वर्तमान में प्रगट हो गया है; वह अनंतकाल तक इसी रूप में रहेगा।

जब इस आत्मा ने विभावभाव छोड़कर अपने स्वभाव को ग्रहण कर लिया; तब ही उसने ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण कर लिया और त्यागने योग्य सब त्याग दिया। इसप्रकार अब न तो ग्रहण करने योग्य कुछ शेष रहा है और न त्यागने योग्य कुछ बाकी बचा है तथा नया कुछ करने को रहा ही नहीं है; क्योंकि उसने तो परिग्रह, शरीर, वाणी की तरंग, मन और बुद्धि – सभी का त्याग करके अपने आत्मा को शुद्ध कर लिया है।

उक्त कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"देखो, पहले पर से भिन्न कहा और अब कहते हैं कि वह आत्मा राग से रहित है। भाई ! यहाँ पर से और राग से विमुख होकर, स्वभाव सन्मुख होने और भेदज्ञान प्रगट करने की बात है। अनादि से परवस्तु के साथ जो एकपना माना है, वह भ्रमणा है, झूठी कल्पना है। उससे भेदज्ञान करके स्वयं अन्दर जैसा और जितना है, उसे वैसा और उतना ही स्वीकार

करना, जानना, मानना, भेदज्ञान है, यही कर्तव्य है, यही धर्म है।[१]

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। तीनलोक तीनकाल को एक समय में जाने – ऐसी उसकी सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य जब प्रगट होती है, तब सर्व विशेषणों सहित प्रगट होती है। केवलज्ञान प्रगट होने के साथ ही पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्य, पूर्ण शक्ति, पूर्ण प्रभुता, पूर्ण स्वच्छता इत्यादि शक्तियों की पूर्ण व्यक्तदशा प्रगट हो जाती है। इसका नाम केवलज्ञान व पूर्णदशा है; इसलिए कहते हैं कि उसकी महिमा को कहीं आँच नहीं आती।[२]

पहले ज्ञानादि शक्तियाँ राग में रुककर-अटककर खण्ड-खण्डरूप से खण्डित हो रही थीं। अब उन्हें वहाँ से समेटकर चैतन्यस्वरूप में लीन किया, वहाँ ग्रहण करने योग्य सबका ग्रहण हुआ और त्यागने योग्य सब विकल्पों का सहज त्याग हो गया। वहाँ पुण्य के भाव भी भूमिकानुसार सहज ही छूट जाते हैं।[३]

यहाँ कहते हैं कि जिसने अपने त्रिकाली ध्रुव चैतन्यराज को जानकर उसका अनुभव किया और उसी में लीन हुआ, उसने ग्रहण करने योग्य सर्व ग्रहण कर लिया और छोड़ने योग्य सब छोड़ दिया। अहो ! धन्य वह मुनिदशा ! जो प्रचुर स्वसंवेदन में लीन हुए; वे महामुनिराज तो बादशाहों के बादशाह हैं। अपनी चैतन्यलक्ष्मी से सर्व शोभायमान हैं। जो बाहर की सम्पत्ति में लीन हैं; वे तो बेचारे रंक हैं, भिखारी हैं।

पूर्ण ज्ञानघन प्रभु आत्मा अनन्त शक्तियों का ध्रुवधाम है। उसको अन्तर में धारण कर उसी में रम जाओ ! वही रमने-ठहरने और ग्रहण करने योग्य है।

स्वरूप के आश्रय से जिसने स्वरूप का श्रद्धान-ज्ञान और रमणता-

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - १६२

२. वही, पृष्ठ - १६२

३.वही, पृष्ठ - १६४

लीनता-स्थिरता परिपूर्ण कर ली; उसको अब कुछ भी करना बाकी नहीं रहा। वह कृतकृत्य हो गया है। द्रव्य-गुण-पर्याय तो परिपूर्ण हैं ही, उसकी पर्याय में जहाँ पूर्णता व्यक्त हुई, वहाँ कृतकृत्यपना हो गया। उसको अब कुछ भी ग्रहण-त्याग करना शेष नहीं रहा।[१]''

इसप्रकार इन कलशों में इस सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार है। पहले प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान के माध्यम से पर में कर्तृत्व की भावनारूप कर्मचेतना का निषेध किया; फिर कर्मों की १४८ प्रकृतियों के फल के उपभोग की भावनारूप कर्मफलचेतना का निषेध किया। इसप्रकार अज्ञानचेतना के निषेधपूर्वक ज्ञानचेतना की स्थापना करते हुए स्वपरप्रकाशक ज्ञान की स्थापना कर पर में होनेवाले एकत्व-ममत्व का भी निषेध कर दिया।

ज्ञान के सर्वज्ञस्वभाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान सबको जानता है, पर सब रूप नहीं होता – यह ज्ञान का सहज स्वभाव है। अपने इस सहज स्वभाव में एकत्व धारण करनेवाला ज्ञान जब निज में लीन हो जाता है तो सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। सर्वज्ञता प्रगट होने पर ज्ञान के साथ अनन्त गुण पूर्णत: प्रगट हो जाते हैं और फिर अनन्तकाल तक पूर्ण ही रहते हैं।

जब आत्मा स्वयं में अपनापन स्थापित करके स्वयं में लीन होता है, तब मानो छूटने योग्य सब छूट गया है और पाने योग्य सब पा लिया है। अब कुछ करने को शेष नहीं रहता। अत: अब विकल्पात्मक प्रतिक्रमणादिक करने की भी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि इस शुद्धोपयोग की दशा में सभी धर्म समाहित हो जाते हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार यह है कि त्रिकाल संबंधी दुष्कृतों के विकल्पात्मक व्यवहार प्रतिक्रमणादि की उपयोगिता तभीतक है; जबतक कि यह आत्मा स्वयं में समा नहीं जाता, शुद्धोपयोगरूप पूर्णत: परिणमित

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - १६४-१६५

नहीं हो जाता है। जब यह आत्मा पूर्णत: शुद्धोपयोगरूप परिणामित हो जाता है; तब तो अन्तर्मुहूर्त में ही वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाता है, अनन्तसुखी हो जाता है। यह शुद्धोपयोगरूप परिणमित होना ही निश्चयप्रतिक्रमणादि हैं। सभी धर्म इसी में समाहित हैं। यही एक मात्र करने योग्य कार्य है। इसके अतिरिक्त जिन भावों को धर्म कहा जाता है, वे इसके सहचारी होने से धर्म कहे जाते हैं।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेव ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥२३७॥

(सोरठा)

ज्ञानस्वभावी जीव परद्रव्यों से भिन्न ही।
कैसे कहें सदेह जब आहारक ही नहीं ॥२३७॥

इसप्रकार यह ज्ञान परद्रव्यों से पूर्णत: पृथक् स्थापित हुआ। ऐसी स्थिति में वह ज्ञान (आत्मा) आहार करनेवाला कैसे हो सकता है कि जिससे इसे देहवान होने की शंका की जा सके।

तात्पर्य यह है कि जब यह ज्ञानस्वभावी आत्मा आहारक ही नहीं है तो देहवाला कैसे हो सकता है ? आत्मा को देहवाला कहना एकदम असद्भूत है, असत्यार्थ है, असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। ●

अनुभव और अनुभूति

अनुभूति के काल में जो आत्मानुभव प्रकट होता है, मात्र उसी का नाम अनुभव नहीं है। अनुभूति के काल में भगवान आत्मा के दर्शन के साथ उसमें जो एकत्व स्थापित हुआ; वह एकत्व जबतक कायम रहेगा, तबतक अनुभव भी कायम रहेगा। आत्मानुभूति उस समय नहीं रहेगी; लेकिन अनुभव रहेगा।

दृष्टि का विषय, पृष्ठ - 7

समयसार गाथा ४०५-४०७

जो बात उक्त कलश में कही गई है; अब उसी को गाथाओं द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

अत्ता जस्सामुत्तो णहु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु ॥४०५॥
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥
तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

(हरिगीत)

आहार पुद्गलमयी है बस इसलिए है मूर्तिक।
ना आहारक इसलिए ही यह अमूर्तिक आतमा ॥४०५॥
परद्रव्य का ना ग्रहण हो ना त्याग हो इस जीव के।
क्योंकि प्रायोगिक तथा वैस्रसिक स्वयं गुण जीव के ॥४०६॥
इसलिए यह शुद्धात्मा पर जीव और अजीव से।
कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता ॥४०७॥

इसप्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है, वह वस्तुत: आहारक नहीं है; क्योंकि आहार पुद्गलमय होने से मूर्तिक है।

परद्रव्य को न तो छोड़ा जा सकता है और न ही ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि आत्मा के कोई ऐसे ही प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण हैं।

इसलिए विशुद्धात्मा जीव और अजीव परद्रव्यों में कुछ भी ग्रहण नहीं करते और न छोड़ते ही हैं।

ध्यान रहे, यहाँ प्रायोगिक से आशय परनिमित्त से उत्पन्न होता है और वैस्रसिक का आशय स्वाभाविकरूप से ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है

कि न तो आत्मा के स्वभाव में ही ऐसी बात है कि वह परद्रव्यों को ग्रहण करे और छोड़े और न किसी निमित्त के कारण वह ऐसा करे – ऐसी ही कोई विवशता है। अत: आत्मा परद्रव्यों को ग्रहण करे या छोड़े – ऐसी कोई बात ही नहीं बनती।

उक्त गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में किया गया है, एकप्रकार से गाथाओं के सामान्य अर्थ को ही मात्र दुहरा दिया गया है; जो इसप्रकार है –

"ज्ञान परद्रव्य को किंचित् मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता ही है; क्योंकि प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग अशक्य है। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य का कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्य आहार नहीं है; क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; इसलिए ज्ञान आहारक नहीं है। इसीलिए ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए कि ज्ञान (आत्मा) के देह होगी।"

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति के समान ही करते हैं; तथापि वे प्रायोगिक और वैस्रसिक का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि **प्रायोगिक: कर्मसंयोगजनित: वैस्रसिक: स्वभावत:** – जो कर्म के संयोग से उत्पन्न हो, उसे प्रायोगिक कहते हैं और जो स्वभाव से हो, उसे वैस्रसिक कहते हैं।

इसीप्रकार वे 'आत्मा आहार ग्रहण नहीं करता' इस बात को व्यवहारनय और निश्चयनय से स्पष्ट करते हुए आहार के सभी प्रकारों का उल्लेख करते हैं। इस बात को प्रश्नोत्तर के रूप में वे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"**प्रश्न** – हे भगवन्! कर्मजनित प्रायोगिक गुण से आहार ग्रहण करते हुए वे अनाहारक कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर – हे शिष्य ! तुमने ठीक ही कहा है; किन्तु निश्चयनय से आत्मा उक्त आहार से तन्मय नहीं होता। आहार ग्रहण करनेवाला कथन

तो व्यवहारनय का है; किन्तु यहाँ तो निश्चयनय का कथन चल रहा है। निश्चयनय से तो आत्मा अनाहारक ही है; इसलिए विशेषरूप से जो रागादि रहित चैतन्य आत्मा है; वह कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार, मानसाहार रूप से जीव-अजीव द्रव्यों के बीच से सचित्त-अचित्त आहार – किसी को भी कुछ ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता ही है। इसकारण नोकर्म आहारमय जो शरीर है, वह जीवस्वरूप नहीं है, जीव का स्वरूप नहीं है। शरीर के अभाव में शरीररूप द्रव्यलिंग भी जीव का स्वरूप नहीं है। इसप्रकार निश्चयनय से जीव के आहार नहीं है।''

इन गाथाओं का भाव भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिए परमार्थतः आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है और आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को कदापि ग्रहण नहीं करता; स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो, अपने ही परिणाम का ग्रहण-त्याग होता है, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किंचित् मात्र भी नहीं होता। इसप्रकार आत्मा के आहार न होने से उसके देह ही नहीं है।''

इन गाथाओं का भाव स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''भगवान आत्मा परद्रव्य के एक रजकण का भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता – ऐसा ही आत्मा का स्वरूप है। प्रायोगिक अर्थात् पर के निमित्त से हुए गुण की सामर्थ्य से और वैस्रसिक अर्थात् स्वाभाविक गुण की सामर्थ्य से भी आत्मा के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण व त्याग अशक्य है।[१]

ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि गुण तो आत्मा के त्रिकाली स्वभाव हैं, वे पर को ग्रहण करें या छोड़े – यह तो प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि ग्रहण-त्याग

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १६८

तो पर्याय में होता है; परन्तु ग्रहण-त्याग रूप इच्छा की विभावपर्याय में भी कोई ताकत नहीं है कि वह पर को ग्रहण करे या छोड़े।

भाई ! संयोग में आनेवाली वस्तु अपने स्वकाल में स्वत: ही संयोग में आती है और जानेवाली स्वयं ही चली जाती है । उनका आना-जाना उन्हीं के कारण होता है, जीव की इच्छा से बिल्कुल नहीं होता। ऐसी ही वस्तुस्थिति है। ऐसा कहते हैं न कि 'दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम' इसका अर्थ क्या है ? यही न कि जो रजकण आनेवाला हो, वह अपनी स्वचतुष्टय की योग्यता से स्वत: ही आता है, किसी की इच्छा के कारण नहीं। पर की इच्छा में ऐसी सामर्थ्य ही नहीं है।[१]

नोकर्म अर्थात् आहार-पानी वगैरह पुद्गल जड़ मूर्तिक द्रव्य हैं और आत्मा चेतन अमूर्तिक द्रव्य है। रोटी-दाल-भात-शाक आदि मूर्तिक द्रव्यरूप आहार आत्मा के हैं ही नहीं; क्योंकि आहार मूर्तिक द्रव्य है और आत्मा अमूर्तिक द्रव्य है। अमूर्तिक चेतनद्रव्य को मूर्तिक जड़ का आहार कैसे हो ? इसलिए आत्मा आहारक नहीं है।[२]

अरूपी आत्मा रूपी कर्म-नोकर्म को ग्रहण करे एवं छोड़े – यह संभव नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से रहित शून्य है।[३]

अरे ! चारित्रवन्त मुनिराजों को भी कदाचित् आहार की वृत्ति हो तो उस वृत्ति के कारण से आहार का ग्रहण नहीं होता, कर्मों व नोकर्मों का बन्ध एवं निर्जरा भी उस शुभराग के कारण नहीं होती। वृत्ति हुई – इस अपेक्षा भले कर्त्ता कहो, परन्तु 'वृत्ति करने योग्य है' – ऐसा वे नहीं मानते। अत: इस अपेक्षा वे अकर्ता ही हैं, ज्ञाता ही हैं।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि स्वभावरूप परिणमें या विभावरूप परिणमें,

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १७०

२. वही, पृष्ठ - १७१

३. वही, पृष्ठ - १७२

प्रत्येक स्थिति में अपने ही परिणामों का ग्रहण-त्याग है, परद्रव्यों का ग्रहण-त्याग तो जरा भी नहीं है।[1]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि यह अमूर्तिक आत्मा पुद्गलमयी मूर्तिक आहार नहीं कर सकता है; क्योंकि परद्रव्यों को ग्रहण करने का न तो आत्मा का स्वभाव ही है और न पर निमित्त के सहयोग से ऐसा करने का आत्मा का स्वभाव है।

अत: निष्कर्ष यही है कि यह आत्मा परजीवों और अजीव द्रव्यों से न तो कुछ ग्रहण ही करता है और न कुछ त्यागता ही है। आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है; उसका भी यही कार्य है। त्यागोपादान -शून्यत्व शक्ति का मूल उत्स भी यही प्रकरण है।

अब आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलश-काव्य कहते हैं; जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातु र्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥२३८॥

(सोरठा)

शुद्धज्ञानमय जीव, के जब देह नहीं कही।
तब फिर देही लिंग, शिवमग कैसे हो सके ॥२३८॥

इसप्रकार शुद्धज्ञान (आत्मा) के देह ही नहीं है; इसकारण ज्ञाता जीव को देहमय चिह्न (लिंग) मोक्ष का कारण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जब शुद्धज्ञानस्वभावी आत्मा के देह ही नहीं है; तब फिर देहमय चिह्न (लिंग) मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् भावलिंगी संतों के भी नग्न दिगम्बरदशा मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति का कारण तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रय ही है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १७२-१७३

यद्यपि यह सत्य है कि नग्न दिगम्बरदशा धारण किए बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, तथापि देह की नग्नता मुक्ति का कारण नहीं है। देह की नग्नता के साथ मिथ्यात्व और तीनकषाय के अभावरूप जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वे ही मुक्ति के कारण हैं।

स्वामीजी तो महाव्रतों को भी देहमय लिंग में ही शामिल करते हैं। उनका कथन इसप्रकार है –

"शुद्धज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा के देह ही नहीं है। देह तो बाह्य वस्तु है। जब देह ही नहीं है तो देहमयलिंग – नग्नदशा का भेष मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? मुनिराज के बाहर में देह की नग्नदशा और पंचमहाव्रतादि के विकल्प होते हैं; परन्तु वे मोक्ष के कारण नहीं हैं।[1]

भाई ! व्रतादि के विकल्प भी देहमयलिंग ही हैं। मुनिराज उन्हें मोक्ष का कारण नहीं मानते।[2]"

इस प्रकरण के कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी चार छन्दों में इसप्रकार करते हैं –

(दोहा)

सुद्ध ग्यान कै देह नहि, मुद्रा भेष न कोइ।
तातै कारन मोख कौ, दरबलिंग नहि होइ॥
दरबलिंग न्यारा प्रगट, कला वचन विग्यान।
अष्ट महारिधि अष्ट सिधि, एऊ होहि न ग्यान॥

आत्मा शुद्धज्ञानमय है और शुद्धज्ञान के शरीर नहीं है, मुद्रा नहीं है और कोई वेष भी नहीं है। देह, मुद्रा, वेष – ये सब पुद्गल की रचनायें ज्ञान स्वभावी आत्मा की नहीं हैं। इसकारण द्रव्यलिंग मुक्ति का कारण नहीं है;क्योंकि नग्नदशारूप द्रव्यलिंग देह की ही दशा का नाम है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ -१७३
२. वही, पृष्ठ - १७७

इस भगवान आत्मा से द्रव्यलिंग भी भिन्न है, कला-कौशल भी भिन्न है और वचन चातुरी भी भिन्न ही है। यहाँ तक कि अष्ट महाऋद्धियाँ और अष्ट सिद्धियाँ भी आत्मा से भिन्न ही हैं; क्योंकि वे ज्ञान नहीं हैं।

(सवैया इकतीसा)

भेष मैं न ग्यान नहि ग्यान गुरु वर्तन मैं,
मंत्र जंत्र तंत्र मैं न ग्यान की कहानी है।
ग्रंथ मैं न ग्यान नहि ग्यान कवि चातुरी मैं,
बातनि मैं ग्यान नहि ग्यान कहा बानी है॥
तातैं भेष गुरुता कवित्त ग्रंथ मंत्र बात,
इनतं अतीत ग्यान चेतना निसानी है,
ग्यान ही मैं ग्यान नहि ग्यान और ठौर कहूं,
जाकै घट ग्यान सोई ग्यान का निदानी है॥

भेष धरि लोकनि कौं बंचै सौ धरम ठग,
गुरु सो कहावै गुरुवाई जाहि चहिए।
मंत्र तंत्र साधक कहावै गुनी जादूगर,
पंडित कहावै पंडिताई जामैं लहिये॥
कवित्त की कला मैं प्रवीन सो कहावै कवि,
बात कहि जानै सो पवारगीर कहिए।
ए तौ सब विष के भिखारी मायाधारी जीव,
इन्हकौं विलोकि कै दयालरूप रहिये॥

वेष में ज्ञान नहीं है अर्थात् वेष धारण कर लेने से कोई आत्मज्ञानी नहीं हो जाता। इसीप्रकार गुरुओं जैसे आचरण कर लेने से भी कोई ज्ञानी नहीं हो जाता अर्थात् गुरुवर्तन में भी आत्मज्ञान नहीं है। मंत्र, यंत्र और तंत्र में भी ज्ञान नहीं है। मंत्रों से झाड़-फूंककर, यंत्र से अर्थात् गंडा-ताबीज देकर और तंत्र अर्थात् टोटका करके कोई आत्मज्ञानी बनना चाहता है तो उसकी यह भावना कभी सफल होनेवाली नहीं है।

ग्रन्थों (शास्त्रों) और काव्यकौशल में भी ज्ञान नहीं है; बातों में भी ज्ञान नहीं है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों का अध्ययन करके, उसे काव्यकौशल में अभिव्यक्त करके और व्याख्यान देने की कला में चतुराई प्राप्त करके कोई यह समझे कि मैं ज्ञानी हो गया हूँ तो वह धोखे में ही है।

इसलिए वेष (नग्न दिगम्बरदशा), गुरुता, कवित्त, ग्रंथ, मंत्र-तंत्र और व्याख्यान – ये सब ज्ञानचेतना की निशानी नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान तो ज्ञान (आत्मानुभव) में ही है, वह और कहीं भी नहीं है। आत्मानुभूतिरूप ज्ञान जिसको प्रगट हो गया, वही वास्तविक ज्ञानी है।

विभिन्न प्रकार के वेषों को धारण करके जो व्यक्ति लोगों को ठगता है; वह तो धर्मठग है; क्योंकि गुरु तो उसे कहते हैं, जिसमें गुरुता पाई जावे अर्थात् जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न हो।

मंत्र-तंत्र की साधना करनेवाले को गुणियाँ या जादूगर कहते हैं; जिसमें पण्डिताई पाई जावे उसे पंडित कहते हैं; जो कविता बनाने की कला में प्रवीण होता है, उसे कवि कहते हैं और जो बातचीत या व्याख्यान की कला में चतुर होता है, उसे पवारगीर (सभाचतुर) कहते हैं।

आत्मज्ञान से रहित ये सभी मायाधारी जीव तो विषयों के भिखारी हैं। इनको देखकर तो दया आनी चाहिए। ये करुणा के पात्र हैं; न तो श्रद्धा के पात्र हैं और न क्रोध के ही पात्र हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन में यही कहा गया है कि चाहे शरीर की क्रियारूप द्रव्यलिंग हो चाहे शुभभावरूप द्रव्यलिंग हो – दोनों ही आत्मानुभव के बिना कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

जो व्यक्ति आत्मज्ञानशून्य होने पर भी नग्न दिगम्बर दशा और महाव्रतादि धारण करके अपने को धर्मात्मा माने बैठे हैं; वे दया के पात्र हैं। न तो वे श्रद्धा के पात्र हैं और न घृणा के ही पात्र हैं; क्योंकि वे तो स्वयं भूले-भटके लोग हैं। ●

समयसार गाथा ४०८ से ४११

जो बात बिगत कलश में कही गई है; उसी बात को अब गाथाओं के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट करते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वंदति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥४०८॥
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचारित्ताणि सेवंति ॥४०९॥
ण वि एस मोक्खमग्गो पांसडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति ॥४१०॥
तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

(हरिगीत)

ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के ।
यह लिंग ही है मुक्तिमग यह कहे कतिपय मूढजन ॥४०८॥
पर मुक्तिमग ना लिंग क्योंकि लिंग तज अरिहंत जिन।
निज आत्म अरु सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित का सेवन करें ॥४०९॥
बस इसलिए गृहिलिंग या मुनिलिंग ना मग मुक्ति का।
जिनवर कहें बस ज्ञान-दर्शन-चरित ही मग मुक्ति का ॥४१०॥
बस इसलिए अनगार या सागार लिंग को त्यागकर।
जुड़ जा स्वयं के ज्ञान-दर्शन-चरणमय शिवपंथ में ॥४११॥

बहुत प्रकार के पाखण्डी (मुनि) लिंगों अथवा गृहस्थ लिंगों को धारण करके मूढजन यह कहते हैं कि यह लिंग मोक्षमार्ग है।

परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि अरहंतदेव लिंग को छोड़कर अर्थात् लिंग पर से दृष्टि हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं।

मुनियों और गृहस्थों के लिंग (चिह्न) मोक्षमार्ग नहीं; क्योंकि जिनदेव तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहते हैं।

इसलिए गृहस्थों और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर, उनमें से एकत्वबुद्धि तोड़कर मोक्षमार्गरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्वयं को लगाओ।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

"कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही धारण करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि सभी अरिहंत भगवन्तों के शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है। इसलिए शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है।

वस्तुतः बात यह है कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह द्रव्यलिंग शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है; क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।

चूंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिए सभी द्रव्यलिंगों का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही स्थित होओ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग होने से इनमें ही आत्मा को लगाना योग्य है – ऐसी सूत्र की अनुमति है।"

उक्त चारों गाथाओं का सार यह है कि आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाला दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावलिंग ही सच्चा मोक्षमार्ग है; शरीर की नग्नदिगम्बर अवस्था और महाव्रतादि के शुभभावरूप द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है; उसे तो भावलिंग का अनिवार्य सहचारी होने से उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है।

यहाँ एक **प्रश्न** हो सकता है कि मुनिलिंग तो नग्नदिगम्बर दशा है, पर गृहस्थों का तो कोई वेष निश्चित नहीं है; फिर गृहीलिंग से क्या तात्पर्य है?

अरे भाई ! श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं; उनमें जो ग्यारहवीं प्रतिमा है; उसमें क्षुल्लक और ऐलक होते हैं; उनका वेष भी सुनिश्चित होता है। ऐलक तो मात्र लगोंटी ही पहनते हैं, पर क्षुल्लक लगोंटी के साथ-साथ खण्डवस्त्र भी धारण करते हैं। खण्डवस्त्र से तात्पर्य यह है कि जब वे सोते हों तो सिर ढक जावे तो पैर न ढंके और पैर ढंक जावें तो सिर न ढके – ऐसा वस्त्र।

आचार्य जयसेन ने शेष अर्थ तो आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही किया है; पर गृहीलिंग को उन्होंने विशेषरूप से स्पष्ट किया है। इसके लिए उन्होंन 'कोपीन ग्रहण' शब्द का प्रयोग किया है।

यहाँ एक प्रश्न और भी हो सकता है कि तो क्या मुनिलिंग धारण किए बिना मोक्ष हा जायेगा ? यदि ऐसा है तो हमारे तीर्थंकरों ने दीक्षा लेकर नग्नदिगम्बर दशा क्यों धारण की ?

अरे भाई ! ऐसा नहीं है। यह बात तो बार-बार स्पष्ट करते आ रहे हैं कि मुक्ति के मार्ग में नग्नदिगम्बर दशा तो अनिवार्य है ही, महाव्रत भी आवश्यक हैं; परन्तु ये परद्रव्य के परिणमनरूप और रागरूप होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं।

उक्त संदर्भ में पं. श्री जयचंदजी छाबड़ा का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''यहाँ द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाने का वचन है, वह सामान्य परमार्थ वचन है।

कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों के छुड़ाने का उपेदश है; परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है कि वेश -मात्र से, बाह्यव्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम या जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वही है। व्यवहार आचारसूत्र के कथनानुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमाग

के साधक हैं; उन व्रतों को यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है, केवल वेशमात्र से – व्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता।''

उक्त संदर्भ में पं.टोडरमलजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं; जो इसप्रकार हैं –

''वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो। जैसे – मुनिलिंग धारण किए बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यत: तो जिनके होने पर कार्य होता है; परन्तु किसी के बिना हुए भी कार्यसिद्धि होती है। जैसे – अनशनादिक बाह्यतप का साधन करने पर मुख्यत: मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिक के बाह्यतप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई तथा कितने ही कारण ऐसे हैं जिनके होने पर **कार्यसिद्धि होती ही होती है और जिनके न होने पर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही होता है और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।** ऐसे यह कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक **नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव सो मोक्षमार्ग जानना।**[१]''

टोडरमलजी के उक्त कथन में भी यही कहा गया है कि मुक्ति का नियामक कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम ही है, शेष दो कारण तो उपचरित कारण हैं।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण का मंथन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''यह शरीर की नग्नदशा, पाँच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुणों का बाह्य व्यवहार वास्तविक मुनिपना नहीं है। यह तो भावलिंगी संत मुनिवरों

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ, ३१३-३१४

को सहचररूप से होता है, निमित्तरूप से होता है, इसकारण इसे द्रव्यलिंग कहा है। द्रव्यलिंग नहीं होता – ऐसा भी नहीं है और द्रव्यलिंग सत्यार्थ मोक्षमार्ग है – ऐसा भी नहीं है। भाई ! मार्ग जैसा है, उसे यथार्थ – वैसा ही समझना चाहिए।[१]

भाई ! जिसको अन्तरंग में निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय भावलिंग प्रगट होता है, उन्हें बाहर में अट्ठाईस मूलगुण का विकल्परूप द्रव्यलिंग होता है; परन्तु यह सब राग है। मुनिराज इसे छोड़कर परम मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं।[२]

देखो, आचार्य कुन्दकुन्ददेव जिनेन्द्रदेव की साक्षी देकर कहते हैं कि द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि वह शरीराश्रित है, पराश्रित है; इसकारण परद्रव्य है। मन्दकषायरूप भाव भी शरीराश्रित-कर्माश्रित भाव हैं, इसकारण वे भी परद्रव्य हैं। भाई ! यह शास्त्रज्ञान भी पर-सत्तावलम्बी ज्ञान है; अत: वह ज्ञान भी परद्रव्य है, बन्ध का कारण है। यह भी आत्माश्रित परिणाम नहीं है।[३]

यहाँ शुभराग के विकल्प को परद्रव्य कहा है; क्योंकि वह पराश्रित भाव है। नवतत्त्वों के भेद का श्रद्धान, भेदों का ज्ञान और राग का आचरण-वेदन आदि सब पराश्रितभाव होने से परद्रव्य हैं। इसलिए वे वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं हैं।[४]

देखो, शब्दश्रुत का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प और पंच महाव्रतादि का परिणाम मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि ये आत्मा के परिणाम नहीं हैं। जबकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए निश्चय

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -10, पृष्ठ - १७७
२. वही, पृष्ठ - १७९-१८०
३. वही, पृष्ठ - १८०-१८१
४. वही, पृष्ठ - १८२

से यही मोक्षमार्ग है।

परमपारिणामिक ध्रुवस्वभावभाव की निर्मलरत्नत्रयरूप परिणति मोक्ष का कारण और उसकी पूर्णता होना मोक्ष है।[१]

यह देह की नग्नदशा, पंचमहाव्रत का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन – ये सब देहमयलिंग हैं, इसलिए ये पुद्गलद्रव्यमय हैं। मुनिराजों के ये होते अवश्य हैं; परन्तु ये मोक्षमार्ग नहीं हैं; क्योंकि ये रागभाव हैं, देहाश्रित-पराश्रितभाव हैं और परद्रव्यमय हैं, इसकारण ये मोक्षमार्ग नहीं हैं।[२]

मोक्ष तो आत्मा के आश्रय से होनेवाला परिणाम है और उसका कारण (मार्ग) भी आत्माश्रित परिणाम ही है। राग तो विभाव है , वह आत्मा का परिणाम नहीं है। निश्चय से इसे पुद्गलमय व पुद्गल कहा है। देहमयलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई शुभ को छोड़कर अशुभ में जाये। व्यवहार छोड़कर नीचे गिरने की बात नहीं है, बल्कि व्यवहार से भी ऊपर उठकर स्वरूप में रमणता और अन्तर्लीनता करने की यह बात है। सम्यग्दर्शन सहित सम्यक्चारित्र आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होता है, व्यवहार-राग से नहीं। इसलिए जो व्रतादि के विकल्प होते हैं, उन्हें छोड़कर स्वरूप में लीन होने की यह बात है। भाइ! शुभराग के परिणाम को देहमयलिंग कहा है और वह अन्यद्रव्यमय होने से मोक्षमार्गरूप नहीं है – ऐसा कहा है।[३]

देखो, आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं स्पष्ट करते हैं कि यह नग्नदशा और पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प मोक्षमार्ग नहीं है। यह बात मूल गाथा और टीका में कह रहे हैं। अरे प्रभु ! देह की नग्नता और शुभराग से मोक्षमार्ग मानना मिथ्याशल्य है; यह मोक्षमार्ग

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - १८३

२. वही, पृष्ठ - १८४

३. वही, पृष्ठ - १८६

नहीं है।[1]

बात बहुत गंभीर है। इस कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि व्रत छोड़कर कोई अव्रत अवस्था में पतित हो जाये। कोई भी उपदेश ऊँचा चढ़ने को दिया जाता है, नीचे गिरने के लिए नहीं। यहाँ यह कहने का अभिप्राय व्रतों के विकल्पों से भी हटकर स्वरूप में जुड़ जाना है।

अनन्त गुणों से भरे भगवान आत्मा के, कारण परमात्मा के आश्रय से प्रगट हुए शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम ही मोक्षमार्ग है। इसलिए अपने आत्मा को उसी में जोड़ना योग्य है।[2]

समाधितंत्र श्लोक ८७,८८, ८९ के आधार से कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'लिंग का आग्रह नहीं होना चाहिए।' परन्तु उनका यह मिथ्या अभिनिवेश है। समाधितंत्र के कथन का आशय तो यह है कि देह की नग्नदशा और व्रत के विकल्प देहाश्रित हैं, इसकारण 'इनसे मोक्ष होता है या ये मोक्ष के कारण हैं' – ऐसा आग्रह छोड़ देना चाहिए। भाई! मुनिदशा में बाह्यलिंग तो नग्न ही होता है, किन्तु यह शरीर की नग्नदशा मुक्ति का मार्ग नहीं है। अत: इसं दुरभिनिवेश को छोड़ने की बात है। वस्त्रसहित मुनिपना मानने की बात तो तीनकाल में संभव ही नहीं है। जिसे भी मोक्ष होगा, नग्नदशा में ही होगा। दिगम्बर नग्नदशा हुए बिना भी मोक्ष नहीं और दिगम्बर नग्नदशा से भी मोक्ष नहीं – ऐसी बात है। मुनिराज को आवश्यकरूप से नग्नदशा ही होती है। वस्त्र-पात्र आदि मुनि के हो ही नहीं सकते। वस्त्रसहित लिंग तो कुलिंग ही है।[3]

भाई! भावलिंग सहित द्रव्यलिंगरूप नग्नदशा तो यथार्थ ऐसी ही होती है; किन्तु ऐसी स्थिति में भी एक भावलिंग ही मोक्ष का कारण है, द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं; फिर भी कोई द्रव्यलिंग को ही मोक्ष का कारण मानकर

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १८६
२. वही, पृष्ठ - १८७
३. वही, पृष्ठ - १८८

भेषधारण करके संतुष्ट रहे, उसके द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने के लिए यह उपदेश है। भाई ! दिगम्बर धर्म कोई पक्ष नहीं है। यह तो वस्तुस्वरूप है।[१]

यहाँ अभिप्राय यह है कि व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में जुड़ने से मोक्ष होता है, केवल भेषमात्र से, व्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता। स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान, रमणता - स्थिरता ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। उसमें जुड़ने से ही मोक्ष होता है। यहाँ तो मात्र यही सिद्ध करना है कि मात्र बाह्यवेष में मोक्षमार्ग नहीं। बाह्यवेष कुछ भी हो – ऐसा भी नहीं चलेगा। बाह्य में नग्नदशा होना तो अनिवार्य ही है। बस, इतना आरोप देख उपचार से इसे मोक्ष का साधन कहा है।[२]"

स्वामीजी के उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि यद्यपि नग्न दिगम्बरदशा बिना मोक्ष नहीं होता; तथापि नग्न दिगम्बरदशा मुक्ति का कारण नहीं है; मुक्ति का कारण तो आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणति ही है, निश्चयरत्नत्रय ही है। उनके उक्त कथन से उन्हें प्रच्छन्न श्वेताम्बर कहनेवालों को भी अपनी कल्पना पर दुबारा विचार करने की आवश्यकता है; साथ ही उन्हें भी विचार करना चाहिए; जो कुन्दकुन्द के उक्त कथनों में से भी यह भाव निकालने का प्रयत्न करते हैं कि जब लिंग मुक्ति का कारण है ही नहीं तो फिर दिगम्बर (नग्न) दशा अनिवार्य क्यों ? किसी भी लिंग से मोक्ष हो जाना संभव हो सकता है।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि यद्यपि नग्नदिगम्बरदशारूप द्रव्यलिंग के बिना मोक्ष नहीं होता; तथापि सच्चा मुक्तिमार्ग तो निश्चयरत्नत्रय रूप भावलिंग ही है।

अब इसी बात का पोषक कलश काव्य कहते हैं; जो आगामी गाथा की उत्थानिका भी प्रस्तुत करता है। वह कलश इसप्रकार है –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १८९
२. वही, पृष्ठ - १९२

(अनुष्टुप्)

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

(दोहा)

मोक्षमार्ग बस एक ही रत्नत्रयमय होय।
अतः मुमुक्षु के लिए वह ही सेवन योग ॥२३९॥

आत्मा का तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मक है; इसलिए मुमुक्षुओं के लिए दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप इस एक मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए।

कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार के उक्त कलश का भाव दो दोहों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(दोहा)

जो दयालता भाव सो, प्रगट ग्यान कौ अंग।
पै तथापि अनुभौ दसा, वरतै विगत तरंग ॥
दरसन ग्यान चरन दसा, करै एक जो कोइ।
थिर ह्वै साधै मोख-मग, सुधी अनुभवी सोइ ॥

यद्यपि दया के परिणाम भी आत्मा के अंग हैं; तथापि अनुभव की दशा तो निस्तरंग ही होती है।

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप दशा को प्राप्त करके; उसी में स्थिर होकर जो मोक्षमार्ग को साधता है; वह व्यक्ति सुधी (बुद्धिमान) और अनुभवी है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि दया आदि के परिणाम शुभभाव होने से पुण्यबंध के कारण हैं और इसीकारण उन्हें व्यवहार से धर्म भी कहा जाता है। फिर भी वे दयादि के परिणाम विकल्परूप हैं; अतः उनसे निस्तरंगरूप अनुभवदशा की प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तविक धर्म तो निस्तरंगरूप अनुभवदशा ही है। वह ही दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणामहै। इसलिए जो व्यक्ति निश्चयदर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमित होकर आत्मा में ही स्थिर होता है; वही अनुभवी और समझदार है। ●

समयसार गाथा ४१२

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को गाथा द्वारा स्पष्ट करते हैं –

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥४१२॥

(हरिगीत)

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर।
निज में ही नित्य विहार कर परद्रव्य में न विहार कर॥४१२॥

हे भव्य ! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। तदर्थ अपने आत्मा का ही ध्यान कर, आत्मा में ही चेत, आत्मा का ही अनुभव कर और निज आत्मा में ही सदा विहार कर; परद्रव्यों में विहार मत कर।

तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा में ही उपयोग को लगा, परद्रव्यों में उलझने से कोई लाभ नहीं है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"यद्यपि यह अपना आत्मा अनादिकाल से अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य और राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित है; तथापि हे आत्मन ! तू अपनी प्रज्ञा के गुण के द्वारा स्वयं को वहाँ से हटाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र में निरन्तर स्थापित करके, समस्त चिन्ता (चिन्तवन-विकल्प) का निरोध करके अपने में अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत, अनुभव कर तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले परिणामों के द्वारा तन्मय परिणामवाला (दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर तथा एक ज्ञानरूप को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ ज्ञेयरूप समस्त

परद्रव्यों की उपाधियों में किंचित्मात्र भी विहार मत कर।''

आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ करते हुए सीधी-सादी भाषा में कहते हैं कि ''हे भव्य ! अपने आत्मा को, शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा के दर्शन-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को परमसमरसीभाव से सदा अनुभव कर, उसी का ध्यान कर, निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जा, उसी में विहार कर, तद्रूप ही परिणत हो जा; पहले देखे हुए, सुने हुए, अनुभूत भोगों की आकांक्षारूप निदानबंधादिरूप परद्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों में विहार मत कर, तद्रूप परिणमित न हो।''

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव खोलते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

''चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा आनन्द का रसकन्द है; परन्तु अनादि संसार से लेकर स्वयं की प्रज्ञा के दोष से स्वयं को भूला हुआ है और अनादि से निरन्तर राग-द्वेष में ही स्थित रहा है। पर की क्रिया तो कोई कर ही नहीं सकता। भाई ! स्वयं ही अपने स्वरूप को भूलकर पर्याय में नये-नये संकल्प-विकल्प करता है। सो वह जीव का स्वयं का ही अपराध है। अत: पर्याय में अनादि से ऐसी भ्रमणा चली आती है। अंतरंग में स्वयं स्वभाव से तो ज्ञानानन्दस्वरूप जैसा है, वैसा ही है।[1]

'प्रज्ञा के गुण द्वारा का अर्थ है स्वपुरुषार्थ द्वारा अपने आत्मा को आत्मा में स्थापित कर। 'ही' शब्द से कुछ लोगों को एकान्त-सा लगता होगा; परन्तु यह शब्द दृढ़ता का सूचक है, यह सम्यक् एकान्त है; क्योंकि दूसरी कोई विधि-उपाय है ही नहीं।[2]

अब गाथा में आये दूसरे बोल की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि समस्त अन्य चिन्ताओं का निरोध करके अन्तर में, स्व-स्वरूप में

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - १९६

२. वही, पृष्ठ - १९६-१९७

एकाग्र होकर दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप एक आत्मा को ही ध्याओ ! तात्पर्य यह है कि भगवान शुद्ध चैतन्य ध्रुव आत्मा जो अन्दर में विराजमान है, उसे दृष्टि में लेकर उस एक को ही अग्र करके शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर ! यहाँ पर्याय की अपेक्षा बात कही है, बाकी त्रिकाली शुद्ध द्रव्य को तो ध्याना ही है।[1]

लोक में उत्तम, मंगल और शरण रूप पदार्थ अपना आत्मा ही है। इसलिए पर से छूटकर अपने आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही स्थापित कर, उसी का ध्यान कर।

भाइ ! ध्यान करना तो तुझे आता ही है। अनादि से संसार का कारणभूत आर्त-रौद्र ध्यान तो तू करता ही रहा है न ! परन्तु ये दुःखमय हैं। इसलिए अब कहते हैं कि अब तू स्वरूप का ही ध्यान कर ! स्वरूप की दृष्टि, रमणता ही स्वरूप का ध्यान है और यह आनन्दकारी है, मंगलकारी है।

अब तीसरे बोल की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दया, दान, व्रत, भक्ति के रागभावरूप कर्मचेतना और हर्ष-शोक के भावरूप कर्मफलचेतना के त्यागभाव के द्वारा ज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही चेत, उसी का अनुभव कर, तेरा आत्मा जो कि ज्ञायक प्रभु परमात्मस्वरूप है, उसी में एकाग्र होकर, उसी में रमणता कर, शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र को ही जाग्रत कर, उसी का अनुभव कर।

अब चौथे बोल का खुलासा करते हैं – देखा! द्रव्य के स्वभाव के आश्रय से क्षण-क्षण में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उत्पन्न होते हैं। द्रव्य के स्वभाव के वश से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे निर्मलरत्नत्रय के परिणाम होते हैं।[2]

अतः तू तो इस निर्मलपरिणमन के द्वारा तन्मय परिणामवाला होकर

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - १९७-१९८

२. वही, पृष्ठ - १९८

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर ! पुण्य-पाप के भावों में, दुःख के भावों में विहार मत कर ! तेरे अन्दर ही पूर्णानन्द का नाथ निर्मल आत्मा विद्यमान है, उसके आश्रय से जो क्षण-क्षण में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम होते हैं, उसी में विहार कर ! स्वर्ग व नरकादि चारों ही गतियाँ दुःखरूप हैं, इसलिए पुण्य-पाप में मत विहर।[१]

समोशरण में बाघ, सिंह वगैरह सैंकड़ों पशु वाणी सुनने आते हैं, स्वर्ग के इन्द्र एवं देवताओं के समूह, श्रावक-श्राविकायें और मुनिवर दिव्यध्वनि सुनने आते हैं; वह वाणी कैसी अलौकिक होगी ? अरे ! भरतक्षेत्र में वर्तमान में भगवान का विरह हो गया है; परन्तु हमारे सौभाग्य से उनकी वाणी बच गई है और हमें प्राप्त भी हो गई है। उस वाणी में भगवान कहते हैं कि प्रभु ! तेरे द्रव्यस्वभाव का तुझे कभी भी विरह नहीं हो सकता, तेरे अन्दर ज्ञान-दर्शन-शान्ति और आनन्द का ध्रुव दल पड़ा है। उस एक का ही अचलपने आलम्बन लेकर प्राप्त होनेवाले निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही तू विहार कर ! अन्यत्र कहीं भी विहार मत कर ! क्योंकि अन्यत्र कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है।[२]

जाग नाथ ! एकबार जाग !! स्वभाव से तू स्वयं चैतन्यस्वरूप भगवान है; अतः तू अपने उस स्वभाव का आलम्बन ले। निमित्त के, देव-शास्त्र-गुरु के, राग के आलम्बन में मत जा; क्योंकि पर के एवं राग के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। एक ध्रुव ज्ञानस्वरूप आत्मा के आलम्बन से ही धर्म होता है। अरे ! अधिक क्या कहें ? ये निर्मलपर्यायें जो प्रगट होती हैं, इनके आलम्बन से भी नई निर्मल पर्यायें उत्पन्न नहीं हो सकतीं। बस, एक ध्रुव के ध्यान से ही धर्म होता है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - १९८
२. वही, पृष्ठ -१९९
३. वही, पृष्ठ - १९९-२००

जैसे पाताल में पानी-पानी ही रहता है, वैसे ही तेरे ध्रुवस्वभाव के पाताल में अनन्त-अनन्त ज्ञान और आनन्द भरा है। उस पाताल में प्रवेश करते ही पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द उछलेगा। तू निहाल हो जायेगा, तेरा जीवन धन्य हो जायेगा, अन्तर में विद्यमान ध्रुव को ध्यान का ध्येय बनाने पर धर्म (जैनधर्म) प्रगट होगा। एक ध्रुव के अवलम्बन से ही ध्यान होता है – ऐसा ही सम्यक् एकान्त है। एकध्रुव के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार से नहीं होता – इसका नाम सम्यक् अनेकान्त है।

आगे कहते हैं कि पुण्य के परिणाम परज्ञेयरूप उपाधिभाव हैं। भाई ! यदि तू पर की ओर देखे तो तुझे विकल्परूप उपाधि उठती है। भगवान कहते हैं कि यदि तू मेरी ओर देखेगा तो भी राग ही होगा, उपाधि ही होगी; धर्म नहीं होगा। ज्ञानी को भी व्यवहार के शुभभाव आते हैं, परन्तु वे हैं उपाधि। इसलिए सर्व ओर से फैले परद्रव्य में विहार मत कर !

देखो, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा-विनय का भाव राग है, व्यवहार है; पंचमहाव्रत का परिणाम, छहकाय की रक्षा का परिणाम, शास्त्र पढ़ने-लिखने का भाव राग है, व्यवहार है। यह सब व्यवहार ज्ञेयरूप उपाधि है, स्वभाव नहीं है, परद्रव्य है। उसमें जरा भी, किंचित् भी रुचि न ले, उस ओर देख भी नहीं। शुद्ध निश्चयस्वरूप एक ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का ही आलम्बन प्राप्तकर शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र में विहार कर, उसी में उपयोग को केन्द्रित कर।[1]

भगवान कहते हैं कि 'तू मेरी ओर भी मत देख ! देखेगा तो तुझे राग ही होगा; क्योंकि मैं परद्रव्य हूँ, मैं तेरा द्रव्य नहीं हूँ' अत: मेरे लक्ष्य से तेरा कल्याण नहीं होगा। यह राग की ही रुचि है न ! इसलिए तू अपने चिदानन्दस्वरूप प्रभु की रुचि कर, उसी की दृष्टि कर; उसी में रमणता, लीनता कर ! बस, यही धर्म है। यही मोक्षमार्ग है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -१०, पृष्ठ - २००

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही आत्मा को स्थापित कर ! उसी का ध्यान कर ! उसी का अनुभव कर ! उसी में विहार कर, प्रवर्तन कर ! अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन मत कर ! – यही परमार्थ से उपदेश है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अनादि से ही स्वयं की प्रज्ञा के दोष से अर्थात् स्वयं की ही विभावपरिणमनरूप पर्यायगत योग्यता से स्वयं ही राग-द्वेषरूप परिणम रहा है; तथापि स्वयं ही प्रज्ञा के गुण से अर्थात् स्वयं की ही स्वभाव-परिणमनरूप पर्यायगत योग्यता से स्वयं को विकारी परिणमन से हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि न तो इसके विकाररूप परिणमन में किसी पर का कोई दोष है और न स्वभावरूप परिणमन ही कोई और करायेगा। यह स्वयं ही विकारी परिणमन को छोड़कर स्वभावरूप परिणमन कर सकता है।

अत: हे आत्मन् ! अब सम्यग्रत्नत्रयरूप परिणमन कर स्वयं को स्वयं ही मोक्षमार्ग में स्थापित कर।

जिस भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है; समस्त विकल्पों का अभाव करके एकमात्र उसी का ध्यानकर, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के अभावपूर्वक ज्ञानचेतना में ही चेत और निज भगवान आत्मा में ही विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर; क्योंकि तुझे वहाँ कुछ भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है।

अरहंत भगवान भी अपनी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि तू हमारी ओर क्या देखता है ? स्वयं की ओर देख; क्योंकि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति तो तुझे स्वयं के ही आश्रय से होगी, हम तो तेरे लिए परद्रव्य ही हैं। तू परद्रव्य में विहार मत कर, स्वयं में ही विहार कर !

इसप्रकार आचार्यदेव यहाँ अपने उपयोग को समस्त जगत से हटाकर आत्मा में ही लगाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २०२-२०३

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥२४०॥

(हरिगीत)

दृगज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह एक ही है मोक्षपथ।
थित रहें अनुभव करें अर ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष ॥
जो अन्य को न छुयें अर निज में विहार करें सतत।
वे पुरुष ही अतिशीघ्र ही समैसार को पावे उदित ॥२४०॥

जो पुरुष दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियत मोक्षमार्ग में स्थित होता है, उसी का ध्यान करता है, उसी में चेतता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करता हुआ निरन्तर उसी में विहार करता है; वह पुरुष नित्योदित समयसार को अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है।

जो बात गाथा में कही गई है, वही बात इस कलश में भी उन्हीं शब्दों में कही गई है।

उक्त कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"भाई ! यदि मोक्ष की इच्छा है तो बाहर की चमत्कारी-विस्मयकारी वस्तुओं की ओर देखना छोड़ दे तथा अनन्त विस्मयों से भरा भगवान आत्मा जो तू स्वयं है, तेरे ही देह देवालय में विराजता है; उसमें रुचि कर, रमणता कर; वह एक ही मोक्षमार्ग है।

अरे ! लोग व्रत-तप आदि क्रियाकाण्ड के विकल्पों में अटके हुए हैं, किन्तु वस्तु तो निर्विकल्प है। प्रभु ! तेरे इन विकल्पों द्वारा वह कैसे जानी जा सकती है ? कैसे अनुभव की जा सकती है ? इसलिए तू इन विकल्पों

से ऊपर उठकर निर्विकल्प आत्मा का अनुभव करने का प्रयत्न कर; उसमें से तुझे परम आनन्द की प्राप्ति होगी।[1]

भाई ! तू स्वयं अन्तर में शान्ति का सागर है, उसमें डुबकी लगा ले; उपयोग को उसी में डुबा दे। तू तो अन्तर में चिन्मात्र चिन्तामणि देवों का देव भगवान महादेव है। वहीं अपनी दृष्टि को केन्द्रित करके उसी में थम जा! तुझे रत्नत्रय प्रगट हो जायेगा, अनाकुल शान्ति का निधान प्रगट हो जायेगा। यही एक मार्ग है, एक शुद्ध निश्चय का लक्ष्य करना ही एकमात्र साधन है। केवल बाह्य साधनों से आत्मा का कल्याण नहीं होगा।[2]''

कविवर बनारसीदासजी इस छन्द का भाव तीन छन्दों में बांधने का प्रयास इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जोई द्रिग ग्यान चरनातम मैं बैठि ठौर,
भयो निरदौर परवस्तु कौं न परसै।
सुद्धता विचारै ध्यावै सुद्धता मैं केलि करै,
सुद्धता मैं थिर ह्वै अमृत धारा बरसै॥
त्यागि तन कष्ट ह्वै सपष्ट अष्ट करम कौ,
करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै।
सो तौ विकलप विजई अलप काल मांहि,
त्यागि भौ विधान निरवान पर परसै॥

जो पुरुष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में बैठकर, स्थिर होकर, निर्विकल्प होकर परवस्तु को स्पर्श भी नहीं करते और शुद्ध आत्मा का ही विचार करते हैं, शुद्धात्मा का ही ध्यान करते हैं, शुद्धात्मा में ही केलि करते हैं तथा शुद्धात्मा में ही स्थिर होकर आनन्दामृत बरसाते हैं; वे महापुरुष शारीरिक कष्टों की परवाह किए बिना आठों कर्मों को कमजोर करके नष्ट कर देते हैं

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २०३-२०४
२. वही, पृष्ठ - २०८

अथवा नष्ट कर रहे हैं और नष्ट करेंगे भी। तात्पर्य है कि उनकी निर्जरा कर उनका सर्वनाश कर देते हैं। विकल्पों को जीत लेनेवाले निर्विकल्प आत्मानुभूतिसम्पन्न ज्ञानीजन अल्पकाल में जन्म-मरण का नाश कर निर्वाणपद को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ जो 'करसै' शब्द है; उसके दो अर्थ हो सकते हैं। करसै अर्थात् कृष करे, कमजोर करे – यह तो एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ यह है कि करसै अर्थात् करेगा, भविष्य में करेगा।

(चौपाई)

गुन परजै मैं द्रिष्टि न दीजै। निरविकलप अनुभौ-रस पीजै॥
आप समाइ आपमैं लीजै। तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै॥

गुण और पर्यायों को दृष्टि से ओझल कर निर्विकल्प आत्मानुभूति करके अतीन्द्रिय आनन्द का रसपान करो। शरीर में से अपनत्व छोड़ अपने आत्मा में अपनापन धारण करके अपने में समाकर आत्मा को प्राप्त कर लीजिए।

(दोहा)

तजि विभाउ हूजै मगन, सुद्धातम पद मांहि।
एक मोख-मारग यहै, और दूसरौ नांहि॥

विभावभावों को छोड़कर निज शुद्धात्मा में मगन हो जाइये; क्योंकि यही एक मोक्ष का मार्ग है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

सबकुछ मिलाकर इस कलश का यही भाव है कि स्वयं के आत्मा को जानकर, पहिचान कर; उसी में समा जाने से ही कर्मों की निर्जरा होती है और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

अत: सभी आत्मार्थियों को यही चाहिए कि वे स्वयं को जानकर, पहिचानकर स्वयं में ही समा जावें – यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।

अब आगामी गाथा की उत्थानिकारूप कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥२४१॥

(हरिगीत)

जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ व्यवहार में वर्तन करें।
तर जायेंगे यह मानकर द्रव्यलिंग में ममता धरें॥
वे नहीं देखे आत्मा निज अमल एक उद्योतमय।
अर अखण्ड अभेद चिन्मय अज अतुल आलोकमय ॥२४१॥

जो पुरुष उक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार मार्ग में स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यलिंग में ममता धारण करते हैं; वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ बोध से रहित होने से समय के साररूप नित्य प्रकाशमान, अखण्ड, एक, अतुल, अमल चैतन्यप्रकाशमय आत्मा को नहीं देखते, आत्मा का अनुभव नहीं करते।

इसका भावानुवाद कविवर बनारसदीदासजी इसप्रकार करते हैं –

(सवैया)

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरै जिनमुद्रा भेष,
क्रिया मैं मगन रहैं कहैं हम जती हैं।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उदोत,
ऐसे ग्यानभाव सौं विमुख मूढ़मती हैं॥
आगम संभालैं दोस टालैं विवहार भालैं,
पालैं व्रत जदपि तदपि अविरती हैं।
आपुकौं कहावैं मोख मारग के अधिकारी,
मोख सौं सदीव रुष्ट दुष्ट दुरमती हैं॥

यद्यपि अनेक मिथ्यादृष्टि जीव नग्नदिगम्बर जिनमुद्रा को धारण करके

तत्संबंधी क्रियाकाण्ड में ही मगन रहते हैं और कहते हैं कि हम यति हैं, साधु हैं; तथापि वे मूढ़मती अतुल, अखण्ड, अमल, सदा उद्योतमान ज्ञानभाव से विमुख ही रहते हैं।

यद्यपि वे लोग आगम का अध्ययन करते हैं, निर्दोष आहार-विहार करते हैं; व्यावहारिक क्रियाओं में सावधान हैं, व्रतों का पालन करते हैं; तथापि आत्मानुभव न होने से अविरति ही हैं। वे दुष्ट दुर्मतिलोग मोक्ष से रुष्ट ही रहते हैं, दूर ही रहते हैं; पर स्वयं को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानते हैं।

स्वामीजी उक्त कलश के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने समयसार को अर्थात् शुद्धात्मा को जाना ही नहीं है। ऐसा कथन करनेवाली गाथाओं की सूचनारूप यह कलश है।

इसमें कहा है कि शुद्ध आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु है। इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर उसका श्रद्धान-ज्ञान व आचरण प्रगट करना परमार्थस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा उसके सहकारी व्रतादि के राग को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि जो पुरुष परमार्थस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को छोड़कर उक्त व्यवहारमोक्षमार्ग में स्थापित अपने आत्मा द्वारा द्रव्यलिंग में ममता करते हैं अर्थात् ऐसा मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमको मोक्षमार्ग प्राप्त करा देगा। वे यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं करते, उन्हें आत्मा की अनुभूति नहीं होती।

भाई ! जिसको अन्तर में निजस्वरूप की रुचि व रमणतारूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट है; उसे जबतक पूर्णता प्रगट न हो, तबतक बाहर में व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि शुभराग होता है। वह शुभराग उपचार से मोक्षमार्ग है – ऐसा स्थापित किया है; किन्तु कोई उसे ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसी आचरण में अटका रहे तो वह यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि है।

वह समय के सार अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता।[1]

भगवान आत्मा अखण्ड है। उसमें अन्य ज्ञेयों के निमित्त से खण्ड नहीं होते। वह एक है अर्थात् पर्यायों से अनेक अवस्थाओं रूप होकर भी वह अपने एकपने को नहीं छोड़ता।

चाहे जितने ही ज्ञेयों को जाने तो भी ज्ञान खण्ड-खण्ड नहीं होता। अहा ! भगवान पूर्ण ज्ञानघन प्रभु अखण्ड पदार्थ है, एक है। ज्ञान-दर्शन जैसी अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायों रूप परिणमते हुए त्रिकाल एकरूप, ज्ञायकरूप ही रहता है। ऐसी अखण्ड, एकरूप निजज्ञायक वस्तु का अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है।[2]

सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को निश्चय के साथ व्यवहाररत्नत्रय का राग भी आता है। वह सहज आता ही है, इस कारण उसे सहकारी जानकर उसका स्थापन किया है, किन्तु वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं है। वास्तव में तो वह बंधपद्धति ही है। उसे व्यवहारनय से व्यवहारमोक्षमार्ग के रूप में स्थापन किया है, निश्चय से वह मोक्षमार्ग नहीं है। यह जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है, फिर भी कोई भ्रम में पड़कर द्रव्यलिंग में ममता करता है तो करो, उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होगी।[3]

इसप्रकार जो द्रव्यलिंग में ममत्व करता है, उसे जब निश्चय कारण समयसार का अनुभव ही नहीं तो फिर उसे कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से हो ? कैसे हो ? अर्थात् नहीं होती।[4]''

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार मात्र इतना ही है कि मुक्ति के मार्ग में द्रव्यलिंग अर्थात् नग्नदिगम्बर दशा एवं पंचमहाव्रतादि के शुभभाव होते तो

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २१०
२. वही, पृष्ठ - २११
३. वही, पृष्ठ - २११
४. वही, पृष्ठ - २१३-२१४

अवश्य हैं; क्योंकि उनके बिना मुक्तिमार्ग नहीं बनता; फिर भी नग्नदिगम्बरदशा शरीर की क्रिया है और महाव्रतादि के शुभभाव रागभाव हैं; इसकारण वे मुक्ति के कारण नहीं हो सकते। शरीर की क्रिया तो परद्रव्य की क्रिया होने से न तो बंध की ही कारण है और न मोक्ष की ही कारण है; किन्तु शुभराग आत्मा की विकारी परिणति होने से बंध का ही कारण है, पुण्यबंध का ही कारण है; मुक्ति का कारण नहीं।

अत: आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाली निश्चय रत्नत्रयरूप निर्मलपरिणति ही एकमात्र मुक्ति का कारण है – ऐसा जानना-मानना ही योग्य है। शास्त्रों में भी सर्वत्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही मुक्ति का कारण कहा गया है।

अत: सर्वविकल्पों का शमन करके एकमात्र निज भगवान आत्मा का ही आश्रय करो, उसी की शरण में चले जाओ, उसे ही जानो, मानो और उसी में जम जाओ, रम जाओ; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।●

प्रमाण का द्रव्य मूलवस्तु है

वस्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय होती है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु के सामान्य और विशेष – ये दो भेद होते हैं, क्षेत्र की अपेक्षा वस्तु के भेद और अभेद – ये दो भेद होते हैं, काल की अपेक्षा वस्तु के नित्य और अनित्य – ये दो भेद होते हैं, भाव की अपेक्षा वस्तु के एक और अनेक – ये दो भेद होते हैं; इसप्रकार इन आठ से संयुक्त जो वस्तु होती है, उसे प्रमाण का द्रव्य कहा जाता है और यह प्रमाण का द्रव्य मूलवस्तु है।

दृष्टि का विषय, पृष्ठ - 100

समयसार गाथा ४१३

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को मूल गाथा में स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है –

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं॥४१३॥

(हरिगीत)

ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
उनमें करें ममता, न जाने वे समय के सार को॥४१३॥

जो व्यक्ति बहुत प्रकार के मुनिलिंगों या गृहस्थलिंगों में ममत्व करते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि ये द्रव्यलिंग ही मोक्ष के कारण हैं; उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

उक्त गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप; किन्तु अत्यन्त सशक्त भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"मैं श्रमण हूँ या मैं श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ – इसप्रकार द्रव्यलिंग में ही जो पुरुष ममत्वभाव से मिथ्या अहंकार करते हैं; अनादिरूढ़ व्यवहारविमूढ़, प्रौढ़विवेकवाले निश्चय पर अनारूढ़ वे पुरुष निश्चितरूप से परमार्थसत्य समयसार (शुद्धात्मा) को नहीं देखत हैं।"

उक्त गाथा और टीका का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करत हैं–

"अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार में ही जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं; वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा;' परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है – ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते।"

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में मुनिलिंग और गृहस्थलिंग का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वीतराग स्वसंवेदनज्ञानलक्षणभावलिंग से रहित नग्नदिगम्बर निर्ग्रन्थदशा को धारण करनेवाले मुनिलिंगी और लंगोटी आदि चिह्नों से जानेवाले ऐलक-क्षुल्लक गहस्थलिंगी कहे जाते हैं।

आगे वे अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि कार्यसमयसार के उत्पादक कारणसमयसार को उक्त मुनिलिंगी और गृहीलिंगी लोग नहीं जानते हैं।

उक्त प्रकरण पर प्रकाश डालते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''भगवान आत्मा अनाकुल आनन्दरस का, चैतन्यरस का कन्द प्रभु है। जो अन्तर्मुख होकर उस आत्मा को तो जानता-अनुभवता नहीं है और व्यवहार के क्रियाकाण्ड में अपना हित मानता है, उस क्रियाकाण्ड के पालन में ही धर्म मानता है, मुनिपना एवं श्रावकपना मानता है, वह अनादिरूढ़ व्यवहारमूढ़ है।

अरे ! शुभभाव का व्यवहार तो अनादि से चला आ रहा है, अनन्त बार किया है। इसमें नवीनता क्या है ? शुभ-अशुभ भाव तो निगोद के जीव भी निरन्तर करते हैं। अरे ! अन्दर में जो आनन्दस्वरूप महाचैतन्यप्रभु विराजता है, उसके पक्ष में न जाकर राग के पक्ष में रुककर इस अज्ञानी जीव ने चैतन्य के पक्ष का घात किया है। मानो उसे पक्षाघात (लकवा) का रोग हो गया है।

नियमसार के कलश १२१ में कहा है कि जो मोक्ष का कथनमात्र कारण है – ऐसे व्यवहाररत्नत्रय से भवसागर में डूबे हुए जीवों को स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।[1]

प्रश्न – आपका कहना सही है, परन्तु ब्रह्मचर्य से तो रहना ही चाहिए न?

उत्तर – बापू ! ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ? जानते हो ? ब्रह्म नाम आत्मा;

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २१५-२१६

शुद्ध चिदानन्द चैतन्यचिन्तामणि भगवान आत्मा के स्वरूप में चर्य अर्थात् रमण करना। इसप्रकार शुद्ध चैतन्य आत्मा में रमण करने का नाम ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करने का विकल्प तो शुभभाव है। इससे पुण्यबंध होता है, धर्म नहीं होता। इससे धर्म होना माने तो इस मान्यता में मिथ्यात्व का महापाप है।

अरे ! कभी-कभी यह अज्ञानी जीव सांसारिक झंझटों से घबराकर उनसे निर्वृत्त हो जाता है, कुटुम्ब-परिवार की जिम्मेदारी से परेशान होकर उन्हें छोड़ देता है तथा शुभभाव एवं शुभभावों के निमित्तों का सहारा लेकर ऐसा मान लेता है कि इनसे मेरा कल्याण हो जायेगा; परन्तु भाई ! मोक्षपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि **'परदव्वाओ दुग्गइ'** अर्थात् अपने परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के सिवाय कुटुम्ब-परिवार या देव-शास्त्र-गुरु की ओर के लक्ष्य से हुये रागादि सब दुर्गति हैं। वह आत्मा की या चैतन्य की गति नहीं है। यद्यपि शुभभावों से देवगति मिलती है; परन्तु वह भी दुर्गति है। जिस भाव से संसार की गति मिले, वह भाव भी दुर्गति है और वह गति भी दुर्गति है।

नग्नदशा व महाव्रतादिरूप २८ मूलगुणों की सभी क्रियाओं को पालने में शुभभाव होता है। इसमें कोई ऐसा माने कि ' यह मेरा धर्म और यह मेरा मुनिपना है', उससे आचार्य कहते हैं कि प्रभु ! तू एक बार सुन तो सही ! तू गलत रास्ते पर भटक गया है। यह आत्मा के हित का मार्ग नहीं है।

यहाँ तीन बोल कहे हैं – १. अनादिरूढ़, २. व्यवहारमूढ़ और ३. निश्चयस्वभाव में अनारूढ़। अहो ! यहाँ तो इस गाथा में केवल मक्खन ही मक्खन भरा है; परन्तु यह किसी भाग्यवान को ही प्राप्त होता है।[1]

सम्वत् १९६८ में हमें यह समयसार शास्त्र हाथ लगा था। इसे पढ़कर ऐसा लगा कि यह कियाकाण्ड और बाह्य भेष सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। राग

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ २१६

से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही मोक्ष का उपाय है और वही धर्म है।

देखो, यहाँ यह जो कहा गया, उसका अर्थ ऐसा नहीं करना कि शुभ को छुड़ाकर अशुभ में जाने को कहा जा रहा है या स्वच्छन्द होने को कहा जा रहा है। यहाँ तो मात्र इतना ग्रहण करना कि शुभभाव मोक्ष का उपाय नहीं है – ऐसा जानकर शुभ का लक्ष्य छोड़कर अन्तरस्वभाव में दृष्टि करना और उसी में लीन होकर प्रवर्तन करना। बस, यही एकमात्र मोक्ष का उपाय है।[1]''

देखो यहाँ निश्चय से रहित व्यवहार में रमनेवालों को व्यवहारविमूढ़ कहा है। यह कहा है कि यह तो अनादि से ही चलती आई व्यवहारविमूढ़ता है। जबतक तुम निश्चय पर आरूढ़ होकर इस व्यवहारविमूढ़ता को नहीं छोड़ोगे, तबतक कारणसमयसाररूप भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(वियोगिनी)

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम्॥२४२॥

(हरिगीत)

तुष माँहि मोहित जगतजन ज्यों एक तुष ही जानते।
वे मूढ तुष संग्रह करें तन्दुल नहीं पहिचानते॥
व्यवहार मोहित मूढ त्यों व्यवहार को ही जानते।
आनन्दमय सद्ज्ञानमय परमार्थ नहीं पहिचानते॥२४२॥

जिसप्रकार तुष को ही चावल मान लेनेवाले तुष विमोहित दृष्टिवाले लोग असली चावल को नहीं जानते; उसीप्रकार व्यवहार में विमोहित बुद्धिवाले लोग परमार्थ को नहीं जानते हैं।

इस छोटे से कलश का भाव कविवर बनारसीदासजी एक चौपाई और

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २१६

तीन दोहे – इसप्रकार कुल मिलाकर चार छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(चौपाई)

जैसै मुगध धान पहिचानै। तुष तंदुल कौ भेद न जानै॥
तैसैं मूढ़मती विवहारी। लखै न बंध मोख गति न्यारी॥

(दोहा)

जे विवहारी मूढ़ नर परजै बुद्धी जीव।
तिन्ह कौं बाहिज क्रियाविषै है अवलंब सदीव॥
कुमति बाहिज दृष्टि सौं बाहिज क्रिया करंत।
मानै मोख परंपरा मन मैं हरष धरंत॥
सुद्धातम अनुभौ कथा कहै समकिती कोइ।
सो सुनि कैं तासौं कहे यह सिवपंथ न होइ॥

जिसप्रकार कोई अज्ञानी पुरुष धान (छिलका सहित चावल) को पहचानता है; पर उसमें छिलका अलग है और चावल अलग है – यह नहीं जानता है; उसीप्रकार मूढ़मती व्यवहारी जीव बंध की और मोक्ष की प्रक्रिया अलग-अलग है – यह नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि जिन शुभभावों से पुण्यबंध होता है; उन्हीं शुभभावों को मुक्ति का कारण भी मानता है।

जो पर्यायबुद्धिवाले व्यवहारी मूढ़जन हैं, उन्हें बाह्यक्रिया ही सदा अवलम्बनरूप रहती है। कुबुद्धि जीव बाह्यदृष्टि के कारण बाह्यक्रिया ही करते हैं और उसे मोक्ष का कारण मान हर्षायमान होते हैं। कोई सम्यग्दृष्टि जीव यदि उन्हें शुद्धात्मा के अनुभव की बात बताता है तो वे उससे कहते हैं कि यह तो मुक्ति का मार्ग हो ही नहीं सकता।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''धर्म के नाम पर होनेवाले महाव्रतादि के व्यवहार में जिनकी बुद्धि

विमोहित है; वे वस्तुत: परमार्थ को नहीं जानते, वे चैतन्यमूर्ति निजस्वरूप को नहीं पहचानते। बेचारे व्यवहार क्रियाकाण्ड के फन्द में ही फंसे रहते हैं। उन्हें निजस्वरूप के अनुभव के रस का स्वाद प्राप्त नहीं होता। वे जीव अपनी साधिक दो हजार सागर की त्रसपर्याय की स्थिति पूरी करके पुन: एकेन्द्रिय पर्याय में (निगोद की पर्याय) चले जाते हैं। त्रसपर्याय के दो हजार सागर में भी अज्ञानी जीव कौआ, कुत्ता, कीड़ा-मकोड़ा, चींटी-चींटा, मक्खी-मच्छर आदि की दशा में ही अधिक समय बिताकर निगोद चला जाता है।[१]

महाव्रत के परिणाम को तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव कहा है। वे भाव दु:खरूप हैं। मोक्ष अधिकार में उसे ही विषकुम्भ कहा है। हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि पाप के भाव तो महादु:खरूप हैं ही; परन्तु महाव्रतादि का शुभपरिणाम भी जहर का घड़ा है। उनसे भिन्न अन्दर चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा अमृतकुम्भ है। अतीन्द्रिय आनन्दरस के रसिक पुरुष उसके अनुभवरस का पान करते हैं। परन्तु व्यवहार में मुग्ध जीवों को अन्तरदशा की खबर नहीं है। वे बाहर की शरीर की क्रियायें देखकर उन शरीर की क्रियाओं में ही ममत्व धारण करते हैं।[२]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि छिलके सहित चावलों को धान कहे जाने के कारण कुछ नासमझ जगतजन यह नहीं समझ पाते कि खाने योग्य तो चावल ही हैं, उसका छिलका नहीं; उसीप्रकार मुक्ति प्राप्ति की कामनावाले कुछ अज्ञानीजन बाह्यक्रिया, शुभभाव और रत्नत्रय परिणति – इन सभी को मुक्ति का कारण कहे जाने के कारण सभी को एक सा ही मुक्ति का कारण मान लेते हैं। इस भेद को नहीं समझते कि मुक्ति का वास्तविक कारण तो एकमात्र निश्चयरत्नत्रय ही है; नग्नदशा और शुभराग

१.प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ २१६
२. वही, पृष्ठ - २२०-२२१

तो निश्चयरत्नत्रय के सहचारी होने से व्यवहार से मोक्षमार्ग कहे जाते हैं, वे वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्ज्ञानी जीव इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं।

अब आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है–

(स्वागता)

द्रव्यलिंगममकारमीलितै र्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४३॥

(हरिगीत)

यद्यपी परद्रव्य है द्रवलिंग फिर भी अज्ञजन।
बस उसी में ममता धरें द्रवलिंग मोहित अन्धजन॥
देखें नहीं जानें नहीं सुखमय समय के सार को।
बस इसलिए ही अज्ञजन पाते नहीं भवपार को॥२४३॥

यद्यपि द्रव्यलिंग वस्तुतः अन्य द्रव्यस्वरूप है; मात्र ज्ञानस्वरूपी आत्मा ही निज है; तथापि द्रव्यलिंग के एकत्व-ममत्व के द्वारा बन्द हो गये हैं नेत्र जिनके, ऐसे अज्ञानी जीव समयसाररूप आत्मा को नहीं देखते।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(तेईसा सवैया)

जिन्ह के देहबुद्धि घट अंतर, मुनि-मुद्रा धरि क्रिया प्रवांनहि।
ते हिय अंध बंध के करता, परम तत्त कौ भेद न जानहि॥
जिन्ह के हिए सुमति की कनिका, बाहिज क्रिया भेष परमानहि।
ते समकिती मोख मारग मुख, करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि॥

यद्यपि जिनके हृदय में देह के प्रति एकत्व-ममत्व विद्यमान है; तथापि जो मुनिमुद्रा धारण करके बाह्यक्रिया में ही प्रवृत्त रहते हैं; वे हृदय के अंधें साधुजन कर्मबंध ही करते हैं; क्योंकि वे परमतत्त्व भगवान आत्मा का स्वभाव भी जानते हैं।

जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञान की कणिका जाग गई है और बाह्य की क्रिया भी भूमिकानुसार-वेश के अनुसार ही करते हैं; ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव संसार की स्थिति को जानते हुए मोक्षमार्ग की ओर प्रस्थान करते हैं अथवा मोक्ष के मार्ग की ओर प्रस्थान करके संसार की स्थिति को काट देते हैं।

स्वामीजी इस कलश का सार इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"एक समय में तीनलोक व तीनकाल को जाननेवाले भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में सिंहनाद हुआ कि भगवान ! तू निश्चय से परमात्मस्वरूप है; जो परमात्मा की जाति है, वही तेरी जाति है। जिसतरह परमात्मा की सर्वज्ञता, उनका ज्ञान केवलज्ञानरूप प्रगट पर्याय में है; उसीतरह स्वभाव से तेरे अन्दर भी सर्वज्ञत्व शक्ति, सर्वदर्शित्व शक्ति विद्यमान है। तेरा भी सर्वज्ञस्वभाव है और तू भी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट कर सकता है।

इसके विपरीत दया-दान, व्रत-भक्ति आदि के परिणाम राग हैं, अन्यद्रव्य हैं, ये आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। ऐसा होते हुए भी दया-दान-व्रत आदि के परिणाम से धर्म होना मानना सही नहीं है। ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं।

अरे भाई ! तू कौन है ? इसका विचार तो कर ! आचार्य कहते हैं कि तू तो अनन्त और असीम ज्ञान व आनन्दस्वभावी भगवान आत्मा है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वभाव को तू अपने स्व-संवेदनज्ञान में जाने – ऐसा तेरा स्वरूप है। यदि तू अन्यद्रव्यमय क्रियाकाण्ड से आत्मलाभ होना माने तो यह तेरा अज्ञान है, अन्धपना है, अविवेक है। बाह्य लिंग में ममकार करनेवाला निजात्मस्वरूप को नहीं देखता। वस्तुत: तो राग आत्मा को छूता ही नहीं है; तथापि राग की क्रिया से लाभ होना माननेवाला अज्ञानी है, अंधा है, विवेकरहित है। बाह्यलिंग में ममकार करनेवाला निज आत्मस्वरूप को नहीं देखता। आत्मस्वभाव के समीप जाकर देखे तो राग भगवान आत्मा

का स्पर्श ही नहीं करता।[1]

ये शुभराग की क्रियायें तो परद्रव्य के संयोग से हुई उपाधि हैं, यदि तू इनमें ममकार करता है, तो इसका अर्थ यह है कि तू अपने स्वरूप से इन्कार करता है और जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना मानता है। इस द्रव्यलिंग में ममकार होने से तू अंधा हो रहा है। तूने ज्ञानानन्दस्वरूपी अपने भगवान आत्मा को देखने के नेत्र बन्द कर रखे हैं। जैनकुल में जन्म लेकर भी तुझे जिनेन्द्रदेव के कहे तत्त्व की खबर नहीं है। अपनी मतिकल्पना से द्रव्यलिंग में धर्म होना मानता है। यह कैसी विडम्बना है। आचार्य कहते हैं कि ऐसे लोग समयसार को नहीं देखते हैं।[2]''

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि शरीरादि की नग्नदशा एवं शुभभावरूप द्रव्यलिंग परद्रव्यरूप होने से आत्मा का धर्म नहीं हैं। उनमें एकत्व-ममत्व करना अज्ञान है, मिथ्यात्व है। द्रव्यलिंग में धर्म माननेवाले ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को देखने-जानने में असमर्थ हैं। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ २२१
२. वही, पृष्ठ - २२६-२२७

यह कथन तो बहुत स्थूल है

हम लोग जो ये कहते हैं कि एक समय में एक को ही जानेगा, दो को नहीं जानेगा – यह कथन तो बहुत स्थूल है। यह कथन तो उनके लिए कहते हैं, जो दुनियाँ के सभी काम एक साथ ही करना चाहते हों। उनके लिए ही ऐसा कथन करते हैं कि दस काम एक साथ नहीं होंगे, किन्तु जो एक काम में दस काम होते हैं, वो तो एक साथ होते ही हैं। जैसे – रोटी बनाना, यद्यपि एक काम है, तथापि इसमें रोटी बेलना, तवे पर रखना आदि अनेक काम भी एक साथ होते ही हैं। लेकिन यदि कोई प्रवचन भी सुनना चाहे और रोटी भी पकाना चाहे, तो ऐसे ये दो काम एक साथ नहीं हो सकते। इसीप्रकार यह भी कहने लगे कि दो पदार्थ एक साथ जानने में नहीं आते; किन्तु ऐसा नहीं है। अनेक पदार्थों को एकसाथ जानना तो आत्मा का स्वभाव है। **दृष्टि का विषय, पृष्ठ - 10**

समयसार गाथा ४१४

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को गाथा द्वारा कहते हैं, जो इसप्रकार है –

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

(हरिगीत)

व्यवहार से ये लिंग दोनों कहे मुक्तीमार्ग में।
परमार्थ से तो नहीं कोई लिंग मुक्तीमार्ग में ॥४१४॥

व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग – दोनों को ही मोक्षमार्ग कहता है; परन्तु निश्चयनय किसी भी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है –

''श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से द्रव्यलिंग दो प्रकार का कहा गया है; उसे मोक्षमार्ग बतानेवाला कथन मात्र व्यवहारकथन है, परमार्थ कथन नहीं है; क्योंकि उक्त कथन स्वयं अशुद्धद्रव्य के अनुभवनस्वरूप होने से अपरमार्थ है; उसके परमार्थत्व का अभाव है।

श्रमण और श्रमणोपासक के विकल्प से अतिक्रान्त दर्शन-ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्त परिणति मात्र शुद्धज्ञान का ही एक निस्तुष (निर्मल) अनुभवन परमार्थ है; क्योंकि वह अनुभवन स्वयं शुद्धद्रव्य का अनुभवनस्वरूप होने से वस्तुतः परमार्थ है।

इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से परमार्थ मानकर अनुभव करते हैं; वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; किन्तु जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं; वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।''

उक्त कथन का भाव संक्षेप में समेटते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

''व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिए वही परमार्थ है। इसलिए जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं (इसलिए वे ही मोक्ष को प्राप्त करते ह)।

आध्यात्मिकसत्पुरुषश्रीकानजीस्वामी उक्त कथन का मर्म खोलते हुए कहते हैं –

''देखो, कहते हैं कि श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार का द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग है – ऐसी जो प्ररूपणा है वह मात्र व्यवहारनय से है, परमार्थ से नहीं। मुनिदशा में जो व्रत-तप आदि विकल्प और नग्नदशा है, वह सहचारीपने के कारण है, उसे व्यवहार कहा है, वह व्यवहारपने व्यवहार है, किन्तु निश्चय से वह आश्रय करनेलायक नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने स्पष्ट कहा है कि 'मोक्षमार्ग दो नहीं, बल्कि मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग तो नहीं, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् सच्चा निरूपण निश्चय और उपचार निरूपण व्यवहार। इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार के मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है – ऐसे दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग कहना तो आरोपित कथन है।

भावलिंगी सन्त मुनिवरों को पंचमहाव्रतादि के परिणाम नियम से होते हैं, भूमिकानुसार होते ही हैं; परन्तु वे भाव सहचारीपने से होते हैं। वे सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं हैं। उन्हें मोक्षमार्ग कहना आरोपित कथन है, यथार्थ नहीं है। भाई ! यदि तू व्यवहार को व्यवहाररूप से जाने तब तो बराबर है;

परन्तु यदि तू उन्हें धर्म या धर्म का कारण माने तो यह मान्यता सही नहीं है। दो नय हैं – ऐसा जानना गलती नहीं है, किन्तु दोनों नय आश्रय करने लायक हैं – ऐसा मानना भूल है। आश्रय योग्य तो एक शुद्ध निश्चयनय ही है।

अहाहा ! अन्दर में जो पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु त्रिकाल विराजता है, उसकी दृष्टि, ज्ञान व रमणता करने से जो निराकुल निर्विकल्प आनन्द की धारा अन्दर में प्रगट होती है, वह एक ही मोक्षमार्ग है और वही धर्म है। सहचरपने से रहते हुए व्रत आदि के राग को धर्म कहना केवल व्यवहार से ही है, आरोपित है, यथार्थ-परमार्थ नहीं; क्योंकि वह व्यवहार स्वयं अशुद्धद्रव्य के अनुभवस्वरूप होने से उसके परमार्थपने का अभाव है। व्रत-तप-भक्ति आदि अशुद्धद्रव्य के अनुभवरूप है, शुद्धद्रव्य के अनुभव रूप नहीं है। अशुद्धद्रव्य का अनुभव कहो या दुःख का अनुभव कहो – एक ही बात है, उसमें निराकुल आनन्द का अनुभव नहीं है।[1]

निमित्त, व्यवहार और पर्याय व्यवहारनय के विषय हैं, ये परमार्थ नहीं हैं। पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा शाश्वत ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव शुद्ध चिदानन्द प्रभु जो अन्दर में है, वह अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, वही परमार्थ है; क्योंकि उसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। अरे भाई ! यह व्यवहार क्रियाकाण्ड तो सब कर्मधारा है, यह धर्मधारा नहीं है। भूतार्थ अभेद एक जो शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रगट निर्मलरत्नत्रय है, वही धर्म है और वही परमार्थ है। इसलिए कहते हैं कि त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करो – ऐसी भगवान की आज्ञा है।

अहा ! भगवान सर्वज्ञदेव कहते हैं कि हमारे ऊपर जो तेरी दृष्टि है, वह भी छोड़ ! अपने अन्दर विराजित अपने भगवान आत्मा को दृष्टि में ले ! हमारे (सर्वज्ञ के) ऊपर दृष्टि करने से, हमें लक्ष्य में लेने से तुझे राग ही होगा। जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तता है उन्हें निज भगवान

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ -२३०

समयसार का अनुभव नहीं होता।

अहा ! दिगम्बर सन्तों को किसी की कोई परवाह नहीं होती। समाज को जंचे न जंचे, उन्हें इसकी चिन्ता नहीं; वे तो पूर्ण निर्भय एवं नि:शंक होकर वस्तु का जैसा स्वरूप है, मुक्ति का जैसा स्वरूप है; वैसा का वैसा ही निरूपण करते हैं। वे कहते हैं कि जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[1]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि चाहे गृहस्थों का लिंग ऐलक-क्षुल्लक हो, चाहे मुनियों का लिंग नग्नदिगम्बरदशा हो – दोनों ही दशायें द्रव्यलिंग हैं, जो मुक्ति के साक्षात् कारण नहीं है; उन्हें भावलिंग का सहकारी कारण होने से परम्परा से मुक्ति का कारण कह देते हैं; पर मुक्ति का साक्षात् कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावलिंग ही है।

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का अर्थ आत्मख्याति से समान ही करते हैं; तथापि **किंच** कहकर अनेक प्रश्नोत्तरों के माध्यम से संबंधित विषय का स्पष्टीकरण विस्तार से करते हैं; जिसका मूलभाव इसप्रकार है–

'' हे शिष्य ! **पाखण्डी लिंगाणि** आदि सात गाथाओं को पढ़कर द्रव्यलिंग को सर्वथा निषिद्ध नहीं मान लेना; किन्तु यह समझना कि यह तो निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिरूप भावलिंग से रहित यतियों को संबोधन किया (समझाया) है।

यदि तुम पूछो कि किसप्रकार समझाया है तो कहते हैं कि हे तपोधन! तुम द्रव्यलिंगमात्र से सन्तोष मत कर लेना; किन्तु द्रव्यलिंग के आधार से निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प-समाधिरूप परिणमित होने की भावना करना अर्थात् स्वानुभूतिरूप परिणमित होना।

इस पर शिष्य कहता है कि यह तो आपकी कल्पना है कि यहाँ द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया गया है; क्योंकि इस ग्रन्थ में यहाँ दुबारा लिखा गया

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २३१-२३२

है कि **ण वि होदि मोक्खमग्गो लिंगं इत्यादि** – लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है।

इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है। लिंग मोक्षमार्ग नहीं है – इत्यादि कथन से भावलिंगरहित द्रव्यलिंग का निषेध किया गया है, भावलिंग सहित द्रव्यलिंग का नहीं।

इस पर यदि कोई कहे कि यह बात कैसे है? तो उससे कहते हैं कि द्रव्यलिंग का आधारभूत जो शरीर है; उस शरीर के प्रति ममत्व का निषेध किया गया है, द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया गया है।

यदि कोई यह कहे कि यह बात किस रूप में है ? तो उससे कहते हैं कि पहले दीक्षा के समय सर्व परिग्रह का त्याग करते हुए भी देह का त्याग नहीं किया गया था; क्योंकि देह धारण से ज्ञान और ध्यान का अनुष्ठान होता है; शेष परिग्रह के समान देह का पृथक् करना संभव भी नहीं है; तथापि वीतराग ध्यान के काल में अर्थात् स्वानुभूति के समय 'मैं देह हूँ, मैं मुनिलिंगी या गृहस्थलिंगी हूँ' – ऐसे विकल्प व्यवहार से भी नहीं करना चाहिए।

प्रश्न – इस कथन से देह का ममत्व छुड़ाया है, द्रव्यलिंग नहीं – यह कैसे सुनिश्चित करें ?

उत्तर – जं देह णिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते इत्यादि वचनों से। तात्पर्य यह है कि आगम में यह कहा गया है कि अरहंत भगवान देह से निर्ममत्व होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं।

जबतक चावल का बाहरी तुष (छिलका) विद्यमान है, तबतक भीतरी तुष का निकालना संभव नहीं है। अंतरंग तुष के त्याग होने पर बहिरंग तुष का त्याग नियम से होता ही है। इस न्याय से सर्वसंग (परिग्रह) के त्यागस्वरूप द्रव्यलिंग होने पर भावलिंग होगा ही या नहीं होगा – ऐसा कोई नियम नहीं है; किन्तु अंतरंग भावलिंग होने पर सर्वसंग परित्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है – ऐसा नियम है।

यहाँ शिष्य अत्यन्त विनयपूर्वक शंका उपस्थित करता है कि हे भगवन्! जहाँ भावलिंग होता है, वहाँ बाह्य द्रव्यलिंग भी होता ही है – ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि **साहारणासाहारणेत्यादि** आगम का वचन है।

समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि कोई तपस्वी ध्यानारूढ़ हो और किसी ने दुष्टभाव से उन पर वस्त्र डाल दिये; उन्हें वस्त्रों से वेष्टित कर दिया अथवा आभूषण पहना दिये; तब भी वह तपस्वी निर्ग्रन्थ ही है, परिग्रह रहित ही है; क्योंकि उनके पाण्डवादि के समान बुद्धिपूर्वक ममत्व का अभाव है। यद्यपि जो भरत चक्रवर्ती आदि दो घड़ी (अन्तर्मुहूर्त) में मोक्ष गये हैं; वे निर्ग्रन्थरूप में ही मोक्ष गये हैं; तथापि उनके परिग्रहत्याग को लौकिकजन नहीं जानते हैं; क्योंकि उनकी निर्ग्रन्थदशा का काल अत्यल्प था – यह भावार्थ है।

इसप्रकार भावलिंग से रहित मात्र द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं है और भावलिंग सहित संतों को द्रव्यलिंग बाह्य सहकारी कारण है – इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से तेरहवें स्थल की सात गाथायें समाप्त हुईं।''

आचार्य जयसेन ने उक्त कथन में अनेक तर्क-वितर्कों से यह सिद्ध किया है कि नग्न दिगम्बरदशारूप द्रव्यलिंग भावलिंग के बिना कार्यकारी नहीं है, परन्तु मुक्ति के मार्ग में उसका होना अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि यहाँ ४१४ वीं गाथा में समागत प्रकरण समाप्त हो गया है; तथापि आचार्य जयसेन यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करते हैं; जो ३२० वीं गाथा के उपरान्त की गई चर्चा के समान ही अत्यन्त उपयोगी है।

वह चर्चा इसप्रकार है –

''यहाँ शिष्य कहता है कि केवलज्ञान शुद्ध है और छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध है। छद्मस्थों का वह अशुद्धज्ञान शुद्ध केवलज्ञान का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि इसी शास्त्र में कहा है कि **सुद्धं तु वियाणन्तो सुद्धमेवप्पयं**

लहदि जीवो – शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान सर्वथा अशुद्ध नहीं है, वह कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध है।

यद्यपि छद्मस्थ का ज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा शुद्ध नहीं है; तथापि मिथ्यात्व और रागादि से रहित वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र सहित होने से शुद्ध ही है। अभेदनय से छद्मस्थ का वह भेदज्ञान आत्मस्वरूप ही होता है, आत्मानुभूतिस्वरूप ही होता है; इसकारण एकदेशव्यक्तिरूप ज्ञान के द्वारा सकलादेशव्यक्तिरूप केवलज्ञान के हो जाने में कोई दोष नहीं है।

इस पर यदि यह मत व्यक्त किया जाय कि सावरण होने से अथवा क्षायोपशमिक होने से छद्मस्थ का ज्ञान शुद्ध नहीं हो सकता; ऐसी स्थिति में तो फिर किसी भी छद्मस्थ को मोक्ष होगा ही नहीं; क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान यद्यपि एकदेश निरावरण है, तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा नियम से सावरण होने से क्षायोपशमिक ही है।

इस पर भी यदि आपका अभिप्राय यह हो कि छद्मस्थ के शुद्धपारिणामिकभाव होने से उसे मोक्ष हो जायेगा तो यह भी घटित नहीं होगा; क्योंकि केवलज्ञान होने के पहले पारिणामिकभाव शक्तिरूप से शुद्ध है, व्यक्तिरूप से नहीं।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है कि पारिणामिकभाव जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के रूप में तीन प्रकार का है। इसमें अभव्यत्व तो मुक्ति का कारण होता ही नहीं है; अब रहे जीवत्व और भव्यत्व; सो इन दोनों का शुद्धत्व तो तब प्रगट होता है, जब यह छद्मस्थ जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणमित होता है।

यह शुद्धता मुख्यरूप से तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव संबंधी है, पारिणामिकभाव संबंधी बात तो यहाँ गौण है अर्थात् गौणरूप से है। शुद्ध पारिणामिकभाव न तो बंध का कारण है और न मोक्ष का – यह बात पंचास्तिकाय के निम्नांकित श्लोक में स्पष्ट है –

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधा।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः॥

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव मोक्ष को करते हैं, औदयिकभाव बंध करता है और पारिणामिकभाव निष्क्रिय है अर्थात् कुछ नहीं करता।

इससे यह सिद्ध होता है कि निर्विकल्पशुद्धात्मपरिछित्तिलक्षणवाला वीतरागसम्यक्त्व- चारित्र के अविनाभूत अभेदनय से शुद्धात्मानुभूति शब्द से कहे जानेवाला भावश्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होने पर भी मोक्ष का कारण होता है।

एकदेशव्यक्तिलक्षण में कथंचित् भेदाभेदरूप द्रव्यपर्यायात्मक जीव-पदार्थ की शुद्धभावना (स्वानुभूति) की अवस्था में शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयभूत द्रव्य है, ध्यान करने योग्य विषय है और वह शुद्धपारिणामिकभाव ध्यानपर्यायरूप नहीं है; क्योंकि ध्यान की पर्याय नश्वर है।''

आज भी आत्मार्थी जैनसमाज में ऐसे लोग हैं, जो यह मानते हैं कि एकमात्र परमपारिणामिकभावरूप त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा ही मुक्ति का कारण है; अन्य क्षयोपशमादिभाव नहीं।

इसप्रकार के लोग आचार्य जयसेन के समय में भी रहे होंगे। इसीकारण उन्हें इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने का भाव आया।

यद्यपि वे स्वयं इस विषय की चर्चा करते हुए ३२० वीं गाथा की टीका में इस भाव को व्यक्त कर चुके थे; तथापि यहाँ पुनः उसी विषय पर और अधिक स्पष्टता से प्रकाश डालने का विकल्प उन्हें आया।

वे यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि मोक्षमार्ग तो पर्यायरूप ही होता है, परिणमनरूप ही होता है; चूंकि त्रिकालीध्रुव परिणमनरूप नहीं है, निष्क्रिय है; अत: बंध-मोक्ष का कारण भी नहीं है; बंध के कारण तो औदयिकभाव हैं और मुक्ति के कारण औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं। पारिणामिकभाव द्रव्य की अपेक्षा शुद्ध है और ये औपशमिकादिभाव पर्यायों की अपेक्षा शुद्ध हैं तथा औदयिकभाव अशुद्ध हैं; इसीकारण बंध के भी कारण हैं।

इसप्रकार अन्त में यही सुनिश्चित रहा कि औपशमकादि शुद्धभावों से परिणमित निश्चयरत्नत्रयधारी जीव मुक्तिमार्गी है और ये निश्चयरत्नत्रय के भाव मुक्ति का मार्ग है। यह निश्चयरत्नत्रयभाव ही भावलिंग है, जो मुक्ति का वास्तविक कारण है और इसके साथ अनिवार्यरूप से होनेवाले महाव्रतादि के शुभभाव और नग्नदिगम्बरादि क्रियारूप द्रव्यलिंग उपचरित कारण हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी अनिवार्य उपस्थिति होने पर भी वे मुक्ति के वास्तविक कारण नहीं हैं।

अब इस प्रकरण को समेटते हुए इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥२४४॥

(हरिगीत)

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से।
बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो॥
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से॥२४४॥

अधिक कहने से क्या लाभ है, अधिक दुर्विकल्प करने से भी क्या लाभ है; यहाँ तो मात्र इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस एक परमार्थस्वरूप आत्मा का ही नित्य अनुभव करो; निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होनेरूप समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है।

यहाँ समयसार का अर्थ निश्चय से परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा है और व्यवहारनय से समयसार नामक ग्रन्थाधिराज है।

इस जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु वह निज भगवान आत्मा ही है, जिसके आश्रय से निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसे निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने का नाम सम्यक्चारित्र है; वह त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा ही वास्तविक आत्मा है, अपने लिए अपने आत्मा से महान अन्य कुछ भी नहीं है।

इसीप्रकार जगत में जितने शास्त्र हैं; उन सब शास्त्रों में समयसार सबसे श्रेष्ठ शास्त्र है; उससे महान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है।

इसप्रकार इस कलश में समयसाररूप शुद्धात्मा और समयसार नामक ग्रन्थाधिराज की महिमा बताई गई है; साथ में यह आदेश दिया गया है, उपदेश दिया गया है कि अब इस विकल्पजाल से मुक्त होकर निज आत्मा की शरण में जावो ! आत्मा के कल्याण का एक मात्र उपाय आत्मानुभव ही है; अन्य कुछ नहीं।

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी दो छन्दों में करते हैं; जिनमें पहला है इकतीसा सवैया और दूसरा है दोहा।

(सवैया इकतीसा)

आचारज कहैं जिन वचन कौ विसतार,
अगम अपार है कहैंगे हम कितनौ।

बहुत बोलिबे सौं न मकसूद चुप्प भली,
बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनौ॥
नानारूप जलप सौं नाना विकलप उठैं,
तातैं जैतौ कारज कथन भलौ तितनौ।
सिद्ध परमातमा कौ अनुभौ अभ्यास कीजै,
यहै मोख-पंथ परमारथ है इतनौ॥

आचार्यदेव कहते हैं कि जिनवचनों का विस्तार तो अगम है, अपार है; हम कितना कह सकते हैं; इसलिए बहुत बोलने से क्या लाभ है ? बहुत बोलने से तो चुप्पी भली है, चुप रहना ही श्रेयस्कर है। यदि बोलना ही हो तो मात्र उतना ही बोलो कि जितना बोलना प्रयोजनभूत हो; क्योंकि बहुत अधिक बोलने से अनेक विकल्प खड़े होते हैं; इसलिए जितना कार्य हो, बस उतना बोलना ही भला है।

सिद्धपरमात्मा अथवा सिद्धपरमात्मा के समान अपने आत्मा के अनुभव का अभ्यास करिये; क्योंकि मोक्ष का असली मार्ग यही है। परमार्थकथन तो मात्र इतना ही है।

(दोहा)

सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्रिग दौर।
मुकति-पंथ साधन यहै, वागजाल सब और॥

शुद्धात्मा का दर्शन, ज्ञान और अनुभव (लीनता) रूप क्रिया अर्थात् चारित्र – मुक्ति का मार्ग तो बस इतना ही है और सब तो वागजाल है, वाणी का विलास है, कथनमात्र है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"बस होओ ! बस होओ !! बहुत कहने से और बहुत विकल्पों से बस होओ !!! बारह अंगों का सार तो एकमात्र यही है कि – एकमात्र परमार्थ का ही अनुभव करो ! चारों अनुयोगों का एक यही सार है।

पूर्णानन्द का नाथ अभेद एकरूप जो अन्दर में ध्रुवरूप त्रिकाल विद्यमान

है, उस एक का ही आलम्बन लो, उसी का अनुभव करो ! भेद की बातें तो बहुत सुनी, अब तो अभेद को ग्रहण करना है। यहाँ मात्र यही कहना है कि व्यवहार के दुर्विकल्पों से विराम लेकर एक अभेद को ही ग्रहण करो।

बीच में कभी यदा-कदा भेद के विकल्प आते अवश्य हैं, परन्तु ये तो अभेद को जानने के लिए हैं।[१]

देखो, जिसतरह केवली भगवान की जो अनन्त शक्तियों की व्यक्तता पर्याय में प्रगट हुई है, वह अन्दर में जो थी, वही प्रगट हुई; उसीतरह भगवान ! तुझमें भी सब शक्तियाँ त्रिकाल मौजूद हैं, उस अपने ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि केन्द्रित कर और उसका आलम्बन लेकर उसी का निरन्तर अनुभव कर ! उसी के फल में सादि-अनन्त समाधि सुख प्रगट होगा।[२]

अहो ! चैतन्य चमत्कार से भरी हुई परम अद्भुत वस्तु एक आत्मा ही है। ऐसे भगवान आत्मा का ही निरन्तर अनुभव करो।

प्रश्न – आपने आत्मा का अनुभव करने को कहा, सो यह तो ठीक बात; परन्तु उसका साधन भी तो कुछ होगा न !

उत्तर – इसका अन्य कोई साधन नहीं है। आत्मा का अनुभव करने के लिए व्यवहाररत्नत्रय की भी अपेक्षा नहीं है। अरे ! अनुभव के काल में जो अनन्त गुणों की पर्यायें स्वत: प्रगट हुईं, वहाँ जब एक गुण की पर्याय को दूसरे गुण की पर्याय की अपेक्षा नहीं होती तो व्यवहाररत्नत्रय तो बाहर की वस्तु है, उसकी अपेक्षा कैसे हो सकती है ? आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय शरीर के, कर्म के और राग के आधार से नहीं हैं; व्यवहाररत्नत्रय निश्चय का साधन नहीं है।

आत्मा में जो करण नाम का गुण है, वह साधन है और आधार नाम का गुण आधार है। साधन कोई अन्य हो और आधार कोई अन्य – ऐसा

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २३२

२. वही, पृष्ठ - २३२

नहीं होता। अनन्त गुणमय आत्मा के एक गुण का आधार दूसरा गुण नहीं होता। तो फिर स्वानुभव की दशा का दूसरा गुण आधार हो – ऐसा कैसे संभव है ? पर्याय को भी उसी पर्याय का ही आधार है तथा पर्याय ही स्वयं पर्याय का साधन है। प्रत्येक पर्याय इतनी स्वतंत्र है।[1]"

उक्त कलश का सार मात्र इतना ही है कि जो कुछ कहना था; वह विस्तार से कहा जा चुका है; इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। जिसकी समझ में आना होगा, उसकी समझ में आने के लिए, देशनालब्धि के लिए इतना ही पर्याप्त है; जिसकी समझ में नहीं आना है, उसके लिए कितना ही क्यों न कहो, कुछ भी होनेवाला नहीं है। अत: अब हम (आचार्यदेव) विराम लेते हैं; क्योंकि आखिर यह प्रतिपादन भी विकल्पजाल ही तो है; तुम भी विकल्पों से विराम लेकर स्वयं में समा जाओ और हम तो स्वयं में जाते ही हैं।

शुद्धात्मा के स्वरूप का प्रतिपादक यह ग्रन्थाधिराज अब समापन की ओर जा रहा है। इसलिए अब अन्तिम गाथा ४१५ में समयसार के अध्ययन का फल बताते हुए इसके माध्यम से निज आत्मा को जानकर उसी में स्थित होने की प्रेरणा दी जा रही है।

उक्त अन्तिम गाथा की उत्थानिकारूप जो कलश लिखा गया है, वह इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानंदमयध्यक्षतां नयत्॥२४५॥

(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को करता हुआ प्रत्यक्ष।
अरे पूर्ण अब हो रहा यह अक्षय जगचक्षु॥२४५॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २३६

आनन्दमय विज्ञानघन शुद्धात्मारूप समयसार को प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अद्वितीय अक्षय जगतचक्षु समयसार नामक ग्रन्थाधिराज पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

पाण्डे राजमलजी इस छन्द का जो अर्थ करते हैं; उसका भाव संक्षेप में इसप्रकार है –

''समस्त ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञाता, शाश्वत विज्ञानघन आत्मद्रव्य को प्रत्यक्षरूप अनुभव करता हुआ शुद्धज्ञानप्रकाश अब पूर्णता को प्राप्त होता है। भावार्थ यह है कि यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पूर्ण होता है।''

पाण्डे राजमलजी की कलश टीका का आधार लेकर कविवर बनारसीदासजी तीन दोहे लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(दोहा)

जगत चक्षु आनंदमय, ग्यान चेतनाभास।
निरविकलप सासुत सुथिर, कीजै अनुभौ तास॥
अचल अखंडित ग्यानमय, पूरन वीत ममत्व।
ग्यान गम्य बाधा रहित, सो है आतम तत्त्व॥
सर्व विसुद्धी द्वार यह, कह्यो प्रगट सिवपंथ।
कुन्दकुन्द मुनिराज कृत, पूरन भयौ गरंथ॥

यह आत्मतत्त्व अचल, अखण्डित ज्ञानमय है, ममत्व से रहित परिपूर्ण है, सर्वप्रकार की बाधाओं से रहित ज्ञानमय है, सम्पूर्ण जगत को देखने के लिए चक्षु समान है, आनन्दमय है, ज्ञानचेतना से जानने में आनेवाला शाश्वत और स्थिर है; अत: हे भव्य ! निर्विकल्प होकर उसी का अनुभव करो।

इसप्रकार यह साक्षात् मुक्ति का मार्ग सर्वविशुद्ध द्वार कहा गया। अब यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द मुनिराज द्वारा रचित यह समयसार ग्रथ समाप्त होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि राजमलजी पाण्डे के समान बनारसीदासजी भी यहाँ सर्वविशुद्ध अधिकार की समाप्ति बताते हैं; पर साथ में यह भी कह देते हैं कि यहाँ सर्वविशुद्ध अधिकार के साथ-साथ समयसार ग्रन्थाधिराज भी समाप्त हो रहा है।

स्वामीजी उक्त कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यहाँ मूल कलश में भगवान आत्मा के आनन्दमय और विज्ञानघन – ये दो विशेषण कहे हैं; इनका अर्थ है कि समयसार ग्रन्थ का वाच्य भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाश का पुंज और आनन्द का रसकन्द है।[१]

आनन्दमय विज्ञानघन प्रभु आत्मा का अपने प्रगट श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष वेदन करना, स्वसंवेदन करना ही धर्म है।[२]

जिसतरह आत्मा लोकालोक को जाननेवाला-देखनेवाला अद्वितीय चक्षु है; उसीतरह लोकालोक को देखने-जाननेवाला यह शास्त्र अद्वितीय जगच्चक्षु है।[३]

जिसतरह भगवान आत्मा अक्षय है; उसीप्रकार उसे बतानेवाला यह परमागम अक्षय है, भगवान जैन परमेश्वर की वाणी प्रवाहरूप अक्षय है। जो ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धचैतन्यवस्तु का भान करके उसी में स्थिर हो जाता है, उसे पूर्ण परमात्मपद की प्राप्ति हो जाती है।[४]"

उक्त कथन में स्वामीजी समयसार ग्रन्थाधिराज की तुलना भगवान आत्मा से करते हुए कहते हैं कि भगवान आत्मा के समान ही यह ग्रन्थराज भी आत्मा के साथ लोकालोक को दिखानेवाला अद्वितीय जगतचक्षु है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २३७
२. वही, पृष्ठ - २३७
३. वही, पृष्ठ -२३७
४. वही, पृष्ठ -२३९-४०

समयसार गाथा ४१५

अब आचार्य कुन्दकुन्ददेव ग्रन्थ का समापन करते हुए इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का फल उत्तम सुख की प्राप्ति बताते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

(हरिगीत)

पढ़ समयप्राभृत ग्रंथ यह तत्त्वार्थ से जो जानकर।
निज अर्थ में एकाग्र हों वे परमसुख को प्राप्त हों ॥४१५॥

जो आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर, अर्थ और तत्त्व से जानकर इसके विषयभूत अर्थ में स्वयं को स्थापित करेगा; वह उत्तमसुख (अतीन्द्रिय आनन्द) को प्राप्त करेगा।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"जो विश्वप्रकाशक होने से विश्वमय समयसारभूत भगवान आत्मा का प्रतिपादन करता है; इसलिए स्वयं शब्दब्रह्म के समान है; ऐसे इस समयसार शास्त्र को जो आत्मा भलीभांति पढ़कर विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ परमार्थभूत, चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ इस शास्त्र को अर्थ से और तत्त्व से जानकर; उसी के अर्थभूत एक पूर्ण विज्ञानघन भगवान परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा; वह आत्मा उसी समय साक्षात् प्रगट होनेवाले एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव से सुस्थित और निराकुल होने से जो परमानन्द शब्द से वाच्य उत्तम और अनाकुल सुखस्वरूप स्वयं ही हो जावेगा।"

इस गाथा और टीका का भाव भावार्थ में स्पष्ट करते हुए जयचन्दजी

छाबड़ा लिखते हैं–

''इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय का अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा। उसका कहनेवाला यह शास्त्र है और आत्मा तो समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से यह समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थों का कहनेवाला होता है उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांगशास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृत शास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्म को (अर्थात् शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्र को पढ़कर उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा; वह परब्रह्म को प्राप्त करेगा और उससे जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है – ऐसे उत्तम, स्वात्मीक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुख को प्राप्त करेगा। इसलिए हे भव्य जीवो ! तुम अपने कल्याण के लिए इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसी का स्मरण और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति होगी। ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं –

''देखो, इस अन्तिम गाथा में तो आचार्यदेव ने मानो सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार अर्थात् मक्खन ही मक्खन भर दिया है। अहा ! आचार्य कुन्दकुन्द लगभग दो हजार वर्ष पूर्व संवत् ४९ में भरतक्षेत्र के महा मुनिवर हो गये हैं। आत्मध्यान में लवलीन और निज आनन्दस्वरूप में निरन्तर रमण करनेवाले वे नग्न दिगम्बर सन्त महामुनिवर थे। वे यहाँ से महाविदेहक्षेत्र में भगवान सीमन्धरस्वामी के पास ले जाये गये थे। वे वहाँ आठ दिन रहे थे। साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। भले ही यह समयसार ग्रन्थ उस घटना के बाद ही लिखा गया; परन्तु इसकी प्रामाणिकता या महिमा का आधार उनके विदेहगमन और सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि

सुनकर लिखना मानना अच्छा नहीं है, बल्कि इसकी महिमा तो आगम का आधार, युक्तियों का आलम्बन और स्वानुभव है, जो हर अन्तर्मुहूर्त में करते थे।[१]

चैतन्य के नूर का पूर भगवान आत्मा स्वपरसहित सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती लोकालोक का प्रकाशक ज्ञायकस्वभावी होने से विश्वमय है, सम्पूर्ण लोकालोक का ज्ञायक है; पर कर्त्ता नहीं। आत्मा परपदार्थ की क्रिया कर ही नहीं सकता; क्योंकि पर में कुछ भी करने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है और उसमें वैसी सामर्थ्य भी नहीं है।[२]

लक्ष्मी का भण्डार भगवान आत्मा विश्व का प्रकाशक होने से विश्वमय है और ऐसे आत्मा का प्रतिपादक होने से यह शास्त्र भी शब्दब्रह्म है। जिस अपेक्षा भगवान की वाणी (दिव्यध्वनि) पूर्ण शब्दब्रह्म है, उसी अपेक्षा ऐसे साक्षात् परमब्रह्म के प्रतिपादक, तत्त्वों का प्रतिपादन करनेवाले इस शास्त्र को अपने हित के लक्ष्य से सबको पढ़ना चाहिए।[३]

भाई ! यह तो भव का अभाव करनेवाला परमहितकारी शास्त्र है। इस भव का मूल एक मिथ्यात्व है। शास्त्र पढ़कर निजस्वरूप का निर्णय करना मिथ्यात्व का नाश करने का उपाय है। स्वस्वरूप का निर्णय करना ही इस समयसार शास्त्र का सार है, प्रयोजन है।

'अर्थ' व 'तत्त्व' को जानने की जो बात कही है, उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा जो त्रिकाली वस्तु है, वह तो है अर्थ और उसका जो ज्ञान स्वभाव है वह है तत्त्व। जिसप्रकार सोना है अर्थ और उसका पीलापन, भारीपन, चिकनापन बहुमूल्यपना आदि स्वर्णत्व है उसका तत्त्व। आत्मा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य अर्थ है और ज्ञान, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता आदि

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृ. २४०
२. वही, पृष्ठ -२४१
३. वही, पृष्ठ - २४२

गुणस्वभाव उसके तत्त्व हैं।[१]

आत्मवस्तु अर्थ है और ज्ञान उसका तत्त्व। उसे जानकर, तत्त्व सहित अर्थ का जानकर तू अर्थ में, आत्मपदार्थ में स्थिर हो जा। इससे तेरी दशा उत्तम आनन्दमय हो जायेगी।[२]

द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को ही जानकर अर्थभूत भगवान आत्मा में एक, अभेद, पूर्ण विज्ञानघन परमब्रह्म में दृष्टि एकाग्र करना, उसी में स्थित होना, ठहरना ही मुक्ति का मार्ग है। शेष बाहरी क्रिया और पढ़ना/पढ़ाना आदि सब निस्सार है। आत्मा परमब्रह्म विज्ञानघन है; उसी में सर्वथा पुरुषार्थ कर स्थित होना – यही एकमात्र सुखी होने का सच्चा उपाय है।[३]

वस्तुत: धर्म का स्वरूप सर्वज्ञस्वभावी, सम्पूर्ण विश्व को जानने की सामर्थ्य से सम्पन्न है। ऐसा विश्वप्रकाशक परब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा को कहनेवाला होने से यह शास्त्र शब्दब्रह्म समान है। सर्वप्रकाशक आत्मा परबह्म है तथा उसे बतानेवाला यह शास्त्र शब्दब्रह्म है।[४]''

स्वामीजी के उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से आई है कि यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द सीमन्धर परमात्मा के दर्शनार्थ विदेहक्षेत्र गये थे और वहाँ से आकर समयसार लिखा था; तथापि इसकी प्रामाणिकता का आधार सीमन्धरस्वामी की वाणी नहीं; बल्कि उनका स्वयं का अनुभव और आचार्य परम्परा से प्राप्त भगवान महावीर की वाणी है।

इस विषय की विस्तृत चर्चा समयसार अनुशीलन भाग १ के पृष्ठ ५५-५६ पर पाँचवी गाथा के अनुशीलन में तो की ही गई है। साथ ही इसी की चर्चा मैंने **आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम** नामक पुस्तक

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २४२
२. वही, पृष्ठ - २४४
३. वही, पृष्ठ - २४५
४. वही, पृष्ठ - २४७

में तथा **पंच परमागमों की प्रस्तावना** में भी विस्तार से की है; जिन्हें विशेष जानने की इच्छा हो, वे उक्त प्रकरण का गहराई से अध्ययन करें।

यद्यपि आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ आत्मख्याति के समान ही करते हैं; तथापि अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप सोदाहरण समझाते हुए तर्क, युक्ति और आगम से सिद्ध करते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में भी जब सम्यग्दर्शन को परिभाषित किया तो यही लिखा है कि **तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तात्पर्य यह है कि सात तत्त्वों को तत्त्व और अर्थ से जानकर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

यहाँ भी समयसार के प्रतिपाद्य को तत्त्व और अर्थ से जानकर उसी में जमने-रमने वालों को उत्तम सुख की प्राप्ति होती है – यह कहा गया है।

इसके उपरान्त आत्मख्याति के कर्त्ता आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका का समापन करते हुए इस अधिकार के अन्तिम कलश में कहते हैं कि उक्त सम्पूर्ण कथन से अन्ततोगत्वा यही सिद्ध किया गया है कि आत्मा ज्ञानमात्र है।

कलश मूलत: इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्॥२४६॥

(दोहा)

इस प्रकार यह आतमा अचल अबाधित एक।
ज्ञानमात्र निश्चित हुआ जो अखण्ड स्वसंवेद्य॥२४६॥

इसप्रकार जो अखण्ड है, अचल है, अबाधित है, एक है और स्वसंवेद्य है; उस आत्मा का तत्त्व ज्ञानमात्र अबाधित सिद्ध हुआ।

न मालूम क्यों, राजमलीय कलश टीका में इस कलश का अर्थ उपलब्ध

नहीं होता है। इसकारण पाण्डे रालमलजी का अनुसरण करनेवाले कविवर बनारसीदासजी ने भी कोई ऐसा छन्द नहीं लिखा, जो इसप्रकार के भाव का पोषक हो । ऐसा पूर्व में अनेक स्थानों पर हुआ है – इससे प्रतीत होता है कि कविवर बनारसीदासजी भी पूर्णत: कलश टीका पर ही निर्भर रहे हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि धंधे-व्यापार में व्यस्त इस कवि हृदय व्यापारी का प्राकृत-संस्कृत पर उतना अधिकार न हो कि जिसके बिना आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र को सीधा समझना संभव हो।

एक बात और भी है कि उस समय समयसार व आत्मख्याति की कोई भी हिन्दी टीका तो उपलब्ध थी नहीं; एकमात्र राजमलीय कलश टीका ही एक ऐसा साधन थी कि जिसके माध्यम से बनारसीदासजी समयसार का मर्म समझ सके थे अत: उन्होंने उसी को आधार बनाकर नाटक समयसार की रचना की है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ कहते हैं कि इसप्रकार आत्मा का तत्त्व परमार्थस्वरूप ज्ञानमात्र है – ऐसा निश्चित हो गया।[१]

यद्यपि अनेक ज्ञेयाकारों से और प्रतिपक्षी कर्मोदय के निमित्त से यह खण्ड-खण्ड दिखाई देता है; परन्तु ज्ञानमात्र आत्मा में कोई खण्ड नहीं है। ज्ञेयों को जानने से आत्मा ज्ञेयाकार नहीं हो जाता।

ज्ञेय शब्द ही यह दर्शाता है कि इसको जाननेवाला कोई ज्ञान है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और सारा विश्व ज्ञेयरूप से उस ज्ञान में जाना जाता है, ज्ञात होता है।[२]

यहाँ दो बातें कहीं हैं – १. आत्मा ज्ञानमात्रस्वरूप वाली वस्तु है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २४७-२४८

२. वही, पृष्ठ - २४९-२५०

शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, रागादि विकार आत्मा नहीं हैं और अन्य जीव पंचपरमेष्ठी आदि भी निज आत्मा नहीं हैं तथा आत्मा ज्ञानमात्र वस्तु होने से समस्त जगत को जानने की सामर्थ्यरूप होने से उसे जानता तो है; परन्तु उन ज्ञेयों को जानने से वह पर का कर्ता नहीं हो जाता।

२. वह ज्ञानमात्र वस्तु अखण्ड है, अनन्त ज्ञेयों को जानते हुए भी वह ज्ञेयाकाररूप नहीं हो जाती। ज्ञानाकार ही रहती है। सबको जाननेवाला ज्ञान स्वयं अपने कारण ही ज्ञानाकारपने होता है, ज्ञेयाकारों के कारण यहाँ ज्ञान नहीं होता। उनके कारण ज्ञान खण्डित भी नहीं होता। ज्ञान तो अखण्ड, अभेद स्वभाव से ही रहता है।[१]

अब कहते हैं कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व अचल है। 'अचल है' अर्थात् आत्मा ज्ञानरूप से परज्ञेयरूप या जड़रूप नहीं हो जाता। सदा ज्ञानरूप ही रहता है।[२]

अब कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वसंवेद्य है। स्वयं स्वयं से ही स्वसंवेदन ज्ञान में जानने में आता है, ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा परज्ञेयों को जानता है, इसकारण वह परवेदनमय नहीं हो जाता। वह सदा स्वसंवेद्य ही है। अपना व पर का ज्ञान करता है; किन्तु वेदन-संवेदन तो अपने स्वरूप का ही करता है।

अब कहते हैं कि आत्मतत्त्व अबाधित है। किसी खोटी या मिथ्या युक्ति से बाधित नहीं होता। यहाँ कोई यह कह सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से क्या एकान्त नहीं हो जायेगा ?

समाधान यह है कि एकान्त नहीं है; क्योंकि आत्मा को जो ज्ञानस्वरूप कहा – इसमें 'ज्ञान है' – ऐसा कहने से आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व होने से 'अस्तित्व' गुण आ गया। 'यह ज्ञान ही है' – इसप्रकार इसमें श्रद्धागुण

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १०, पृष्ठ - २५१
२. पृष्ठ - २५१-२५२

भी आ गया। 'ज्ञान में स्थिरता करना' इस कथन में चारित्रगुण भी आ गया। 'ज्ञान ही महिमावन्त है इसप्रकार प्रभुत्व गुण आ गया। ज्ञानमात्र कहने में अकेला ज्ञान ही नहीं आता, इसमें तो अभेदरूप से अनन्तगुण समा जाते हैं।' 'ज्ञानमात्र' वस्तु में उसके अनन्त गुणों का निषेध नहीं है, बल्कि शरीरादि और रागादि परपदार्थों का निषेध है। इसप्रकार ज्ञानमात्र वस्तु कहने से एकान्त नहीं है।[१]''

इस कलश में यह कहा गया है कि आत्मा ज्ञानमात्र निश्चित हुआ। आत्मा को ज्ञानमात्र कहने का सहेतुक स्पष्टीकरण पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में करते हैं; जो इसप्रकार है –

''यहाँ आत्मा का निजस्वरूप ज्ञान ही कहा है कि इसका कारण यह है कि आत्मा में अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिए वे अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं – किसी अवस्था में होते हैं और किसी अवस्था में नहीं होते, इसलिए वे अव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्मा का (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन में और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिए उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है; इसलिए यहाँ इस ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का तत्त्व कहा है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है; इसलिए इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में हैं ही नहीं; 'ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का और वेदान्तियों का मत आ जाता है; इसलिए ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय से कोई मुनिव्रत

१. वही, पृष्ठ - २५१-२५२

भी पाले और आत्मा का – ज्ञानमात्र का – ध्यान भी करे तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायों के कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये; किन्तु मोक्ष का साधन तो नहीं होता। इसलिए स्याद्वाद से यथार्थ समझना चाहिए।''

इसप्रकार इस कलश में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा ज्ञानमात्र है – यह बात अबाधित रूप से सिद्ध हो गई।

'आत्मा ज्ञानमात्र ही है' – इस कथन का वास्तविक अर्थ क्या है – इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति के परिशिष्ट में स्वयं प्रश्न उपस्थित कर उसका उत्तर देते हुए विस्तार से किया है तथा आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति के अन्त में इस पर प्रकाश डाला है।

अत: यहाँ इस प्रकरण का मंथन अभीष्ट नहीं है; क्योंकि आगे चलकर सहज ही इस पर विस्तार से चर्चा होनेवाली है।

प्रत्येक अधिकार के समान ही इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के समापन में भी इस अधिकार की विषयवस्तु को समेटते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार ह –

(सवैया)

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द,
करता न भोगता न परद्रव्यभाव को।
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि,
ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभाव को॥
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूँ भजै सदीव,
ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगाव को।
कर्म कर्मफलरूप चेतना कूँ दूरि टारि,
ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भाव को॥

सदा ही सर्वविशुद्धज्ञानरूप रहनेवाला चैतन्य और आनन्दरूप यह चिदानन्द आत्मा परद्रव्य और परभावों को न तो करता ही है और न भोगता ही है। इस लोक में जितने भी मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थ हैं; व

सभी ज्ञानरूप नहीं हैं, आत्मा से भिन्न ही हैं; आत्मा उनके अभावरूप है और वे भी आत्मा के अभावरूप हैं।

ऐसा जानकर ज्ञानीजीव सदा ही अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भजन करते हैं, उसे निजरूप जानते-मानते हैं और उसमें लीन रहना चाहते हैं; अन्य किसी से भी उन्हें कोई लगाव नहीं रहता। वे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को दूर से छोड़कर शुद्धभावरूप ज्ञानचेतना का ही अभ्यास करते हैं।

इसप्रकार यहाँ आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार समाप्त होता है। अब आगे आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में परिशिष्ट के रूप में स्याद्वाद की शुद्धि के लिए उपाय-उपेय भाव पर विशेष चर्चा करेंगे; जिसमें आत्मा की ४७ शक्तियों की भी चर्चा होगी और आत्मा के 'ज्ञानमात्र' विशेषण का स्पष्टीकरण भी विस्तार से किया जायेगा।

इसीप्रकार आचार्य जयसेन भी परिशिष्ट में इसी विषय को स्पष्ट करेंगे। इन सभी परिशिष्टों का भी यथास्थान अनुशीलन किया जायेगा।

(सोरठा)

समयसार है सार और सार कछु है नहीं।
महिमा अपरम्पार समयसारमय आपकी ॥ ●

अपेक्षा वस्तु में नहीं ज्ञान में लगती है

अरे भाई ! **अपेक्षा वस्तु में नहीं लगानी है; उसे समझने में लगानी है।** यह तो हमारे ज्ञान और भाषा की कमजोरी है कि अपेक्षा के बिना समझ नहीं पाते हैं। केवलज्ञानी को सम्पूर्ण ज्ञान होने से अपेक्षा की जरूरत ही नहीं है। ये **अपेक्षायें तो श्रुतज्ञान में लगती हैं, नयों में लगती हैं। इन अपेक्षाओं का निषेध भी नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अपेक्षाओं से इंकार करने का तात्पर्य नयों से ही इंकार करना है।** – दृष्टि का विषय, पृष्ठ - 33

समयसार : परिशिष्ट

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित समयसार का अन्तिम अधिकार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार भी पूर्ण हो जाता है तथा ४१५ गाथाओं की आत्मख्याति टीका और उसमें समागत २४६ कलश भी पूर्ण हो जाते हैं।

इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र परिशिष्ट के रूप में कुछ नया प्रमेय उपस्थित करते हुए कुछ कलश एवं टीका लिखते हैं।

क्षुल्लक मनोहरलालजी वर्णी सहजानन्दजी ने समयसार व आत्मख्याति पर लिखी अपनी सप्तदशांगी टीका यहीं समाप्त कर दी है।

आत्मख्याति में समागत परिशिष्टों की टीका भी नहीं लिखी और न उक्त संदर्भ में कोई टिप्पणी ही की है। उन्होंने ऐसा क्यों किया – इस संदर्भ में कुछ भी कहना हमें अभीष्ट नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा आत्मख्याति के परिशिष्ट में प्रस्तुत नये प्रमेय की सूचना देनेवाला २४७ वाँ कलश इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते॥२४७॥

(कुण्डलिया)

यद्यपि सब कुछ आ गया कुछ भी रहा न शेष।
फिर भी इस परिशिष्ट में सहज प्रमेयविशेष॥
सहज प्रमेय विशेष उपायोपेय भावमय।
ज्ञानमात्र आतम समझाते स्याद्वाद से॥
परमव्यवस्था वस्तुतत्त्व की प्रस्तुत करके।
परम ज्ञानमय परमातम का चिन्तन करते॥२४७॥

इस समयसार नामक परमागम में आत्मवस्तु का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी अब यहाँ स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेयभाव के संबंध में थोड़ा-बहुत चिन्तवन फिर से करते हैं।

इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्रदेव अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि यद्यपि समयसार की ४१५ गाथाओं में आत्मवस्तु का स्वरूप अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा जा चुका है और उसकी टीका करते हुए मैंने भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर वह सब कुछ लिख दिया है, जो इस संदर्भ में लिखा जा सकता था; तथापि इस समयसार ग्रन्थाधिराज के स्वाध्याय करने से कुछ लोगों को ऐसी आशंका हो सकती है कि इसमें एकान्त से कथन है; क्योंकि इसमें आत्मा को सर्वत्र ही एक ज्ञानमात्र कहा गया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि उन लोगों की आशंका दूर करने के लिए मैं इस स्याद्वाद अधिकार में थोड़ा-बहुत और कुछ कहना चाहता हूँ। मैं यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि ज्ञानमात्र शब्द में अनन्त गुण व्याप्त हैं; मात्र शब्द का उपयोग तो परद्रव्यों के निषेध के लिए है। ज्ञानमात्र कहने में एकान्त नहीं, अनेकान्त ही है।

यह कलश आचार्य अमृतचन्द्र का प्रतिज्ञावाक्य है। वे प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि मैं इस अधिकार में यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि समयसार में जो कुछ भी कहा गया है; वह अनेकान्तरूप ही, स्याद्वादस्वरूप ही है; उसमें एकान्त की गंध भी नहीं है। वे अपनी प्रतिज्ञा को आद्योपान्त बखूबी निभाते भी हैं।

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''देखो, भगवान ने केवलज्ञान में आत्मवस्तु को जैसा देखा है, उसकी सिद्धि के लिए समयसार ग्रन्थ में अबतक भरपूर कहा जा चुका है; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र स्याद्वाद की शुद्धि और वस्तुतत्त्व की व्यवस्था के विषय में कुछ और विशेष कहना चाहते हैं।

'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षा से और 'वाद' अर्थात् कथन करना।

किसी अपेक्षा से कथन करने का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्तमय वस्तु को अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु को किसी न किसी अपेक्षा से कहने की शैली को स्याद्वाद कहते हैं।[1]

यहाँ सम्यग्दर्शन आदि रूप धर्म की बात नहीं है। यहाँ तो वस्तु को धारण करनेवाले भाव को धर्म कहा है। इस रीति से यहाँ गुण एवं पर्यायों को धर्म कहा है। पुण्य-पाप के भावों को भी जीव ने एकसमय की पर्याय में धारण कर रखा है। इसकारण उन्हें भी धर्म कहते हैं। यहाँ अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि धर्मों के चौदह बोलों द्वारा स्याद्वाद की सिद्धि करेंगे।

आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से इसमें शरीरादि परद्रव्यों की नास्ति आ जाती है। इसप्रकार ज्ञानमात्रवस्तु (आत्मा) में अनेक धर्म आ जाते हैं। ज्ञानमात्रवस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है। इसतरह वस्तु में नित्य-अनित्य धर्म समा जाते हैं। 'ज्ञान है' – ऐसा कहने से, वह ज्ञेय भी होता है, इसतरह उसमें प्रमेयपना भी आ जाता है। 'ज्ञानमात्र' कहने से उसका अविनाभावी सुख भी आ गया; क्योंकि ज्ञानमात्र की स्वीकृति में अनाकुल आनन्द का अंश प्रगट होता ही है।[2]

यहाँ दो बातें मुख्यरूप से कही हैं –

१. 'आत्मा ज्ञानमात्रवस्तु है' – ऐसा कहना एकान्त नहीं, बल्कि यह अनेकान्त है, स्याद्वाद है।

२. एक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में उपाय-उपेयपना घटित होता है।

उपाय-उपेयभाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस एक ज्ञानस्वरूप आत्मा में साधकपना एवं साध्यपना

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -२

२. वही, पृष्ठ - २-३

घटता है। 'ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा वस्तुपनें एक होते हुए भी साधक और साध्य – उपाय व उपेय – इसतरह दो भेदरूप है। जो ज्ञान साधकपने परिणमता है, उसे उपाय कहते हैं, मार्ग कहते हैं और यही ज्ञान जब परिपूर्ण परिणमता है तो उसे साध्य कहते हैं, मोक्ष कहते हैं।

अहा ! ऐसा साधक-साध्य का स्वरूप कहा। इससे यह सिद्ध हो गया कि बीच में जो दया-दान-व्रतादि के परिणाम आते हैं, वे साधकभाव नहीं हैं, मोक्षमार्ग नहीं हैं। वे पुण्यबंध के ही कारण हैं। स्वयं सर्वज्ञस्वभावी आत्मप्रभु एकाग्र होकर जो श्रद्धा-ज्ञान-शांति प्रगट करता है, वही मार्ग है और वह आत्मा की ही दशा है, ज्ञान की ही दशा है, राग की नहीं।

चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा पूर्ण है, एक है। उसकी पर्याय में जो अपूर्ण साधकपना प्रगट होता है, वह आत्मा की निर्मलदशा है, इसके फल में जो केवलज्ञान की पूर्ण साध्यदशा प्रगट होती है, वह भी ज्ञान की – आत्मा की दशा है। इसप्रकार द्रव्यस्वभाव से एकरूप होते हुए भी उसकी पर्याय में दो भंग पड़ जाते हैं।

भगवान के ज्ञान में जो छह द्रव्यरूप वस्तुएँ आई हैं, उन सबका स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है। त्रिकालद्रव्यरूप वस्तु सामान्यपने है और पर्यायरूप विशेषपने है। जो धर्म या गुण त्रिकाल ध्रुवपने रहे, वह सामान्य और उनका पलटना वर्तमान अवस्थारूप होना यह विशेष। यह सामान्य व विशेष – दोनों ही वस्तु के स्वभाव हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप जाने बिना धर्म की प्राप्ति कैसे हो ?[१]

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में अनेक धर्म हैं। सामान्यधर्म और विशेषधर्म – इसप्रकार वस्तु में मूलत: दो धर्म हैं। प्रथम एकरूप ध्रुवपने टिका रहनेवाला सामान्यधर्म और प्रकटने रूप दूसरा विशेषधर्म। अहा ! इसतरह वस्तु अनेक

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -४-५

धर्म युक्त होने के कारण अपेक्षा के कथन से ही साधी जा सकती है, सिद्ध की जा सकती है। अपेक्षा न रखकर मात्र सामान्य ही है, विशेष नहीं अथवा विशेष ही है, सामान्य नहीं – ऐसा एकान्त पकड़े तो वस्तु की सिद्धि न हो; क्योंकि वस्तु स्वभाव से ही सामान्य-विशेषस्वरूप है। सामान्य त्रिकालीध्रुव का निर्णय करनेवाला विशेष (ज्ञान) भी पर्याय ही है। ऐसा सहज वस्तुस्वरूप है। इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धता, प्रामाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्भयता, अद्वितीयता सिद्ध करने के लिए इस परिशिष्ट में वस्तु का स्वरूप विचारने में आता है।[१]''

कविवर पण्डित बनारसीदासजी इस स्याद्वाद अधिकार के आरंभ में इस अधिकार की जन्मकथा का विस्तार से निरूपण करते हैं; जो इसप्रकार है –

(चौपाई)

अदभुत ग्रन्थ अध्यातम वानी। समुझै कोउ विरला ग्यानी॥
यामैं स्यादवाद अधिकारा। ताकौ जो कीजै बिसतारा॥
तो गरंथ अति सोभा पावै। वह मंदिर यहु कलस कहावै॥
तब चित्त अमृत वचन गढ़ि खोले। अमृतचंद्र आचारज बोले॥

(दोहा)

कुंदकुंद नाटक विषै, कह्यो दरब अधिकार।
स्यादवाद नै साधि मैं, कहौं अवस्था द्वार॥
कहौं मुकति-पद की कथा, कहौं मुकति को पंथ।
जैसें घृत कारज जहां, तहां कारन दधि मंथ॥

(चौपाई)

अमृतचंद्र बोले मृदुवानी। स्यादवाद की सुनौ कहानी॥
कोऊ कहै जीव जग मांही। कोऊ कहै जीव है नांही॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -५

(दोहा)

एकरूप कोऊ कहै, कोऊ अगनित अंग।
छिनभंगुर कोऊ कहै, कोऊ कहै अभंग॥
नै अनंत इहबिधि कही, मिलै नॅ काहू कोइ।
जो सब नै साधन करै, स्यादवाद है सोई॥
स्यादवाद अधिकार अब, कहौं जैन कौ मूल।
जाके जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल॥

यह समयसार ग्रन्थाधिराज अध्यात्म का निरूपक अद्भुत ग्रन्थ है; इसके मर्म को विरल विद्वान ही समझ पाते हैं। यदि इसमें स्याद्वाद अधिकार जोड़कर स्याद्वाद संबंधी विशेष कथन किया जाये तो यह ग्रन्थ अत्यन्त शोभायमान होगा। यह समयसार तो एक प्रकार से मंदिर है और यह स्याद्वाद अधिकार उस पर चढ़ाया जानेवाला कलश कहा जावेगा।

चित्त में इसप्रकार का निश्चय करके आचार्य अमृतचन्द्र अमृतवचनों को गढ़ने लगे और स्याद्वाद का मर्म खोलने लगे।

वे कहते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने नाटक समयसार में द्रव्य का विशेष वर्णन किया और अब मैं (आचार्य अमृतचन्द्र) स्याद्वाद के लिए नयों को साधकर पर्यायों के द्वार से वर्णन करता हूँ।

मैं मुक्तिपद की कहानी कहूँगा और मुक्ति के मार्ग की चर्चा करूँगा। जिसप्रकार दही का मन्थन कारण है और घी की प्राप्ति कार्य; उसीप्रकार स्याद्वाद से तत्त्व का मंथन कारण है, मुक्ति का पंथ है और मुक्ति की प्राप्ति कार्य है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार दही को मथने से घी की प्राप्ति होती है; उसीप्रकार द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को नयविभाग से मथने पर मुक्तिमार्ग की प्राप्ति होकर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

इसप्रकार मृदुवाणी द्वारा आचार्य अमृतचन्द्र स्याद्वाद की चर्चा करने लगे; जो इसप्रकार है – कोई कहता है कि जग में जीव है और कोई कहता है कि जीव नहीं है। कोई कहता है कि जीव एकरूप है और कहता है कि अनेकरूप है। कोई कहता है कि जीव क्षणभंगुर है तो कोई कहता है कि नित्य है।

इसप्रकार परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत नय हैं; कोई किसी से मिलता नहीं है। जो इन सबकी अपेक्षा समझ कर इन्हें साध लेता है; वही स्याद्वादी है। तात्पर्य यह है कि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नयों के विरोध को मिटाकर, अपेक्षा से स्पष्ट करने को ही स्याद्वाद कहते हैं।

इसप्रकार अब जैनदर्शन के मूलाधार स्याद्वाद अधिकार का वर्णन आरंभ करते हैं; क्योंकि इसके जानने से जगत के प्राणी संसारसमुद्र के किनारे को प्राप्त कर लेते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस कलश में स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेयभाव समझाने के लिए स्याद्वाद-अधिकार लिखने की प्रतिज्ञा की गई है।

यह परिशिष्ट दो भागों में विभक्त है –

प्रथम भाग में वस्तु के अनेकान्तस्वभाव को सिद्ध करते हुए १४ प्रकार के एकान्तों का निषेध किया गया है – पहले गद्य में फिर पद्य में। तदुपरान्त आत्मवस्तु की उछलती हुई अनन्त शक्तियों में से ४७ शक्तियों का विशद विवेचन है।

दूसरे भाग में उपाय-उपेयभाव का विवेचन किया गया है।

इसप्रकार प्रथम अधिकार का नाम है – स्याद्वादाधिकार और दूसरे का नाम है – उपाय-उपेयाधिकार (साध्य-साधकद्वार)।

१. स्याद्वादाधिकार

इस स्याद्वाद अधिकार में आचार्य अमृतचन्द्र दो बातें विशेषरूप से स्पष्ट करना चाहते हैं–

पहली तो यह कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से कोई यह न समझ ले कि आत्मा में अकेला ज्ञानगुण ही है; अत: वे स्पष्ट करते हैं कि आत्मा अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड है, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्मोंवाला है, अनेकान्तात्मक है और इन सबकी सिद्धि स्याद्वाद से होती है।

इसी बात को विशेष स्पष्ट करने की भावना से भगवान आत्मा में विद्यमान अनन्त शक्तियों में से चुनकर ४७ शक्तियों का भी प्रतिपादन करते हैं; क्योंकि अनन्त शक्तियों को गिनना तो संभव ही नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिए आत्मा को पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सुखी होने का उपाय भी उसमें ही विद्यमान है और सुखी भी वही होगा। तात्पर्य यह है कि उपाय और उपेयभाव – ये दोनों ही भाव उसमें विद्यमान हैं; उसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं।

४७ शक्तियों का प्रतिपादन आरंभ करने के साथ ही आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। उछलती का आशय निर्मलपर्यायरूप से परिणमित होना है। इसप्रकार इस अधिकार में द्रव्य-पर्यायरूप आत्मवस्तु की चर्चा अपेक्षित है।

तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रमाण की विषयभूत द्रव्य-पर्यायमय आत्मवस्तु बताई जा रही है; परमशुद्धनिश्चयनय या परमभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषयभूत शुद्धात्मा नहीं; क्योंकि उसकी मुख्यता से प्रतिपादन तो समयसार की ४१५ गाथाओं और उसकी आत्मख्याति टीका में विस्तार से हो ही चुका है।

उपाय और उपेयतत्त्व भी मोक्षमार्ग और मोक्षरूप होने से निर्मल-पर्यायरूप ही हैं। यही कारण है कि बनारसीदासजी तो यहाँ तक कहते हैं कि इस अधिकार में पर्याय की मुख्यता से बात होगी; जो कि उनके निम्नांकित दोहा से स्पष्ट है –

कुन्दकुन्द नाटक विषै कह्यो दरव अधिकार।
स्यादवाद नै साधि में कहौं अवस्था द्वार॥

कलशटीकाकार तो सर्वथा एकान्त के निषेधक स्याद्वाद संबंधी १४ कलशों का अर्थ करते समय लगभग सर्वत्र ही यहाँ से ही बात आरंभ करते हैं कि कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी वस्तु को द्रव्यरूप ही मानता है, पर्यायरूप नहीं और कोई एकान्तवादी वस्तु को पर्यायरूप ही मानता है, द्रव्यरूप नहीं; किन्तु स्याद्वादी तो वस्तु को द्रव्य-पर्यायरूप स्वीकार करता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि इस अधिकार में परद्रव्यों और उनकी पर्यायों तथा अपनी विकारी पर्यायों से भी भिन्न शुद्ध निर्मलपर्यायरूप परिणमित मुक्तिमार्गी और मुक्त भगवान आत्मा का विवेचन है, ज्ञानी आत्मा का विवेचन है।

यद्यपि आचार्य जयसेन भी समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के अनुकरण पर परिशिष्ट के रूप में स्याद्वाद-अधिकार लिखते हैं; तथापि वह उतना विस्तृत नहीं है कि जितना आत्मख्याति का परिशिष्ट है। उसमें न तो ४७ शक्तियों का ही निरूपण है और न १४ प्रकार के एकान्तों का वैसा निराकरण है कि जैसा आत्मख्याति में पाया जाता है। मात्र अनेकान्त-स्याद्वाद का स्वरूप और उपाय-उपेयभाव का संक्षिप्त निरूपण आत्मख्याति के अनुकरण पर है।

आत्मख्याति के अनुशीलन के साथ-साथ जहाँ आवश्यक प्रतीत होगा; वहाँ हम तात्पर्यवृत्ति की विषयवस्तु पर भी विचार करेंगे और आवश्यकता-नुसार उसे भी उद्धृत करेंगे।

अब यहाँ स्याद्वाद का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली आत्मख्याति टीका का भाव लिखते हैं –

''स्याद्वादो हि..... .....प्रकाशत एव।

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला सर्वज्ञ अरहंत भगवान का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। समस्त वस्तुयें अनेकान्त-स्वभावी होने से वह स्याद्वाद यह कहता है कि सब वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं।

अब यहाँ यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्र कहने पर भी स्याद्वाद का कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व (अनन्त-धर्मात्मकपना) है।

अनेकान्त का स्वरूप ऐसा है कि जो वस्तु तत्स्वरूप है, वही वस्तु अतत्स्वरूप भी है; जो वस्तु एक है, वही अनेक है; जो वस्तु सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है – इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक (उपजानेवाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

इसलिए यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है; तथापि उसमें उक्त तत्-अतत्पना आदि भी विद्यमान ही हैं; क्योंकि उक्त ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के अंतरंग में चकचकायमान ज्ञानस्वरूप से तत्पना और उसमें प्रकाशित होनेवाले अनंत पररूप ज्ञेयों के उससे भिन्न होने के कारण उनसे या उनकी अपेक्षा अतत्पना है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ज्ञानरूप ही है, परज्ञेयरूप नहीं। इसप्रकार स्वरूप के तत्पना और परज्ञेयरूप से अतत्पना आत्मवस्तु में एकसाथ ही विद्यमान हैं।

इसीप्रकार एकसाथ रहनेवाले (गुण) और क्रमशः प्रवर्त्तमान (पर्याय) अनंत चैतन्य अंशों (गुण-पर्यायों) के समुदायरूप अविभागी द्रव्य की अपेक्षा आत्मा में एकत्व है और अविभागी एकद्रव्य में व्याप्त सहभूत प्रवर्त्तमान

(गुण) और कमशः प्रवर्त्तमान (पर्याय) अनंत चैतन्य अंशरूप पर्यायों (अनंतगुण और अनंतपर्यायों) की अपेक्षा आत्मा में अनेकत्व है।

इसीप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है; उस स्वभाव वाला होने से आत्मा सत्त्वस्वरूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव; उस स्वभाववाला होने से आत्मा असत्त्वस्वरूप है।

इसीप्रकार अनादिनिधन अविभागी एकवृत्तिरूप परिणत होने से आत्मा नित्य है और क्रमशः प्रवर्त्तमान एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति अंशों रूप से परिणत होने के कारण आत्मा अनित्य है।

इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में तत्पना-अतत्पना, एकपना-अनेकपना, सत्त्वपना-असत्त्वपना और नित्यपना-अनित्यपना आदि परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली दो-दो शक्तियाँ (धर्म) स्वयमेव प्रकाशित होती हैं; इसलिए अनेकान्त भी स्वयेमव ही प्रकाशित होता है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति के परिशिष्ट में अनेकान्त और स्याद्वाद की परिभाषायें लगभग आत्मख्याति की भाषा में ही प्रस्तुत करते हैं। इतनी विशेषता है कि वे प्रमाण के रूप में आचार्य समन्तभद्र के उल्लेखों को विशेषरूप से उद्धृत करते हैं; जो मूलतः पठनीय है।

विशेषरूप से अनेकान्त और स्याद्वाद का स्वरूप समझने के लिए लेखक की अन्य कृति **अनेकान्त और स्याद्वाद**[1] का अध्ययन करना चाहिए।

इस प्रकरण पर स्वामीजी इसप्रकार प्रकाश डालते हैं –

''स्याद्वाद शब्द का अर्थ है अपेक्षा से कथन करना। यह शब्द दो पदों से मिलकर बना है। 'स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षा से और 'वाद' यानि कथन। इसतरह स्याद्वाद का अर्थ सापेक्ष कथन होता है। जैसे कि आत्मा

१. मैं कौन हूँ पृष्ठ - ३० परमभावप्रकाशक नयचक्र पृष्ठ - ४०४, तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ पृष्ठ - १३२

त्रिकाल है, इस अपेक्षा से उसे नित्य कहा है तथा आत्मा की बदलती हुई अवस्था की अपेक्षा आत्मा अनित्य है। बस, यही स्याद्वाद है।

वस्तुत: स्याद्वाद वस्तुस्वरूप को मुख्य-गौण करके कथन करने की शैली का नाम है। यह स्याद्वाद समस्त वस्तुओं में परस्पर विरुद्ध रहनेवाले नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत्, सत्-असत् आदि गुणधर्मों को अपेक्षा से साधनेवाला भगवान सर्वज्ञदेव का निर्बाध शासन है।[१]

स्याद्वादी तो वह है जो द्रव्य-गुण-पर्यायमय वस्तु को मानता है। द्रव्य एक, गुण अनन्त, पर्यायें अनन्त – ऐसा जो मानता है, वही स्याद्वाद को सही समझता है। अनेकान्तात्मक वस्तु के अर्थात् अनन्त धर्ममय वस्तु के अनेक या अनन्त धर्म एकसाथ जाने तो जा सकते हैं; परन्तु कहे नहीं जा सकते। बस, मुख्य-गौण करके कथन करने की शैली ही स्याद्वाद है।

जगत में छह द्रव्य हैं, वे सभी अनेक धर्मस्वरूप हैं। यहाँ धर्म से तात्पर्य सामान्य-विशेष, एक-अनेक, गुण-पर्याय, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि वस्तु द्वारा धारण किए हुए जीवस्वभाव। आत्मा वस्तुपने एक है और गुण-पर्यायों की अपेक्षा अनेक है।

इसप्रकार प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु तथा धर्म-अधर्म, आकाश व काल – सभी अनेकान्तस्वभाववाले होते हैं। इन सभी के अनन्त धर्मों का कथन स्याद्वाद वाणी के द्वारा किया जाता है। जैसा वस्तु का अनेकान्तस्वभाव है, वैसा ही स्याद्वाद कहता है। स्याद्वाद और अनेकान्त में वाचक-वाच्य संबंध है। स्याद्वाद वाचक है और अनेकान्त वाच्य।[२]

तत्-अतत् वस्तु के धर्म हैं। जो तत् है, वही अतत् है। आत्मा ज्ञानस्वरूप से, अन्दर से तत् है तथा परज्ञेयरूप से अतत् है। इसतरह वस्तु में एक ही साथ दोनों धर्म सिद्ध हो जाते हैं।[३]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -१२-१३
२. वही, पृष्ठ -१३
३. वही, पृष्ठ - १४

भाई ! मैं (आत्मा) जिसप्रकार स्वरूप से तत् हूँ, उसीप्रकार यदि पर से भी तत् हो तो पर व आत्मा स्वयं एक हो जायेगा, एकमेक हो जायेगा अथवा कुछ भी नहीं रहेगा; परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। आत्मा स्वपने तत् है और पर से अतत् स्वभाव ही है। इसलिए यह बात सही नहीं ठहरती कि बाहर की अनुकूलता हो, धनादि सम्पत्ति हो तो मुझे धर्मसाधन अच्छा हो सकेगा। भाई ! यह धर्मसाधन पर से बनता-बिगड़ता नहीं है; क्योंकि जब परपने वस्तु है ही नहीं तो पर के कारण उसका भला-बुरा होने का प्रश्न ही कहाँ से आया ?

बापू ! यह अनेकान्त सिद्धान्त तो अमृत है। जो इसे समझकर स्वरूप की अन्तर्दृष्टि करे, उसको आनन्द-अमृत का स्वाद आता है। यह मनुष्यपर्याय प्राप्त कर यदि कुछ करने लायक है तो बस अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप की समझ ही करने लायक है।

अहा ! जो ज्ञानस्वभावी आत्मा तत्पने से है, वही अतत्पने से है, अपने ज्ञानस्वरूप से है तथा अनन्त परज्ञेयरूप से नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यहाँ ज्ञान की पर्याय परज्ञेय से नहीं होती। यद्यपि ज्ञान की पर्याय में वस्तु परज्ञेयरूप से जानी जाती है, फिर भी ज्ञान अपने सहज परिणमनस्वभाव से परिणमता है, ज्ञेयों के कारण नहीं।[१]

वहाँ तात्पर्य यह है कि परज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान परज्ञेयरूप नहीं हो जाता तथा ज्ञान में जाने जा रहे परज्ञेय ज्ञानरूप नहीं हो जाते। अरे भाई ! ऐसी सूक्ष्म बात है।[२]

'जो वस्तु एक है वही अनेक है।' परन्तु जिसपने एक है, उसीपने अनेक नहीं, बल्कि दोनों की अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न हैं। भगवान आत्मा द्रव्यपने एक है और वही आत्मा गुण-पर्यायपने अनेक है – यह बात है। अनेक

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -१५-१६

२. वही, पृष्ठ -१६

परवस्तुओं के कारण अनेक नहीं।

'एक का अर्थ अनेक आत्माओं का समूहरूप एकपना नहीं है तथा सब आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं – इस अपेक्षा अनेकपना नहीं है; बल्कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा कहते ही वह आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड द्रव्यपने एक है और वही आत्मा गुण-पर्यायपने अनेक है – ऐसा सहज ही आ जाता है। आत्मा में जो अनन्त शक्तियाँ और अनन्त पर्यायें हैं, वह आत्मा का अनेकपना है। एकपना व अनेकपना – दोनों आत्मा में ही हैं; एक वस्तु में ही हैं। इसमें परवस्तु की अपेक्षा नहीं है।[१]

जो स्वयं से सत् है, वही पर से असत् है – ऐसा यहाँ संक्षेप में कहा है। आगे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जो सत् है, वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है – ऐसा विस्तार से कहेंगे।

यह त्रिकाली ध्रुव चैतन्यमय प्रभु आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है और वही पर्यायरूप से अनित्य है।[२]

इसप्रकार एक वस्तु में तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि अनेक परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्म विद्यमान हैं।

अब कहते हैं कि इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुपने को निपजानेवाली, प्रकाशित करनेवाली अथवा सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों के अनेक युगलों का प्रकाशन अनेकान्त है।[३]

भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। वह अन्तरंग में चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप से तत् है, निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से आत्मा तत् है; पर्याय में भी जानने-देखने की पर्याय से तत् है तथा उस तत्पने रूप ज्ञान में जो अनन्त परज्ञेय जाने जाते हैं, वे आत्मा के ज्ञानप्रकाश में अतत्पने हैं,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - २०
२. वही, पृष्ठ - २०-२१
३. वही, पृष्ठं - २१

ज्ञानस्वरूप में उन परज्ञेयों की स्वपने सत्ता नहीं है।[१]

देखो, यहाँ कहते हैं कि शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, धन, कुटुम्ब, परिवार और देव-शास्त्र-गुरु तथा इनके लक्ष्य से हुए पुण्य-पाप के भाव – ये सब परज्ञेय हैं। चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित ज्ञानस्वभावी आत्मा निज ज्ञानस्वरूप से तत् है और परज्ञेयरूप से अतत् है।[२]

ये साथ रहनेवाले ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण और क्रम से एक के बाद एक प्रगट होनेवाली पर्यायें – ये सब चैतन्य के अंश हैं। इनके समुदाय रूप अभेद-अविभाग द्रव्यवस्तु से आत्मा में एकपना है।[३]

अनन्त गुण-पर्यायों के समुदायरूप अभेद द्रव्य की अपेक्षा एक है तथा गुण-पर्यायों के भेदों को देखने पर अनेकता है।[४]''

तत् और अतत्, एक और अनेक, सत् और असत् तथा नित्य और अनित्य – यद्यपि ये सभी धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; पर वस्तुतः परस्पर विरोधी हैं नहीं; क्योंकि वस्तु में एकसाथ ही रहते हैं, सहज हैं, आत्मा के स्वभाव हैं, आत्मा में स्वाभाविकरूप से रहते हैं।

यद्यपि ये सभी धर्म एक ही वस्तु में एकसाथ ही रहते हैं; तथापि इनको जानने या कहने में अपेक्षा लगाना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि अपेक्षा लगाये बिना न तो इनको समझा ही जा सकता है और न कहा ही जा सकता है।

अब आगे आत्मख्याति टीका में आत्मा के सन्दर्भ में उक्त स्याद्वाद को ही शंका-समाधान द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

''ननुयदि..... .....प्रसिध्यति।

शंका : यदि ज्ञानमात्रता होने पर भी आत्मा के अनेकान्त स्वयमेव

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -२२
२. वही, पृष्ठ - २३-२४
३. वही, पृष्ठ - २४
४. वही, पृष्ठ - २४

प्रकाशित होता है तो फिर अरहंत भगवान उसके साधन के रूप में अनेकान्त (स्याद्वाद) का उपदेश क्यों देते हैं?

समाधान : ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अज्ञानियों की भी समझ में आ जावे – इस उद्देश्य से स्याद्वाद का स्वरूप समझाया जाता है– ऐसा हम कहते हैं; क्योंकि स्याद्वाद के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की सिद्धि-प्रसिद्धि संभव नहीं है।''

आचार्यदेव के उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि अनन्त-धर्मात्मक आत्मवस्तु को स्याद्वाद से ही समझा जा सकता है; क्योंकि बिना अपेक्षा के वस्तु के स्वरूप को समझ पाना असंभव है।

अब इसी बात को १४ बोलों द्वारा पहले गद्य में और फिर १४ छन्दों द्वारा पद्य में विस्तार से समझाते हैं।

''तथाहि.....न ददाति।

स्वभाव से ही बहुत से भावों (पदार्थों) से भरे इस विश्व में सर्व भावों (पदार्थों) का स्वभाव से (सत्स्वभाव से - अस्तित्व की अपेक्षा - महासत्ता की अपेक्षा) अद्वैत होने पर भी द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तुयें स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भावों (अस्तित्व और नास्तित्व) से सहित हैं।

(१-२) तत्-अतत् – जब यह ज्ञानमात्रभाव (आत्मा) शेष भावों (पदार्थों) के साथ निजरस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय संबंध के कारण अनादिकाल से ज्ञेयाकार परिणमन के द्वारा ज्ञानतत्त्व (आत्मा) को ज्ञेयरूप (परज्ञेयरूप) जानकर अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव में स्वरूप (ज्ञानरूप) से तत्पना प्रकाशित करके ज्ञातारूप (ज्ञानाकार) परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त (स्याद्वाद) ही उसका उद्धार करता है।

और जब वही ज्ञानमात्रभाव (आत्मा) अज्ञानतत्त्व को (आत्मा से भिन्न पदार्थों को) 'वस्तुतः यह सब आत्मा ही है' – इसप्रकार स्वरूप

(ज्ञानरूप) से अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है; तब पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके ज्ञान को विश्व से भिन्न दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे (ज्ञानमात्रभाव को)अपना नाश नहीं करने देता।''

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति' – ऐसा कहकर सम्पूर्ण जैनदर्शन कह दिया है। कहते हैं कि – प्रभु ! तू आत्मवस्तु द्रव्यपने, ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणपने और जाननेवाली, श्रद्धा करनेवाली तथा अनुभव करनेवाली पर्यायपने सत् है तथा परद्रव्य एवं परभावों से असत् है।[१]

भाई ! एक-एक परमाणु स्वयं से है व पर से नहीं है। एक पानी की बूँद में अनन्त परमाणु हैं। वे परमाणु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से सत् हैं तथा पर से – दूसरे परमाणुओं से असत् हैं। स्व से प्रवृत्त हैं व पर से व्यावृत्त हैं।[२]

इसप्रकार समस्त वस्तुएँ स्वरूप में प्रवृत्ति और पर से व्यावृत्ति दोनों ही भावों से अध्यासित हैं, दोनों ही भाव वस्तु में रहते हैं।[३]

अब कहते हैं कि जब वह ज्ञानमात्र भाव पर को अपने स्वरूप में समेटता हुआ ऐसा मानता है कि शरीर-मन-वाणी-रागादि पुण्य-पाप सब आत्मा ही हैं, तब अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से स्वीकार करके विश्व के ग्रहण से अपना नाश करता है। ऐसी स्थिति में पर से अतत्पना प्रकाशित करके विश्व से ज्ञानमात्र आत्मा को भिन्न प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही अपना नाश नहीं होने देता।[४]''

आत्मख्याति की आरम्भिक चार पंक्तियों में सामान्यत: सभी पदार्थों पर अस्तित्व और नास्तित्व को घटित किया गया है, परस्पर विरोधी

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ३१
२. वही, पृष्ठ -३२
३. वही,पृष्ठ -३२
४. वही, पृष्ठ - ३४

दिखनेवाले धर्मों का एक वस्तु में, एकसाथ रहना दिखाया गया है।

सर्वप्रथम यह कहा गया है कि यह विश्व अनन्त पदार्थों का समुदायरूप है। इसमें अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्यात कालाणु-कालद्रव्य – इसप्रकार अनंतानंत पदार्थों का समूहरूप जो विश्व है, वह सामान्य सत्ता की अपेक्षा, महासत्ता की अपेक्षा, सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा सत् है; फिर भी प्रत्येक द्रव्य का स्वरूपास्तित्व, उनकी अवान्तर सत्ता भिन्न-भिन्न ही है, एक का दूसरे में अभाव ही है।

यही कारण है कि यहाँ यह कहा गया है कि स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति अर्थात् स्व की अपेक्षा अस्तित्व और पर की अपेक्षा नास्तित्व – इसप्रकार अस्तित्व और नास्तित्व – परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले ये दोनों धर्म प्रत्येक वस्तु में एकसाथ ही रहते हैं; इनके एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

इसके बाद इसी सिद्धान्त को ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य पर घटित किया गया है। कहा गया है कि आत्मा का स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से उसमें स्व और पर – दोनों प्रकार के पदार्थ झलकते हैं। परज्ञेयों के साथ आत्मा का अनिवार्य किन्तु सहज ज्ञाता-ज्ञेय संबंध है।

अज्ञानी जीव इस वास्तविक स्थिति को तो समझता नहीं और ज्ञान में झलकनेवाले परज्ञेयों के साथ एकत्व-ममत्व स्थापित कर लेता है, उनसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व जोड़ लेता है। उन ज्ञेयों रूप ही स्वयं को मान स्वयं के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देता है; तब उस ज्ञानमात्र स्वभाव को स्वरूप से तत्पना (अस्तित्व) प्रकाशित करते हुए ज्ञातारूप परिणमन के कारण ज्ञानी बताकर अनेकान्त (स्याद्वाद) ही उसे एकान्तवाद से बचाकर उसका उद्धार करता है।

इसीप्रकार जब यह आत्मा आत्मा में झलकनेवाले ज्ञेयों में भी 'ये सब

आत्मा ही हैं' – ऐसा मानकर आत्मा का नाश करता है; तब पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके, उनकी स्वयं में नास्ति बताकर, उन्हें अपने से भिन्न बताकर अनेकान्त ही उन्हें अपना नाश नहीं करने देता।

तात्पर्य यह है कि जाननेवाला ज्ञानतत्त्व आत्मा अलग है और उसमें झलकने वाले ज्ञेयपदार्थ अलग हैं – यह बतानेवाला अनेकान्त ही है और यही ज्ञानियों का जीवन है।

तत्पना और अतत्पना – इन दो बोलों से सम्बन्धित जो दो कलश आत्मख्याति में आये हैं; वे इसप्रकार हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्।
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥२४८॥

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया।
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥२४९॥

(हरिगीत)

बाह्यार्थ ने ही पी लिया निजव्यक्तता से रिक्त जो।
वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः पररूप में विश्रान्त है॥
पर से विमुख हो स्वोन्मुख सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो।
'स्वरूप से ही ज्ञान है' – इस मान्यता से पुष्ट है॥२४८॥

इस ज्ञान में जो झलकता वह विश्व ही बस ज्ञान है।
अबुध ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो वर्तन करें॥
अर विश्व को जो जानकर भी विश्वमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी जगत में निजतत्त्व का अनुभव करें॥२४९॥

जो बाह्य पदार्थों द्वारा सम्पूर्णत: पी लिया गया है; ऐसा अज्ञानी पशु का ज्ञान अपनी व्यक्तिता (प्रकटता) को छोड़ देने से स्वयं में शून्य और पररूप में ही सम्पूर्णत: विश्रांत होता हुआ नाश को प्राप्त होता है; परन्तु 'जो तत् है, वह स्वरूप से ही तत् है' – ऐसी मान्यता के कारण स्याद्वादी का ज्ञान अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनस्वभाव के भार से सम्पूर्णत: उदित होता है।

'विश्व ज्ञान है अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ ही आत्मा हैं' – ऐसा विचार कर समस्त विश्व को निजतत्त्व के रूप में देखकर विश्वमय होकर सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी पशु की भांति स्वच्छन्द चेष्टा करता है और स्याद्वादी ज्ञानी तो यह मानता है कि जो स्वरूप से तत् है, वह पररूप से तत् नहीं है; इसलिए ज्ञानीजन तो विश्व से रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले विश्व से भिन्न निजतत्त्व का स्पर्श करते हैं।

इन दोनों छन्दों का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं–

''कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि घटज्ञान घट के आधार से ही होता है; इसलिए ज्ञान सब प्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा माननेवाले एकान्तवादी के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता। ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादी को ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है।

एकान्तवादी यह मानता है कि विश्व (समस्त वस्तुयें) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप हैं। इसप्रकार निज को और विश्व को अभिन्न मानकर, अपने को विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशु की भांति हेय-उपादेय के विवेक के बिना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है। स्याद्वादी तो यह मानता है कि जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप हैं,वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है; इसलिए ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, परन्तु परज्ञेयों के स्वरूप से

अतत्स्वरूप हैं अर्थात् परज्ञेयों के आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है।''

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार लिखते हैं –

''देखो, 'ज्ञेयों के आधार से मेरा ज्ञान है' – ऐसा माननेवालों के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ भी नहीं रहा, शून्य हो गया, मानो नष्ट ही हो गया। तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान हो गया।

देखो, अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को जाननेवाला स्याद्वादी ऐसा मानता है कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है। ज्ञेयों को जाननेरूप हुआ ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञेयस्वरूप नहीं हुआ है; किन्तु ज्ञेयों से पृथक् ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञेयस्वरूप नहीं। अहा ! ऐसी यथार्थ समझ के कारण स्याद्वादी ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करता है।[१]

छह द्रव्यमय सारा जगत ज्ञेय है और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप भिन्न वस्तु है। दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा होते हुए भी अज्ञानी ऐसा न मानकर यह मानते हैं कि – 'ये परज्ञेयरूप वस्तुयें ही मैं हूँ, ये मेरी हैं और इनका मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ।' – ऐसा माननेवाले परज्ञेयों को अपनेपने जानते-मानते हैं; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, उन्हें आचार्यदेव ने पशु कहकर ललकारा है कि अरे पशु की तरह स्वच्छन्द चेष्टा मत करो।

भाई ! यह आत्मा चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है। इसमें पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं , जगत के पदार्थ भी इसमें नहीं हैं। ये सर्व पदार्थ इसके ज्ञान में जानने योग्य परज्ञेय हैं।[२]

यद्यपि ये परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं, जाने जाते हैं; तथापि ज्ञान अपने स्वरूप को छोड़कर इन ज्ञेयरूप नहीं होता तथा ये ज्ञेय भी अपना स्वरूप छोड़कर ज्ञानस्वरूप नहीं होते। यही वस्तुस्थिति है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ५५

२. वही, पृष्ठ - ५७

३. वही, पृष्ठ - ५७

ऐसा होने पर भी जो ऐसा वस्तुस्वरूप स्वीकार न करके ऐसा मानते हैं कि – 'जानने में आनेवाले ज्ञेय मैं हूँ, ये मेरे हैं, इन्हें मैं करता हूँ अर्थात् मैं इनका कर्त्ता-भोक्ता हूँ।' उन्हें भगवान ने पशु संज्ञा दी है, पशु कहा है। देखो, मूल कलश में 'पशु' एवं 'पशुरिव' कहा है। भले वह बड़ा विद्वान हो, बड़ा सेठ हो या बड़ा राजा और देव ही क्यों न हो; जबतक उनके वस्तु के स्वरूप संबंधी एकान्त मान्यतारूप मूढ़पना वर्तता है, तबतक वे पशु जैसे ही हैं। अहा ! वे मिथ्यात्व के सेवन से बंधे ही हैं और इसके फल में वे एकेन्द्रिय आदि तिर्यंच पर्याय में ही उत्पन्न होते हैं।

अरे भाई ! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा जानता है और जाननेरूप में प्रवर्तता है, अन्य कुछ भी नहीं करता। एक परमाणु में भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। हलन-चलन करना, उठना-बैठना, बोलना-चालना – ये सब तो जड़ की क्रियायें हैं। आत्मा इनका कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। आत्मा तो जैसी वस्तु है, जैसे ज्ञेयपदार्थ हैं; उनको मात्र वैसा जानता है और जाननेरूप से ही प्रवर्तता है।[1]

वस्तुत: स्वयं स्वरूप से तत् और पर से अतत् है। ऐसा होते हुए भी पर से, पैसा से, धन से, शरीर व इन्द्रियों से और इन्द्रियों के विषयों से अपने को सुखी मानता है; जबकि ऐसा माननेवाला बहिरात्मा पशु जैसा अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर स्वच्छन्द अज्ञानमय आचरण करता है। वह मिथ्यादृष्टि रहता हुआ दु:खमय चारों गतियों में ही रमण करता रहता है।

अब कहते हैं कि – स्याद्वाद को देखने-जाननेवाले स्याद्वाददर्शी धर्मीजीव तो ऐसा मानते हैं कि मैं तो अपने ज्ञान व आनन्दस्वरूप से तत् हूँ तथा पर से अतत् हूँ। इसलिए मेरे ज्ञान-दर्शन, सुख, समकित, शक्ति आदि सब स्व में स्वयं से होते हैं, पर से नहीं। जो ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानते-देखते हैं, वे विलक्षण पुरुष हैं। शेष दुनिया का काम करनेवालों, दुनिया का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ५७-५८

उद्धार करने को निकलनेवालों को दुनिया भले ही चतुर कहें; परन्तु वस्तुत: वे दुनिया में ही रखड़ेंगे। वे सचमुच चतुर नहीं हैं। वे मूढ़ हैं, पागल हैं – उन्हें यहाँ कलश में पशु कहा है।[१]

विश्व को जाननेरूप जो निजज्ञान की पर्याय होती है, उसमें विश्व निमित्त होता है; इसकारण विश्व को जाननेवाली उस केवलज्ञान की पर्याय को विश्वरचित कहा जाता है। वस्तुत: तो वह ज्ञानपर्याय ज्ञानरूप ही है, विश्वरूप नहीं हुई है। ऐसा जानता हुआ स्याद्वादी विश्वरूप नहीं होता हुआ निजतत्त्व का अनुभव करता है, विश्व को तो मात्र जानता ही है। विश्व को जानते भी हुए वह विश्वरूप नहीं होता।[२]

यहाँ पहले भंग में यह सिद्ध किया है कि यह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से तत् है और दूसरे भंग में पर से अतत् है, पर से तत् नहीं है – यह सिद्ध किया है। ज्ञानी धर्मात्मा पर से विमुख होकर स्वरूप के आश्रय से प्रवर्तता है। इस रीति से वह निर्मल अन्तरंग ज्ञान-श्रद्धान व आचरण को प्राप्त होकर निराकुल आनन्द का अुनभव करता है – ऐसी बात है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि मात्र परज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा को ज्ञानस्वरूप माननेवालों के ज्ञान को तो ज्ञेय ही पी गये हैं; क्योंकि उन्होंने पर को जाननेरूप ही अपना अस्तित्व स्वीकार किया है।

यद्यपि आत्मा का स्वभाव पर को भी जानने का है; तथापि उसका अस्तित्व परज्ञेयों के कारण नहीं है; वह तो अपने ज्ञायकभाव से ही तत्स्वरूप है। अपने आत्मा के साथ-साथ परज्ञेयों का जानना भी आत्मा का स्वभाव ही है, उसमें परज्ञेयों का कुछ भी नहीं है। परज्ञेयों का ज्ञान भी परज्ञेयों के कारण नहीं होता; अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण ही होता है। परपदार्थ

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ५९
२. वही पृष्ठ - ६०
३. वही, पृष्ठ - ६०-६१

तो उसमें मात्र ज्ञेयरूप निमित्त हैं।

अधिक परपदार्थों को जाना तो मैं बड़ा हो गया और परपदार्थ थोड़े कम जानने में आये तो मैं छोटा हो गया – ऐसा माननेवालों ने अपना अस्तित्व पर से माना; अत: वे अज्ञानी हैं; क्योंकि आत्मा का अस्तित्व स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। आत्मा का बड़प्पन तो स्वयं को जानने में है, पर को जानने में नहीं।

पर से अपना अस्तित्व माननेवालों को यहाँ अज्ञानी कहा है, पशु कहा है।

पर को जानने के कारण स्वयं को पररूप या विश्वरूप माननेवाले अपने स्वतंत्र अस्तित्व से इन्कार करनेवाले हैं और पर (समस्त विश्व) को जानने के कारण समस्त विश्व को निजरूप माननेवालों ने पर के स्वतंत्र अस्तित्व से इन्कार कर दिया है। अत: वे भी अज्ञानी हैं। उनको भी यहाँ पशु कहा गया है।

इसप्रकार निज को पररूप और पर को निजरूप माननेवाले अज्ञानी हैं और निज को निजरूप और पर को पररूप माननेवाले ज्ञानी हैं। स्व और पर – दोनों में एक ज्ञाता-ज्ञेय संबंध को छोड़कर कोई संबंध नहीं है; सभी पदार्थ पूर्णत: स्वतंत्र सत्ता सहित पदार्थ हैं। ज्ञाता-ज्ञेय संबंध भी निज-निज के स्वभाव के कारण सहज ही बन रहा है; क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही स्वपरप्रकाशक है और समस्त पदार्थ स्वभाव से ही प्रमेयत्व स्वभाव से सम्पन्न हैं। किसी न किसी के ज्ञान का ज्ञेय बनना समस्त पदार्थों का सहज स्वभाव है।

सबको जानना आत्मा की स्वतंत्र स्वरूपसम्पदा है और ज्ञान का ज्ञेय बनना समस्त पदार्थों की सहज स्वरूपसम्पदा है; इनमें परस्पर कोई पराधीनता नहीं है। इनमें परस्पर पराधीनता स्वीकार करना ही अज्ञान है और सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना ही ज्ञान है।

इसप्रकार यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मा स्व की अपेक्षा तत्स्वरूप है

और पर की अपेक्षा अतत्स्वरूप है।

उक्त दोनों कलशों में क्रमशः यह कहा गया है कि स्व को पररूप जाननेवाले तथा पर को स्वरूप माननेवाले अज्ञानी हैं और स्व को स्वरूप और पर को पररूप माननेवाले स्याद्वादी ज्ञानी हैं।

उक्त १४ कलशों पर टीका लिखना आरंभ करने के पूर्व पाण्डे राजमलजी इस प्रकरण को समझने में सुविधा रहे – इस प्रयोजन से कुछ महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण करते हैं; जो इसप्रकार है –

"भावार्थ इसप्रकार है कि जो ज्ञानमात्र जीव का स्वरूप है, उसमें भी चार प्रश्न विचारणीय हैं।

वे प्रश्न कौन ?

एक तो प्रश्न ऐसा कि ज्ञान ज्ञेय के सहारे का है कि अपने सहारे का है?

दूसरा प्रश्न ऐसा कि ज्ञान एक है कि अनेक है ?

तीसरा प्रश्न ऐसा कि ज्ञान अस्तिरूप है कि नास्तिरूप है ?

चौथा प्रश्न ऐसा कि ज्ञान नित्य है कि अनित्य है ?

उनका उत्तर इसप्रकार है कि जितनी वस्तुयें हैं; वे सब द्रव्यरूप हैं, पर्यायरूप हैं; इसलिए ज्ञान भी द्रव्यरूप है, पर्यायरूप है।

उसका विवरण – द्रव्य कहने पर निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु, पर्यायरूप कहने पर स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय की आकृति-प्रतिबिम्ब-रूप परिणमता है जो ज्ञान।

भावार्थ इसप्रकार है कि ज्ञेय को जाननेरूप परिणति ज्ञान की पर्याय, इसलिए ज्ञान को पर्यायरूप से कहने पर ज्ञान ज्ञेय के सहारे का है। (ज्ञान को) वस्तुमात्र से कहने पर अपने सहारे का है।

एक (प्रथम) प्रश्न का समाधान तो इसप्रकार है।

दूसरे प्रश्न का समाधान इसप्रकार है कि ज्ञान को पर्यायमात्र से कहने

पर ज्ञान अनेक है, वस्तुमात्र से कहने पर एक है।

तीसरे प्रश्न का उत्तर इसप्रकार है कि ज्ञान को पर्यायरूप से कहने पर ज्ञान नास्तिरूप है, ज्ञान को वस्तुरूप से विचारने पर ज्ञान अस्तिरूप है।

चौथे प्रश्न का उत्तर इसप्रकार है कि ज्ञान को पर्यायमात्र से कहने पर ज्ञान अनित्य है, वस्तुमात्र से कहने पर ज्ञान नित्य है।

ऐसा प्रश्न करने पर ऐसा समाधान करना, स्याद्वाद इसका नाम है। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है तथा इसप्रकार साधने पर वस्तुमात्र सधती है।

जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव वस्तु को वस्तुरूप है तथा वही वस्तु पर्यायरूप है – ऐसा नहीं मानते हैं, सर्वथा वस्तुरूप मानते हैं अथवा सर्वथा पर्यायमात्र मानते हैं। वे जीव एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। कारण कि वस्तुमात्र को माने बिना पर्यायमात्र के मानने पर पर्यायमात्र भी नहीं सधती है; वहाँ अनेकप्रकार साधक-बाधक हैं, अवसर पाकर कहेंगे।

अथवा पर्यायरूप माने बिना वस्तुमात्र मानने पर वस्तुमात्र भी नहीं सधती है। वहाँ भी अनेक युक्तियाँ हैं। अवसर पाकर कहेंगे।

इसी बीच कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान को पर्यायरूप मानता है, वस्तुरूप नहीं मानता है। ऐसा मानता हुआ ज्ञान को ज्ञेय का सहारे का मानता है, उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि इसप्रकार तो एकान्तरूप से ज्ञान सधता नहीं। इसलिए ज्ञान अपने सहारे का है।''

जो बात मूल कलश में स्व और पर पर घटित की गई थी; उसी बात को पाण्डे राजमलजी अपने उक्त कथन में द्रव्य और पर्याय पर घटित करते हैं।

उक्त कथन को आधार बनाकर कविवर बनारसीदास भी चार छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(सवैया इकतीसा)

शिष्य कहै स्वामी जीव स्वाधीन कि पराधीन,
जीव एक है किधौं अनेक मानि लीजिए।

जीव है सदीव किधौं नांहि है जगत मांहि,
जीव अविनश्वर कि नश्वर कहीजिए॥
सतगुरु कहै जीव है सदीव निजाधीन,
एक अविनश्वर दरवद्रिष्टि दीजिए।
जीव पराधीन छिनभंगुर अनेक रूप,
नांही जहां तहां परजै प्रवांन कीजिए॥

दर्व खेत काल भाव च्यारौं भेद वस्तु ही मैं,
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानियै।
पर के चतुष्क वस्तु नासति नियत अंग,
ताकौ भेद दर्व-परजाइ मध्य जानियै॥
दरव तौ वस्तु खेत सत्ताभूमि काल चाल,
स्वभाव सहज मूल सकति बखानियै।
याही भांति परविकलप बुद्धि कलपना,
विवहारद्रिष्टि अंस भेद परवांनिये॥

(दोहा)

है नांही नांही सु है, है है नांही नांहि।
यह सरवंगी नय धनी, सब मानै सबमांहि॥

(सवैया इकतीसा)

ग्यान कौ कारन ज्ञेय आतमा त्रिलोकमय,
ज्ञेय सौं अनेक ग्यान मेल ज्ञेय छांही है।
जौलौं ज्ञेय तौलौं ग्यान सर्व दर्व मैं विग्यान,
ज्ञेय क्षेत्र मान ग्यान जीव वस्तु नांही है॥
देह नसै जीव नसै देह उपजत लसै,
आतमा अचेतना है सत्ता अंस मांही है।
जीव छिनभंगुर अग्यायक सहजरूपी,
ग्यान ऐसी एकान्त अवस्था मूढ पांही है॥

शिष्य कहता है कि हे स्वामी ! यह भगवान आत्मा स्वाधीन है या पराधीन,

एक है या इसे अनेक मान लिया जाये, इसकी जगत में सत्ता है या नहीं – यह अस्तिरूप है या नास्तिरूप और यह अविनश्वर है या इसे नश्वर कहा जाय ?

शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए सतगुरु कहते हैं कि यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो यह भगवान आत्मा सदा ही अस्तिरूप है तथा स्वाधीन, एक और अविनश्वर पदार्थ है; परन्तु पर्यायदृष्टि से देखने पर यह भगवान आत्मा नास्तिरूप है, पराधीन है, क्षणभंगुर है और अनेकरूप है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – ये चारों भेद एक वस्तु में ही होते हैं। अपने उक्त चतुष्टय (चारों भेद) से वस्तु अस्तिरूप है। पर के चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है – यह निश्चयनय की बात है।

उक्त वस्तु को द्रव्य और पर्याय के रूप में विभाजित किया जाता है। वस्तु स्वयं तो द्रव्य है, उसकी सत्ताभूमि क्षेत्र है, परिणमन काल है और सहजस्वाभाविक मूलशक्ति भाव है। इसप्रकार विकल्पात्मक ज्ञान में भेद करना व्यवहारनय का कार्य है।

है (अस्ति) नहीं है (नास्ति) अवक्तव्य है तथा है भी और नहीं भी है (अस्ति-नास्ति) आदि सात भंगों को नयज्ञान का धनी स्याद्वादी जानता है और सभी पदार्थों में इस सप्तभंगी को स्वीकार करता है, घटित करता है।

१. कोई कहता है कि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है, २. कोई कहता है कि आत्मा तीनलोकमय है, ३. कोई कहता है कि अनेक ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञान भी अनेकरूप है, ४. कोई कहता है कि ज्ञान ज्ञेय का प्रतिबिम्बमात्र है, ५. कोई कहता है कि जबतक ज्ञेय है तबतक ज्ञान है, ६. कोई कहता है कि सभी पदार्थ ज्ञानरूप हैं, ७. कोई कहता है कि ज्ञेय के क्षेत्र के बराबर ही ज्ञान है, ८. कोई कहता है कि ज्ञानस्वभावी जीव का अस्तित्व ही नहीं है, ९. कोई कहता है कि देह के नाश के साथ जीव का भी नाश हो जाता है, १०. कोई कहता है कि देह के उत्पन्न होने पर जीव भी उत्पन्न हो जाता है, ११. कोई कहता है कि आत्मा अचेतन है, १२. कोई

कहता है कि आत्मा सत्ता का अंश है, १३. कोई कहता है कि आत्मा क्षणभंगुर है और १४. कोई कहता है कि आत्मा अज्ञायक है अर्थात् जानने की शक्ति से रहित है।

इसप्रकार ये चौदह अवस्थायें (मान्यतायें) एकान्ती मूढ जीवों में पाई जाती हैं।

इसप्रकार बनारसीदासजी इन चार छन्दों में पाण्डे राजमलजी के भावों को तो पद्यानुवाद के रूप में प्रस्तुत करते ही हैं, साथ में१४ प्रकार के एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों की मान्यता का संक्षिप्त दिग्दर्शन करके आगामी १४ कलशों की भूमिका भी बना देते हैं।

इसके उपरान्त वे २ इकतीसा सवैयों के माध्यम से २४८ एवं २४९ वें कलश का भावानुवाद प्रस्तुत करते हैं, जिनमें स्वरूप से तत् और पररूप से अतत् अथवा द्रव्यरूप से तत् और पर्यायरूप से अतत् की सिद्धि करते हैं।

वे छन्द मूलत: इसप्रकार हैं –

(सवैया इकतीसा)

कोऊ मूढ़ कहै जैसें प्रथम संवारी भींति,
पाछैं ताकै ऊपर सुचित्र आछ्यौ लेखिए।
तैसैं मूल कारन प्रगट घट पट जैसौ,
तैसौं तहां ग्यानरूप कारज विसेखिए॥
ग्यानी कहै जैसी वस्तु तैसौ ही सुभाव ताकौ,
तातैं ग्यान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए।
कारन कारज दोऊ एक ही मैं निहचै पै,
तेरौ मत साचौ विवहारदृष्टि देखिए॥

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक व्यापि ग्यान मानि,
समुझै त्रिलोक पिंड आतम दरब है।
या ही तें सुछंद भयौ डोले मुखहू न बोलै,
कहै या जगत मैं हमारोई परब है॥

तासौं ग्याता कहै जीव जगत सौं भिन्न,
पै जगत कौ विकासी तौही याही तें गरब है।
जो वस्तु सो वस्तु पररूपसौं निराली सदा,
निहचै प्रमान स्यादवाद मैं सरब है॥

कोई अज्ञानी कहते हैं कि जिसप्रकार पहले दीवाल को संभारा जाता है, ठीक किया जाता है, चित्राम बनाने के योग्य बनाया जाता है; फिर उस दीवाल पर सुन्दर चित्र बनाया जाता है। तात्पर्य यह है कि दीवाल जैसी होगी, चित्र भी वैसा ही बनेगा। अच्छी तरह संभाली हुई दीवाल पर अच्छा चित्र बनता और खराब दीवाल पर खराब।

उसीप्रकार ज्ञान तो ज्ञेय के अनुसार होता है। जिसप्रकार से घट-पटादि पदार्थ होते हैं; उसीप्रकार का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान का मूल कारण ज्ञेय है, ज्ञान ज्ञेय के आधीन है।

यह मत ज्ञेय के आधीन ज्ञान को माननेवाले अर्थात् ज्ञेय को ही ज्ञान माननेवालों का है; किन्तु स्याद्वादी ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि जैसी वस्तु होती है, उसका वैसा ही स्वभाव होता है; इसलिए ज्ञान भिन्न है और ज्ञेय भिन्न हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान का कारण ज्ञेय नहीं, अपितु ज्ञान ही है; ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं, अपितु ज्ञानरूप ही है; क्योंकि निश्चयनय से कारण और कार्य अभिन्न ही होते हैं। व्यवहारनय से ज्ञेय के कारण ज्ञान होता है – यह तेरा मत भी कथंचित् सत्य कहा जा सकता है; क्योंकि वस्तु जैसी होती है, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है।

कोई मिथ्यामती अज्ञानी ज्ञान को लोकालोकव्यापी मानकर आत्मा को त्रिलोक का पिण्ड अर्थात् त्रिलोकप्रमाण समझते हैं। इसीकारण वे स्वच्छन्द हो गये हैं, अभिमान में चढकर किसी से सीधे मुख बात भी नहीं करते और कहते हैं कि हम ही सबकुछ हैं, हमारी बात ही पूर्णत: सत्य है।

ऐसे अज्ञानी एकान्तवादी से ज्ञानी स्याद्वादी कहते हैं कि यद्यपि जीव जगत से भिन्न ही है; तथापि सम्पूर्ण जगत को जानने के स्वभाववाला है। इसीकारण तुझे सर्वथा सर्वव्यापी होने का भ्रम हो गया है। निश्चयनय से प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से निराली (भिन्न) है। स्याद्वाद के सिद्धान्त में यह सबकुछ आ जाता है।

बनारसीदासजी के उक्त छन्दों में कलशटीका का सर्वांग अनुकरण किया गया है। यहाँ तक कि उदाहरण भी वे ही दिये हैं, जो कलशटीका में प्राप्त होते हैं।

कलशटीका में समागत उक्त छन्दों का मूलाधार अंश इसप्रकार है–

"जिसप्रकार भीत में चित्राम जब भीत नहीं थी तब नहीं था, जब भीत है तब है, जब भीत नहीं होगी तब नहीं होगा। इससे प्रतीति ऐसी उत्पन्न होती है कि चित्र के सर्वस्व का कर्त्ता भीत है।

उसीप्रकार जब घट है तब घटज्ञान है, जब घट नहीं था तब घटज्ञान नहीं था, जब घट नहीं होगा तब घटज्ञान नहीं होगा। इससे ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है कि ज्ञान के सर्वस्व का कर्त्ता ज्ञेय है।

कोई अज्ञानी एकान्तवादी ऐसा मानता है, इसलिए ऐसे अज्ञानी के मत में ज्ञान वस्तु ऐसा नहीं पाया जाता।

अनुभव निर्विकल्प है। युक्ति ऐसी कि ज्ञानवस्तु द्रव्यरूप से विचार करने पर अपने स्वरूप है, पर्यायरूप से विचार करने पर ज्ञेय से है।

जिसप्रकार ज्ञानवस्तु द्रव्यरूप से ज्ञानमात्र है पर्यायरूप से घटज्ञानमात्र है, इसलिए पर्यायरूप से देखने पर घटज्ञान जिसप्रकार कहा है, कि घट के सद्भाव में है, घट के नहीं होने पर नहीं है – वैसे ही है। द्रव्यरूप से अनुभव करने पर घटज्ञान ऐसा न देखा जाय, ज्ञान ऐसा देखा जाय तो घट से भिन्न अपने स्वरूपमात्र स्वयंसिद्ध वस्तु है।

इसप्रकार अनेकान्त के साधने पर वस्तुस्वरूप सधता है।

एकान्त से जो घट घटज्ञान का कर्त्ता है, ज्ञानवस्तु नहीं है तो ऐसा होना चाहिए कि जिसप्रकार घट के पास बैठे पुरुष को घटज्ञान होता है; उसीप्रकार जिस किसी वस्तु को घट के पास रखा जाय उसे घटज्ञान होना चाहिए। ऐसा होने पर स्तम्भ के पास घट के होने पर स्तम्भ को घटज्ञान होना चाहिए सो (परन्तु) ऐसा तो नहीं दिखाई देता।

तिस कारण ऐसा भाव प्रतीति में आता है कि जिसमें ज्ञानशक्ति विद्यमान है, उसको घट के पास बैठकर घट के देखने विचारने पर घटज्ञानरूप इस ज्ञान की पर्याय परिणमती है। इसलिए स्याद्वाद वस्तु का साधक है, एकान्तपना वस्तु का नाशकर्त्ता है।

कोई मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो ज्ञान को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। इसलिए जिसप्रकार जीवद्रव्य को ज्ञानवस्तुरूप से मानता है; उसप्रकार ज्ञेय जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य उनको भी ज्ञेयवस्तु नहीं मानता है, ज्ञानवस्तु मानता है।

उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि ज्ञान ज्ञेय को जानता है – ऐसा ज्ञान का स्वभाव है; तथापि ज्ञेयवस्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं है।

ज्ञानवस्तु पर्यायरूप से ज्ञेयाकार होती है सो मिथ्यादृष्टि पर्यायरूप भेद नहीं मानता है, समस्त ज्ञेय को ज्ञानवस्तुरूप मानता है।

उसके प्रति उत्तर इसप्रकार है कि ज्ञेयवस्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं है।

जिसप्रकार ज्ञानवस्तु ज्ञेयरूप से नहीं है, ज्ञानरूप से है। उसीप्रकार ज्ञेयवस्तु भी ज्ञानवस्तु से नहीं है, ज्ञेयवस्तुरूप है। इसलिए ऐसा अर्थ प्रगट हुआ कि पर्यायद्वार से ज्ञान विश्वरूप है, द्रव्यद्वार से आपरूप है। ऐसा भेद स्याद्वादी अनुभवता है। इसलिए स्याद्वाद वस्तुस्वरूप का साधक है, एकान्तपना वस्तु का घातक है।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि एकान्त के निषेध एवं तत्संबंधी अनेकान्त की स्थापना करनेवाले उक्त दो छन्दों में मूलतः यह समझाने का प्रयास

किया गया है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से सत्स्वरूप है और परचतुष्टय से असत्स्वरूप है, फिर भी इस भगवान आत्मा का स्वभाव स्वपरप्रकाशक होने से यह ज्ञान पर को भी जानता है; पर पररूप नहीं होता; तथापि पर को जाननेमात्र से एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि या तो आत्मा को पररूप मान लेता है या पर को निजरूप मान लेता है।

उक्त सन्दर्भ में स्याद्वाद का कहना यह है कि यद्यपि सबको जानने के कारण आत्मा को सर्वव्यापक कहा जाता है; तथापि आत्मा न तो पररूप होता है और परपदार्थ आत्मारूप होते हैं।

परज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा को पराधीन माननेवाले, पररूप माननेवाले भी सही नहीं हैं और परपदार्थों के ज्ञान में झलकने मात्र से परपदार्थों को निजरूप मानना भी सही नहीं है; अपितु बात यह है कि परज्ञेयों के ज्ञान का कारण परज्ञेय नहीं, अपितु आत्मा का स्वपरप्रकाशक स्वभाव ही है। ज्ञान के ज्ञेयाकार परिणमन के कारण व्यवहार से ज्ञेयों को कारण कहा जाता है, पर निश्चय से ज्ञान का कारण ज्ञेय नहीं।

उक्त सन्दर्भ में लेखक की अन्य कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है –

"यह एक ध्रुवसत्य है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है; अन्यथा ऐसा क्यों होता है कि जो ज्ञेय सामने है, उसका तो ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेय सामने नहीं है – क्षेत्र-काल से दूर है, उसका ज्ञान होता दिखाई देता है। नवविवाहित ऑफीसर को सामने बैठा क्लर्क दिखाई नहीं देता, अपितु ऑफिस से दूर घर में या पीहर में बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है।

इसीप्रकार का एक श्लोक प्रमेयरत्नमाला में आता है –

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यक्तम्॥

कारागार में बन्द कोई कामी कहता है कि यद्यपि कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार इतना सघन है कि सुई के अग्रभाग (नोक) से भी नहीं भेदा जा सकता है तथा मैंने अपने दोनों नेत्र बन्द कर रखे हैं; तथापि मुझे अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता; अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्षयोपशम ज्ञान में जिस समय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता होती है; उस समय वही ज्ञेय ज्ञान का विषय बनता है, अन्य नहीं।

इस बात को न्यायशास्त्र के निम्नलिखित सूत्र से भलीप्रकार समझा जा सकता है –

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।

स्वावरणक्षयोपशम है लक्षण जिसका – ऐसी योग्यता ही यह व्यवस्था करती है कि ज्ञान किसको जाने।

यहाँ क्षयोपशम ज्ञान किसको जाने और किसको न जाने – इसकी चर्चा चल रही है। केवलज्ञान में तो यह प्रश्न ही सम्भव नहीं है; क्योंकि वह तो एकसमय में ही लोकालोक को जानता है, सबकुछ जानता है।

बौद्धों का यह कहना है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है, ज्ञेयाकार होता है और ज्ञेयों को जाननेवाला होता है; जिसे वे तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैनों को उक्त बात स्वीकार नहीं है।

इस सन्दर्भ में वे जैनों से पूछते हैं कि यदि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न नहीं होता तो फिर तुम्हारे यहाँ ज्ञान अमुक ज्ञेय को ही क्यों जाने, अन्य को क्यों नहीं ? आखिर इसका नियामक कौन होगा कि अमुक समय की ज्ञानपर्याय अमुक ज्ञेय को ही जाने ? बौद्धों के यहाँ तो जो ज्ञान जिस ज्ञेय से उत्पन्न होता है, उसी को जानता है – यह व्यवस्था है। जैनों में इस सन्दर्भ में क्या व्यवस्था है,

इसके उत्तर में ही उक्त सूत्र आया है; जिसका आशय है कि योग्यता ही इसकी नियामक है अर्थात् ज्ञान की विवक्षित पर्याय में जानने की क्षमता के साथ-साथ यह क्षमता भी निश्चित ही होती है कि वह किस ज्ञेय को जानेगी।

योग्यता को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि तत्संबंधी आवरण का क्षयोपशम है लक्षण जिसका ऐसी योग्यता। अर्थात् उस योग्यता में जिस ज्ञेय को जानना है, तत्संबंधी आवरण का क्षयोपशम होता है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान की प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय भी निश्चित है और वह उसकी योग्यता में ही सम्मिलित है।[1]''

उक्त कथन से यह बात सहज ही सिद्ध हो जाती है कि ज्ञान का कारण ज्ञेय नहीं है; क्योंकि ज्ञान स्वभाव से तत्स्वरूप और परभाव से अतत्स्वरूप है।

(३-४) एक-अनेक – एक और अनेक संबंधी तीसरे और चौथे भंग के सन्दर्भ में आत्मख्याति में जो भाव प्रगट किया है; वह इसप्रकार है–

''जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयाकारों (ज्ञेय के आकारों) के द्वारा अपना सकल (सम्पूर्ण-अखण्ड) एक ज्ञानाकार (ज्ञान के आकार) को खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

और जब यह ज्ञानमात्रभाव एक ज्ञानाकार (ज्ञान के आकार) को ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।''

उक्त भंगों के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे प्रभु ! आपने एक सैकेण्ड के भी असंख्यात भाग में अर्थात् एक ही समय में वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को

१. क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ -३५-३७

जाना – यही आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है। 'एक ही समय में वस्तु पूर्व अवस्था से व्यय, उत्तर अवस्था से उत्पाद और वस्तुपने ध्रुव रहती है।' – यह आपने जाना, इससे मैंने निश्चय किया कि आप सर्वज्ञ हो।

यहाँ वस्तु के 'एक-अनेक' भंग के संदर्भ में कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मा की दशा में अनेक ज्ञेयों का ज्ञान होता है; किन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'ज्ञेयों के खण्ड-खण्ड ज्ञान से मैं खण्ड-खण्ड हो गया।' 'मैं अखण्ड ज्ञानाकार हूँ' इसलिए जानने में भी एकपना ही होना चाहिए– अज्ञानी ऐसा एकान्त से मानता है तथा अनेक ज्ञेयों के जानते ही मैं खण्ड-खण्ड हो जाऊँगा – ऐसा मानकर वह अपने स्वरूप का नाश करता है।

अपनी पर्याय में अनेकपना होना आत्मा का पर्यायस्वभाव है। अनेक ज्ञेयों को जानना आत्मा की ज्ञानपर्याय का स्वभाव है। पर्यायगत स्वभाव में ऐसा अनेकपना होते हुए भी द्रव्यस्वभाव में 'मैं अखण्ड एक हूँ' – ऐसा प्रकाशित करते हुए अनेकान्त ही वस्तु को जीवित रखता है अर्थात् वस्तु के अस्तित्व को कायम रखता है। द्रव्य से मैं एक ही हूँ, अनेक नहीं हुआ; पर्याय से मैं अनेक हूँ – इसप्रकार द्रव्य से एक एवं पर्याय से अनेक – ऐसे अनेकान्त सिद्धान्त द्वारा ही आत्मा का अस्तित्व कायम रहता है।

आगे कहते हैं कि जब अज्ञानी जीव ज्ञानमात्र भाव से एक ज्ञानाकार को ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयों को जानना छोड़ देता है, जबकि पर्याय में अनेक को जानना तो आत्मा का पर्यायस्वभाव है, अनेक को जानना कोई दोष ही नहीं है; परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं समझता। अत: वह एक को जानने के लिए अनेक का त्याग करके आत्मा के पर्यायस्वभाव का नाश ही करता है।

अहा ! ज्ञान की पर्याय त्रिकाली द्रव्य को, उसके अनन्त गुणों को तथा प्रगट हुई, दर्शन की, आनन्द की, श्रद्धा की, शान्ति की, स्वच्छता, प्रभुता आदि सभी की पर्यायों को भी जानता है तथा वह पर्याय परपदार्थों एवं

रागादि को भी जानती है। ऐसा ही कोई ज्ञान की पर्याय का स्वपर को प्रकाशित करने का चमत्कारिक सामर्थ्य है।

इसप्रकार पर्याय अपेक्षा जिसे अनेकपना स्वीकृत नहीं है – ऐसा अज्ञानी अनेकपने के जानने का त्याग करके – अभाव करके अपना नाश करता है अर्थात् स्वानुभूति में प्राप्त होने योग्य अतीन्द्रिय आनन्द से दूर रहता है तथा धर्मी ज्ञानी पुरुष ज्ञानमात्र भाव का पर्याय से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ नाश नहीं होने देता।[१]

द्रव्य (वस्तु) जिस अपेक्षा से एक है, उसी की अपेक्षा से अनेक नहीं होता। पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा एक है और पर्याय अपेक्षा या गुणभेद की अपेक्षा अनेक है – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। इसे स्वीकार करता हुआ ज्ञानी यथार्थ दृष्टि से अपने अस्तित्व की सुरक्षा करता है, उसे नष्ट नहीं होने देता।[२]

धर्मी को एक ही पर्याय में आनन्द और दु:ख – दोनों का वेदन है। यदि ऐसा नहीं माना गया तो वस्तु की सिद्धि नहीं होगी। दु:ख को दोष मानकर स्वयं को उसका ज्ञाता-दृष्टा कहना – यह तो द्रव्यदृष्टि की बात है; किन्तु ज्ञान की अपेक्षा आत्मा दु:ख का वेदन करता है।

प्रश्न : ज्ञानी राग को, दु:ख को जानता है – ऐसा कोई कहे तो उससे पूछते हैं कि वह उसका मात्र ज्ञाता है कि भोक्ता भी है ?

उत्तर : ज्ञाता भी है और भोक्ता भी है। स्वभाव की दृष्टि से वह ज्ञाता है, कर्त्ता-भोक्ता नहीं; किन्तु पर्याय का ज्ञान करने की अपेक्षा से कर्त्ता-भोक्ता है, वेदक है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया तो दु:ख का वेदन परद्रव्य को होना मानने का प्रसंग आयेगा, जो असंभव है। ज्ञानी के ज्ञानधारा के साथ कर्मधारा भी है न ! ज्ञानी को कर्मधारा है – इसका अर्थ यह है कि पर्याय के

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ३५-३७
२. वही, पृष्ठ - ३७

वेदन की अपेक्षा उन्हें दु:ख का वेदन है।[१]''

अब इसी भाव के पोषक कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित्॥२५०॥

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वत:क्षालितं।
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन पश्यतयनेकांतवित्॥२५१॥

(हरिगीत)

खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता स्वयं अज्ञानी पशु।
छिन-भिन्न हो चहुँ ओर से बाह्यार्थ के परिग्रहण से॥
एकत्व के परिज्ञान से भ्रमभेद जो परित्याग दें।
वे स्याद्वादी जगत में एकत्व का अनुभव करें॥२५०॥

जो मैल ज्ञेयाकार का धो डालने के भाव से।
स्वीकृत करें एकत्व को एकान्त से वे नष्ट हों॥
अनेकत्व को जो जानकर भी एकता छोड़े नहीं।
वे स्याद्वादी स्वत:क्षालित तत्त्व का अनुभव करें॥२५१॥

बाह्यपदार्थों को ग्रहण करने (जानने) के स्वभाव की अतिशयता के कारण चारों ओर प्रगट होनेवाले अनेकप्रकार के ज्ञेयाकारों से छिन्न-भिन्न हो गई है विवेक शक्ति जिसकी; वह अज्ञानी (पशु) पूर्णत: खण्ड-खण्ड होता हुआ नष्ट हो जाता है और अनेकान्त को जाननेवाले ज्ञानी सदा उदित एक द्रव्यत्व के कारण भेद के भ्रम को नष्ट करते हुए जिसका अनुभव निर्बाध है –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, वही, पृष्ठ -३७-३८

ऐसे ज्ञान को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

ज्ञेयाकाररूप कलंक से स्वयं को मलिन मानकर उसको धो डालने की कल्पना करता हुआ अज्ञानी प्रगटरूप अनेकाकार ज्ञान को एकाकार करने की इच्छा से अनेकाकार न मानकर नष्ट होता है; परन्तु अनेकान्त को जाननेवाले ज्ञानी पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानते हुए विचित्र (अनेकरूप) होने पर भी अविचित्रता (एकता) को प्राप्त ज्ञान को स्वयं से क्षालित (धुला हुआ) अनुभव करता है।

इन कलशों के भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"ज्ञान है वह ज्ञेयों के आकाररूप परिणमित होने से अनेक दिखाई देता है, इसलिए सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञान को सर्वथा अनेक – खण्ड-खण्डरूप देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निज का नाश करता है और स्याद्वादी तो ज्ञान को, ज्ञेयाकार होने पर भी सदा, उदयमान द्रव्यत्व के द्वारा एक देखता है।

एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञान को मलिन जानकर, उसे धोकर – उसमें से ज्ञेयाकारों को दूर करके, ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित एक-आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञान का नाश करता है और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभाव को जानता है; इसलिए ज्ञान का स्वरूप से ही अनेकाकारपना मानता है।"

यद्यपि द्रव्यस्वभाव से ज्ञान एक है, एकाकार है, ज्ञानाकार है; तथापि ज्ञानपर्याय में अनेक ज्ञेय जानने में आते हैं; इसलिए उसे अनेक भी माना गया है। वह ज्ञान अनेकों को जाननेवाला होने से अनेकाकार और ज्ञेयों को जाननेवाला होने से ज्ञेयाकार कहा जाता है।

इसप्रकार ज्ञान एक भी है और अनेक भी है, एकाकार भी है और अनेकाकार भी है, ज्ञानाकार भी है और ज्ञेयाकार भी है। यही एकानेक सम्बन्धी अनेकान्त है।

उक्त अनेकान्त से अपरिचित एकान्तवादी या तो ज्ञान को एक ही मानते हैं या फिर अनेक ही मानते हैं, एकाकार ही मानते हैं या फिर अनेकाकार ही मानते हैं, ज्ञानाकार ही मानते हैं या फिर ज्ञेयाकार ही मानते हैं।

ज्ञान को एक ही माननेवाले एकान्तवादियों का कहना यह है कि अनेक ज्ञेयों को जानने से ज्ञान मलिन हो जाता है; इसकारण ज्ञेयाकारज्ञान अशुद्धि का जनक है; अत: ज्ञान को एक ज्ञानाकार मानना ही ठीक है; पर उसे इस बात का पता नहीं है कि अनेक ज्ञेयों को जानना ज्ञान का सहज स्वभाव है, विभाव नहीं; इसकारण अनेक ज्ञेयों को जानने से ज्ञान का मलिन होना संभव ही नहीं।

ज्ञान को अनेक माननेवाले एकान्तवादियों का कहना यह है कि अनेक ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञान अनेक ही दिखाई देता है; अत: वह अनेक ही है, अनेकाकार ही है। इसीप्रकार ज्ञेयों को जानने के अतिरिक्त ज्ञान का और कार्य भी क्या है ? अत: वह ज्ञेयाकार ही है।

स्याद्वादी कहते हैं कि ज्ञान द्रव्यस्वभाव से एकाकार है, ज्ञानाकार है; इसलिए एक भी है और पर्यायस्वभाव से अनेकाकार है, ज्ञेयाकार है; इसलिए अनेक भी है।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''एक समय की ज्ञान की पर्याय में छहों द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने का आत्मा का स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी मानता है कि अनेकप्रकार के ज्ञेयाकारों से मेरी ज्ञानशक्ति खण्डित, छिन्न-भिन्न हो गई है, मुझमें एकपना नहीं रहा, जबकि वास्तविक बात तो यह है कि जो वस्तु एकस्वरूप है वही अनेकस्वरूप है। पर्याय में अनेकपना होते हुए भी द्रव्य के एकपने को कहीं/कोई आंच नहीं आती है; तथापि एकपने की इच्छा करनेवाले को यह भ्रम हो गया है कि 'मैं अनेक हो गया।'

इसप्रकार अनेकपने से अपनी ज्ञानशक्ति को खण्ड-खण्डरूप होती हुई

मानकर अनेक को जाननेरूप परिणमन देखकर स्वयं खण्ड-खण्ड हो गया – ऐसा मानता हुआ अनेकपने से इन्कार कर अपनी सत्ता का नाश करता है, मिथ्यात्वभाव से परिणमन करता है।

अहा ! दृष्टि के विषयभूत एकरूप स्वभाव की प्राप्ति और उसका आश्रय तो पर्याय में होता है, जो वस्तु की पर्याय को और पर्याय के स्वभाव को ही एकान्त से स्वीकार नहीं करता, उसे यथार्थदृष्टि, सम्यकदृष्टि कैसे हो सकती है ? बापू ! वस्तु तो द्रव्य-पर्यायरूप है, द्रव्यपने भी है और पर्यायपने भी है। द्रव्यपने जो एक है, वही पर्यायपने अनेक है। एकान्त से द्रव्यरूप-एकरूप ही वस्तु नहीं है; परन्तु एकान्ती एकान्त से एकपने मानकर पर्याय को छोड़ देता है। इसप्रकार वह एकान्त से अपने सत्त्व का ही नाश करता है।

वस्तु के अनन्त धर्मों को यथावत् जाननेवाले स्याद्वादी-सम्यग्दृष्टि तो यह कहते हैं कि यद्यपि पर्याय की दृष्टि से मैं भले ही अनेक को जाननेवाला हूँ; परन्तु नित्य उदयमान अखण्ड एकद्रव्यपने के कारण मैं तो एक ही हूँ। पर्याय में अनेक को जानने का भी मेरा स्वभाव है, किन्तु एकरूप द्रव्यस्वभाव को क्या बाधा है, द्रव्य तो एक अखण्डित ही है।

इसप्रकार 'ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में वस्तुभेद, खण्ड हो गया' – ऐसे भ्रम का नाश करता हुआ, अनेकपने को गौण करता हुआ ज्ञानी निर्बाधरूप से एक ज्ञानस्वरूप को ही देखता है, अनुभव करता है। बस, इसी का नाम धर्म है। इसके सिवाय सब निस्सार है।[1]

जो व्यक्ति स्वयं को सर्वथा एकरूप मानकर पर्यायदृष्टि से जो अनेकपना भी वस्तु का स्वभाव है, उसे स्वीकार नहीं करता, आचार्य ने उसे पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी कहा है; क्योंकि वस्तु तो सहज ही द्रव्य-पर्यायरूप है। द्रव्यरूप से एकपना एवं पर्यायरूप से अनेकपना यह तो वस्तु का सहज स्वभाव ही है; किन्तु अज्ञानी उस ज्ञान की पर्याय में जो अनेक

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ६२-६३

परज्ञेय जानने में आते हैं, उन्हें कलंक मानकर निकाल देना चाहता है, ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेयाकारों का नाश करना चाहता है, निकालना चाहता है; परन्तु यह संभव नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकाररूप परिणत ज्ञानपर्याय में से ज्ञेयाकारों के नाश के साथ पर्याय का भी नाश होता ही है।

जिसप्रकार दर्पण के सामने कोयला हो या बिच्छू हो तो कोयला या बिच्छू का प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है; जो कि दर्पण की ही निर्मलपर्याय का परिणमन है। कोयला या बिच्छू वहाँ उस दर्पण में नहीं है। यदि उस दर्पण की पर्याय में से कोयला या बिच्छू को निकालना चाहें तो दर्पण की उस अवस्था का ही नाश होगा अर्थात् उसरूप परिणत दर्पण का ही नाश होगा न !

उसीप्रकार आत्मा चैतन्यदर्पण है। वह द्रव्यरूप से कायम एकरूप रहकर, उसकी एकसमय की ज्ञान की पर्याय, परज्ञेयों का स्पर्श किये बिना ही, उसका आश्रय लिए बिना ही अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप परिणत होती है। यद्यपि सामने परज्ञेय हैं; परन्तु इसके कारण इसका ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं होता। यह तो ज्ञान की निर्मलपर्याय का ही ऐसा स्वभाव है कि अनन्त ज्ञेयाकारोंरूप ज्ञान का परिणमन स्वयं का स्वयं में स्वयं से होता है। अज्ञानी उसे कलंक मानकर उन ज्ञेयाकारों को मिटा देना चाहता है।

वह सोचता है कि 'मैं तो एकरूप हूँ उसमें यह अनेकरूपता कैसी ? यह तो कलंक है।' – ऐसा मानकर वह उन ज्ञेयाकारों को दूर करने की इच्छा से अपनी ही स्वरूपसत्ता का नाश करता है, अपनी स्वरूपसत्ता से इन्कार करता है। अहा ! वह यह नहीं जानता कि अनन्त परज्ञेयों को जाननेरूप परिणमन करने का मेरा, ज्ञानपर्याय का ही सहजस्वभाव है।[1]

स्याद्वादी अनेकपने के ज्ञान को कलंक या मलिनता नहीं मानता, क्योंकि अनन्त को अनेकरूप जानने का ज्ञान का सहज स्वभाव है। भावार्थ यह है

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ६५-६६

कि अपना जो ध्रुवज्ञायकतत्त्व है, वह जो पर्याय में अनन्त ज्ञेयाकारों को जाननेरूप हुआ है – वह उसकी पर्याय का स्वभाव है – ऐसा न मानकर उसे कलंक मानकर ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित – एक आकाररूप करने की इच्छावाला अज्ञानी पर्यायस्वभाव का नाश करता है। इसप्रकार वह अपना ही नाश करता है।

अरे भाई ! अनन्तज्ञेयों को जानना तो वस्तु का पर्यायगत स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञान को जहाँ स्वरूप से ही अनेकाकारपना है, वहाँ मलिनता कैसी ? ज्ञान में अनन्तता जानी जाय – यह तो ज्ञान की निर्मलता है।[१]''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के उक्त विश्लेषण में अनेक बार इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि अनेक ज्ञेयों को जानना, परज्ञेयों को जानना आत्मा का सहजस्वभाव है, मलिनता नहीं। पर को जानने को अपराध कहनेवाले अध्यात्मियों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

कविवर बनारसीदासजी इन कलशों का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

कोऊ पसु ग्यान की अनंत विचित्राई देखै,
ज्ञेय कै अकार नानारूप विसतर्‌यौ है।
ताही को विचारि कहै ग्यान की अनेक सत्ता,
गहि कै एकंत पच्छ लोकनि सौं लर्‌यौ है॥
ताकौ भ्रम भंजिवे कौ ग्यानवंत कहै ग्यान,
अगम अगाध निराबाध रस भर्‌यौ है।
ज्ञायक सुभाइ परजाय सौं अनेक भयो,
जद्यपि तथापि एकता सौं नाहिं टर्‌यौ है॥
कोऊ कुधी के है ग्यान मांहि ज्ञेय कौ अकार,
प्रतिभासि रह्यौ है कलंक ताहि धोइयै।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ६७-६८

जब ध्यान जल सौं पखारि कै धवल कीजै,
तब निराकार सुद्ध ग्यानमय होइयै॥
तासौं स्याद्वादी कहै ग्यान कौ सुभाव यहै,
ज्ञेय कौ अकार वस्तु मांहि कहां खोइयै।
जैसे नानारूप प्रतिबिंब की झलक दीखै,
जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइयै॥

अनन्त ज्ञेयों के आकार प्रतिबिम्बित होने से ज्ञान का फैलाव भी अनन्त हो जाता है तथा विभिन्न ज्ञेयों के जानने से ज्ञान भी विचित्र भासित होता है। अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप ज्ञान की अनंत विचित्रता को देखकर कोई अज्ञानी ऐसा विचार करता है कि यह ज्ञान तो अनेकाकार हो गया, अनेक सत्तावाला हो गया। कुछ अज्ञानी ऐसे एकान्त को पंकड़कर लोगों से झगड़ा करते हैं।

उनके भ्रम को निवारण करने के लिए ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान (आत्मा) तो अगम है, अगाध है, निराबाध है और अनन्त आनन्दरस से भरा हुआ है। ज्ञायकस्वभावी यह आत्मा यद्यपि पर्यायदृष्टि से अनेकरूप हो गया है; तथापि उसने अपने एकत्व को नहीं छोड़ा है।

कोई कुबुद्धि कहता है कि ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित हुए हैं; वह कलंक है। उस कलंक को जब ध्यानरूपी जल से धोकर धवल (साफ) करते हैं; तब यह ज्ञान निराकार होकर शुद्ध ज्ञानमय हो जाता है।

उससे स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि यह तो ज्ञान का स्वभाव है, समस्त ज्ञेयों को जानना ज्ञान का सहज स्वभाव है; इसमें कलंक की बात ही कहाँ है? ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों के आकारों को कैसे हटाया जा सकता है, कैसे धोया जा सकता है?

अरे भाई ! यद्यपि दर्पण में अनेक पदार्थों के प्रतिबिम्बों की झलक दिखाई देती है; तथापि दर्पण की स्वच्छता तो निरन्तर विद्यमान रहती है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार दर्पण में पदार्थों के झलकने से उसकी

निर्मलता को कोई आंच नहीं आती; उसीप्रकार ज्ञान में ज्ञेयों के आकार झलकने से ज्ञान की पवित्रता पर कोई आँच नहीं आती; क्योंकि ज्ञेय का ज्ञान में झलकना ज्ञान का सहज स्वभाव है।

बनारसीदासजी के उक्त छन्दों में कलशटीका का अनुकरण किया गया है। उक्त छन्दों का मूलाधार कलशटीका का अंश इसप्रकार है –

"कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमात्र को वस्तु मानता है, वस्तु को नहीं मानता है; इसलिए ज्ञानवस्तु अनेक ज्ञेय को जानती है, उसको जानती हुयी ज्ञेयाकार परिणमती है – ऐसा जानकर ज्ञान को अनेक मानता है, एक नहीं मानता है।

उसके प्रति उत्तर इसप्रकार है कि एक ज्ञान को माने बिना अनेक ज्ञान – ऐसा नहीं सधता है; इसलिए ज्ञान को एक मानकर अनेक मानना वस्तु का साधक है।

ज्ञान का स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय के आकाररूप परिणमना। कोई एकान्तवादी एतावन्मात्र वस्तु को जानता हुआ ज्ञान को अनेक मानता है।

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है कि वस्तु को द्रव्यरूप मात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। इसलिए ज्ञान को निर्विकल्प वस्तुमात्र मानता है, ज्ञेयाकार परिणतिरूप ज्ञान की पर्याय नहीं मानता है; इसलिए ज्ञेय वस्तु को जानते हुए ज्ञान का अशुद्धपना मानता है। उसके प्रति स्याद्वादी ज्ञान का द्रव्यरूप एक पर्यायरूप अनेक ऐसा स्वभाव साधता है।

ज्ञेय को जानता है ज्ञान, उसको एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव नहीं मानता है, अशुद्धपनेरूप से मानता है।

यद्यपि जीववस्तु द्रव्यरूप एक है; तथापि अनेक ज्ञेयाकाररूप पर्याय की अपेक्षा अनेकपना को प्राप्त होती है – ऐसे स्वरूप को अनेकान्तवादी साध सकता है – अनुभवगोचर कर सकता है।"

कलशटीका के उक्त कथन में ज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं माननेवालों को मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि ज्ञान एक भी है और अनेक भी है। द्रव्यस्वभाव से एक है और पर्यायस्वभाव से अनेक है। यद्यपि अनेक परज्ञेयों के जानने की अपेक्षा ही ज्ञान अनेक कहा गया है; तथापि अनेक ज्ञेयों के जानने से ज्ञान की एकता खण्डित नहीं होती। इसप्रकार ज्ञान एक होकर भी अनेक है और अनेक होकर भी एक है।

प्रश्न : हमने तो ऐसा सुना था कि ज्ञान (आत्मवस्तु) द्रव्य की अपेक्षा एक है और गुणों की अपेक्षा या पर्यायों की अपेक्षा अनेक है; पर यहाँ यह कहा जा रहा है कि ज्ञेयाकार होने से ज्ञान (आत्मवस्तु) अनेक है।

उत्तर : आपने ठीक ही सुना था; क्योंकि जिनागम में द्रव्य की अपेक्षा एक और पर्याय की अपेक्षा अनेक ऐसा भी कथन आता है; तथापि यहाँ यह अपेक्षा ही मुख्य है कि ज्ञान में अनेक ज्ञेयों के जो अनेक आकार झलकते हैं, उनके कारण ज्ञान को ज्ञेयाकार या अनेकाकार कहा जाता है। ऐसा होने पर भी अनेक ज्ञेयों का जाननेवाला ज्ञान ज्ञानाकार ही रहता है, एकाकार ही रहता है; क्योंकि वे आकार ज्ञान की ही रचना है, उनमें ज्ञान ही व्याप्त है; ज्ञेयों का उसमें कुछ भी नहीं आया है; ज्ञेय तो मात्र जानने में आये हैं। ज्ञेय भी क्यों; ज्ञेयों के आकार, ज्ञेयों जैसे आकार ही जानने में आये हैं। वे ज्ञेयों जैसे आकार भी ज्ञान की रचना है, ज्ञेय तो उनमें मात्र निमित्त हैं। ज्ञेयों का उसमें कोई योगदान नहीं है।

प्रश्न : योगदान क्यों नहीं है, क्या ज्ञेयों के बिना भी ज्ञान हो सकता है?

उत्तर : अरे भाई ! ज्ञान तो ज्ञेयों के बिना ही होता है। सींगों वाले गधे की सत्ता इस लोक में नहीं है; फिर भी ज्ञान में तो सींगों वाला गधा भी जान लिया जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर व्यंग्यचित्रकार ऐसे चित्र कैसे बना देते। सम्पूर्ण शरीर गधे का और चेहरा आदमी का – ऐसे चित्र भी तो

आपने देखे होंगे। किसी नेता के गधेपन को बताने के लिए व्यंग्यचित्रों में गधे के शरीर पर उसका चेहरा बैठा दिया जाता है– ऐसे अनेक व्यंग्यचित्र समाचार-पत्रों में कहीं भी देखे जा सकते हैं।

अरे भाई ! ज्ञाननय की अपेक्षा कल्पनालोक भी ज्ञान का ज्ञेय बनता है। इस संदर्भ में विशेष जानना हो तो लेखक की अन्य कृति **परमभाव-प्रकाशक नयचक्र** के ज्ञाननय एवं नैगमनय संबंधी प्रकरण का बारीकी से अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न : जिन पदार्थों की सत्ता लोक में नहीं है; उनका ज्ञान ज्ञेयों के बिना होता होगा; किन्तु जिनका अस्तित्व है; उनके ज्ञान में तो उनका सहयोग होगा ही।

उत्तर : अरे भाई ! ज्ञेयों को जानने के लिए ज्ञान को उनके सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। ज्ञेयों से ज्ञान होता है – यह तो बौद्धों की मान्यता है। ज्ञान पर्याय में यह योग्यता स्वयं से ही होती है कि उसके ज्ञान का ज्ञेय कौन बने और ज्ञेयों में भी ज्ञान का ज्ञेय बनने का सहज स्वभाव है।

ज्ञेयों को जानना ज्ञान का विभाव नहीं और जानने में आना ज्ञेयों का विभाव नहीं है; अपितु ज्ञेयों को जानना ज्ञान का सहजस्वभाव है और जानने में आना ज्ञेयों का सहजस्वभाव है। दोनों में इसप्रकार का सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; पर दोनों हैं पूर्ण स्वाधीन।

इसप्रकार यहाँ यही अपेक्षा मुख्य है कि यद्यपि ज्ञान ज्ञेयों को जाननेरूप कार्य में पूर्ण स्वाधीन होने से ज्ञानाकार ही है, एकाकार ही है, एक ही है; तथापि अनेक ज्ञेयाकारों को जानने के कारण अनेकाकार भी है, ज्ञेयाकार भी है और इसी वजह से अनेक भी है।

इसप्रकार यह एक और अनेक संबंधी तीसरे और चौथे भंगों की चर्चा हुई।

प्रथम और द्वितीय तत् और अतत् संबंधी भंग में स्वरूप से तत् और पररूप से अतत् की अपेक्षा बात स्पष्ट की थी तथा एक और अनेक संबंधी

तीसरे और चौथे भंग में अनेक ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञानमात्र भाव को अनेकाकार-ज्ञेयाकार और जाननस्वभाव के कारण एकाकार-ज्ञानाकार कहा गया है।

अब आगामी आठ भंगों में स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, स्वकाल -परकाल और स्वभाव-परभाव संबंधी वस्तुस्थिति स्पष्ट करेंगे।

यद्यपि सामान्य से स्वरूप में स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और पररूप में परचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आ जाते हैं; तथापि विशेष स्पष्टीकरण के लिए यहाँ स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, स्वकाल-परकाल और स्वभाव-परभाव संबंधी आठ भंगों की पृथक्-पृथक् चर्चा करते हैं।

इन भंगों की चर्चा आरंभ करने से पूर्व इसी विषय को समझने में सहकारी भेदविज्ञान संबंधी चर्चा अपेक्षित है।

स्व-परभेदविज्ञान की मूल समस्या यह है कि स्व अर्थात् जानने-देखने के स्वभाववाला निज भगवान आत्मा और पर अर्थात् वे परपदार्थ जो इसके ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं – ऐसे इन स्व-पर पदार्थों के बीच एक ज्ञाता-ज्ञेय संबंध को छोड़कर किसी भी प्रकार का अन्य कोई संबंध नहीं है।

यह बात तो अत्यन्त स्पष्ट होने से, हो जाने से सहज ही सभी की समझ में आ जाती है; क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की सत्ता पूर्णतः स्वाधीन है। यह तथ्य सभी को सहजभाव से स्वीकृत है।

यदि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप हो अथवा एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का स्वामी हो अथवा कर्त्ता-भोक्ता हो तो फिर स्वाधीनता का अर्थ ही क्या रह जाता है ? दो द्रव्यों के बीच में जब अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है तो फिर कोई किसी रूप या कोई किसी का कैसे हो सकता है तथा कोई किसी का कर्त्ता-भोक्ता भी कैसे हो सकता है ?

इसप्रकार स्व और पर में सहजसिद्ध भिन्नता होने पर भी इस भगवान

आत्मा और इससे भिन्न परपदार्थों के बीच जो अनिवार्य ज्ञाता-ज्ञेय संबंध है; वह तो है ही। यद्यपि इस ज्ञाता-ज्ञेय संबंध में कोई पराधीनता नहीं है; क्योंकि दोनों की बीच की वज्र की दीवाल कायम रहते हुए ज्ञायक आत्मा उन्हें जान लेता है और वे ज्ञेय पदार्थ इसके ज्ञान में सहज ही आ जाते हैं। उन्हें जानने के लिए आत्मा को उनके पास नहीं जाना पड़ता और न उन्हें ही आत्मा के नजदीक आना पड़ता है।

यद्यपि दोनों का यह सहज स्वभाव ही है, इसमें किसीप्रकार की पराधीनता नहीं है; तथापि कुछ अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि ज्ञान में ज्ञेयों के आ जाने से वे ज्ञेय ज्ञानरूप ही हो गये तथा कुछ अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञान ज्ञेयरूप ही हो गया है।

इसप्रकार एक स्व का अपलापक हो जाता है और दूसरा पर का अपलापक हो जाता है। स्याद्वादी इस परमसत्य को भलीभांति जानते हैं; अत: दोनों अपेक्षाओं को भलीभांति जानकर-मानकर परमसत्य को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न : वह कौन-सा परमसत्य है, जिसे जान लेने से स्याद्वादी परमसत्य को प्राप्त कर लेते हैं ?

उत्तर : यही कि पर को जानने मात्र से न तो ज्ञान पररूप होता है और न ज्ञान में जानने में आने से ज्ञेय ज्ञानरूप ही होते हैं; दोनों की सत्ता पूर्णत: भिन्न-भिन्न ही रहती हैं और उनमें परस्पर एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी स्थापित नहीं होता।

(५-६) स्वद्रव्य-परद्रव्य – स्वद्रव्य और परद्रव्य संबंधी पाँचवे और छठवें भंगों की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

"जब यह ज्ञानमात्रभाव परद्रव्यों के जाननेरूप परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्यरूप अपने आत्मा को परद्रव्यरूप मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव को स्वद्रव्य से सत्त्व (अस्तित्व) प्रकाशित करता

हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

और जब यह ज्ञानमात्रभाव 'सभी ज्ञेयद्रव्य मैं ही हूँ या सभी द्रव्य आत्मा ही हैं' – इसप्रकार परद्रव्य को ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर अपना नाश करता है; तब परद्रव्य से असत्त्व (नास्तित्व) प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।''

उक्त भंगों को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''शरीरादि परद्रव्य के परिणमन करने और जानने में आने के समय अज्ञानी का लक्ष्य परद्रव्य पर रहता है। शरीरादि परद्रव्य की जो-जो दशायें होती हैं – 'वे मैं ही हूँ' – ऐसा मानकर वह अपने ज्ञातृद्रव्य से इन्कार करता है। वास्तव में तो पर का परिणमन पररूप है आत्मरूप नहीं है तथा उस पर का अपने में जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान अपना है, अपने से हुआ है; किन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर यह मानता है कि यह जो परद्रव्य का परिणमन है, 'वह मैं ही हूँ' अर्थात् इसी से मैं हूँ, इसी से मेरी सत्ता है। इसप्रकार स्व-पर को एकमेक करता हुआ 'स्व' का नाश करता है।[१]

जबकि धर्मी पुरुष ऐसा जानता-मानता और अनुभव करता है कि 'मैं एक आत्मा ज्ञातृद्रव्य अपने स्वद्रव्यपने से सत् हूँ, मुझे परद्रव्य से क्या काम? इसप्रकार स्याद्वादी स्वद्रव्य से सत् का अनुभव करता है।

अहा ! 'मेरे स्वद्रव्य से मैं हूँ', इसतरह स्वद्रव्य से सत्पना प्रकाशित करता हुआ स्वसत्ता में अपनी दृष्टि स्थापित करता हुआ ज्ञानी पुरुष अनेकान्त तत्त्व का आदर कर स्वयं की सत्ता जीवित रखता है।[२]

भाई ! जबतक 'मैं स्वद्रव्य से हूँ और परद्रव्य से नहीं हूँ' – ऐसा भेदविज्ञान न हो, तबतक सम्यग्दर्शन और धर्म होना संभव नहीं है।[३]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -३८
२. वही, पृष्ठ - ३९
३. वही, पृष्ठ - ३९

अब यहाँ छठवें बोल में परद्रव्य से असत्पने की बात कहते हैं। बालकपन में माता-पिता का आधार, पढने में अध्यापक का आधार, धर्मसाधन में देव-शास्त्र-गुरु का आधार – ऐसा सारा अज्ञानी जगत जानता/मानता है; परन्तु वास्तव में किसी को भी किसी अन्य का आधार नहीं है। भगवान आत्मा स्वयं से सत् है और सम्पूर्ण परद्रव्यों से असत् है।

अरे भाई! जिस पर से तू असत् है, जिस पर की अपेक्षा से तू है ही नहीं; उसका आधार कैसा ?[१]

भाई ! परद्रव्यरूप ज्ञेयों से, शरीर-मन-वाणी से, देव-शास्त्र-गुरु से तू त्रिकाल असत् है। यह अन्तर में बैठाने की बात है।[२]

'मैं पर से असत् हूँ' – यह असत्पना प्रकाशित करता हुआ – परवस्तुपने आत्मा नहीं है – ऐसा प्रगट करते हुए अनेकान्त ही आत्मा का नाश नहीं होने देता।

देखो, यह अनेकान्त है। मैं स्वपने त्रिकाल सत् हूँ और परपने त्रिकाल असत् हूँ – ऐसा अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त है और इसका फल स्व-पर का भेदज्ञान है।[३]''

इसप्रकार इन दोनों भंगों में स्वद्रव्य से अस्तित्व और परद्रव्य से नास्तित्व सिद्ध करते हुए अस्ति और नास्ति संबंधी अनेकान्त की स्थापना की गई है।

उक्त भंगों संबंधी कलश इसप्रकार हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति॥२५२॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ३९

२. वही, पृष्ठ - ३९

३. वही, पृष्ठ - ४०

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥२५३॥

(हरिगीत)

इन्द्रियों से जो दिखे ऐसे तनादि पदार्थ में।
एकत्व कर हों नष्ट जन निजद्रव्य को देखें नहीं॥
निजद्रव्य को जो देखकर निजद्रव्य में ही रत रहें।
वे स्याद्वादी ज्ञान से परिपूर्ण हो जीवित रहें॥२५२॥

सब द्रव्यमय निज आतमा यह जगत की दुर्वासना।
बस रत रहे परद्रव्य में स्वद्रव्य के भ्रमबोध से॥
परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकार सब द्रव्य में।
निजज्ञान बल से स्याद्वादी रत रहें निजद्रव्य में॥२५३॥

मात्र प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष) दिखाई देनेवाले स्थूल शरीरादि परपदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करने से ठगा गया एकान्तवादी अज्ञानी स्वद्रव्य को देखता ही नहीं है और स्वद्रव्य को नहीं देखने से सभी ओर से शून्य होता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

परन्तु स्याद्वादी तो अपने आत्मारूप स्वद्रव्य के अस्तित्व को देखता हुआ, जानता हुआ, स्वीकार करता हुआ; अतिशीघ्र प्रगट हुए विशुद्धज्ञान-प्रकाश से पूर्ण होता हुआ जीता है, नाश को प्राप्त नहीं होता।

दुर्वासना से वासित अर्थात् दुर्नय के आग्रह से दुराग्रही अज्ञानी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है, उन्हें ही निजरूप मानकर उन्हीं में जमता-रमता है; किन्तु स्याद्वादी तो समस्त वस्तुओं में परद्रव्यों की नास्ति स्वीकार करता हुआ शुद्धज्ञान की महिमा में ही रत रहता हुआ स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।

इन कलशों का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार

स्पष्ट करते हैं –

"एकान्ती बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्व को मानता है; परन्तु अपने आत्मद्रव्य को इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता; इसलिए उसे शून्य मानकर आत्मा का नाश करता है। स्याद्वादी तो ज्ञानरूपी तेज से अपने आत्मा का स्वद्रव्य से अस्तित्व अवलोकन करता है; इसलिए जीता है, अपना नाश नहीं करता।

एकान्तवादी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, आत्मा में जो परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व है, उसका लोप करता है और स्याद्वादी तो समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर निजद्रव्य में रमता है।"

वस्तुत: बात यह है कि अनादिकाल से इस आत्मा ने निज भगवान आत्मा को तो देखा-जाना नहीं और इन्द्रियों के माध्यम से परपदार्थों को ही देखा जाना है; इसलिए वह पर के अस्तित्व में ही निज का अस्तित्व अनुभव करता है। इसप्रकार स्वयं के अस्तित्व से इन्कार करनेवाला अज्ञानी नाश को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार निज आत्मा को नहीं जाननेवाले कुछ अज्ञानी अपने आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, अपने में जो पर का नास्तित्व है; उससे इन्कार कर देते है।

स्वयं को जानने-देखनेवाले, स्वयं का अनुभव करनेवाले स्याद्वादी ज्ञानी स्वयं का अस्तित्व स्वयं से स्वीकार कर और समस्त परद्रव्यों का स्वयं में अभाव स्वीकार कर आनन्द से निज भगवान आत्मा में रमण करते हैं और सुखी रहते हैं।

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी ने कलशटीका में स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, स्वकाल-परकाल एवं स्वभाव-परभाव का जो स्वरूप स्पष्ट किया है; वह अद्भुत है और गहराई से समझने योग्य है।

आगे तत्संबंधी आठ भंगों की चर्चा आ रही है; इसलिए यहाँ इनका

स्पष्टीकरण प्रसंगोपात्त ही है। वह स्पष्टीकरण मूलत: इसप्रकार है –

"कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो पर्यायमात्र को वस्तुरूप मानता है, इसलिए ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेयाकार परिणमी है जो ज्ञान की पर्याय उसका, ज्ञेय के अस्तित्वपने से अस्तित्वपना मानता है, ज्ञेय से भिन्न निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु को नहीं मानता है।

इससे ऐसा भाव प्राप्त होता है कि परद्रव्य के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व है, ज्ञान के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व नहीं है।

उसके प्रति उत्तर इसप्रकार है कि ज्ञानवस्तु का अपने अस्तित्व से अस्तित्व है। उसके भेद चार हैं – ज्ञानमात्र जीववस्तु स्वद्रव्यपने अस्ति, स्वक्षेत्रपने अस्ति, स्वकालपने अस्ति, स्वभावपने अस्ति; परद्रव्यपने नास्ति, परक्षेत्रपने नास्ति, परकालपने नास्ति, परभावपने नास्ति।

उनका लक्षण – स्वद्रव्य – निर्विकल्पमात्र वस्तु, स्वक्षेत्र – आधारमात्र वस्तु का प्रदेश, स्वकाल – वस्तुमात्र की मूल अवस्था, स्वभाव – वस्तु की मूल की सहजशक्ति।

परद्रव्य – सविकल्प भेद-कल्पना। परक्षेत्र – जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्ररूप से कहा था, वही प्रदेश सविकल्प भेद कल्पना से परप्रदेश बुद्धिगोचररूप से कहा जाता है। परकाल – द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था, वही अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना से परकाल कहलाता है। परभाव – द्रव्य की सहजशक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना, उसे परभाव कहा जाता है।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है; इसलिए समस्त ज्ञेयवस्तु ज्ञान में गर्भित मानता है। ऐसा कहता है – उष्ण को जानता हुआ ज्ञान उष्ण है, शीतल को जानता हुआ ज्ञान शीतल है।

उसके प्रति उत्तर इसप्रकार है कि ज्ञान ज्ञेय का ज्ञायकमात्र तो है; परन्तु

ज्ञेय का गुण ज्ञेय में है, ज्ञान में ज्ञेय का गुण नहीं है।''

पाण्डे राजमलजी द्वारा किया गया स्वचतुष्टय और परचतुष्टय संबंधी उक्त स्पष्टीकरण ही उनके द्वारा किये गये इन १४ कलशों के स्पष्टीकरण का मूलाधार है।

यद्यपि मूल कलश में **प्रत्यक्षालिखित स्फुटादि** लिखकर स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष से दिखनेवाले परपदार्थ ही परद्रव्य हैं; तथापि राजमलजी परद्रव्य का अर्थ भेदकल्पना करते हैं। यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है।

कविवर बनारसीदासजी उक्त कलशों का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं–

(सवैया इकतीसा)

कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार ग्यान परिनाम,
जौलौं विद्यमान तौलौं ग्यान परगट है।
ज्ञेय के विनास होत ग्यान कौ विनास होइ,
ऐसी वाकै हिरदै मिथ्यात की अलट है॥
तासौं समकितवंत कहै अनुभौ कहानि,
पर्जय प्रवांन ग्यान नानाकार नट है।
निरविकलप अविनस्वर दरबरूप,
ग्यान ज्ञेय वस्तु सौं अव्यापक अघट है॥

कोऊ मंद कहै धर्म अधर्म आकास काल,
पुदगल जीव सब मेरो रूप जग में।
जानै न मरम निज मानै आपा पर वस्तु,
बांधै द्रिढ करम धरम खोवै डग मैं॥
समकिती जीव सुद्ध अनुभौ अभ्यासै तातैं,
पर कौ ममत्व त्याग करै पग-पग मैं।
अपने सुभाव मैं मगन रहै आठौं जाम,
धारावाही पंथक कहावै मोख मग मैं॥

कोई अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकाररूप से होता है; इसलिए जबतक ज्ञेय हैं, तभीतक ज्ञान प्रगट रहता है। ज्ञेय का नाश होने पर ज्ञान का भी नाश हो जाता है। उस अज्ञानी के हृदय में इसप्रकार का मिथ्या दुराग्रह बना रहता है।

उससे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अनुभव की हुई बात कहते हैं कि जिसप्रकार एक ही नट अनेकप्रकार के अनेक स्वांग बनाता है; उसीप्रकार एक ही ज्ञान, पर्यायों के अनुसार अनेक रूप धारण करता है। द्रव्यदृष्टि से तो ज्ञान अविनश्वर निर्विकल्प है; वह ज्ञेयों में व्याप्त नहीं होता; इसलिए ज्ञान और ज्ञेय का एकत्व घटित नहीं होता।

कोई मंदबुद्धि कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और सभी जीव मुझरूप ही हैं; ये सब मेरे ही स्वरूप हैं। ऐसी धारणावाले अज्ञानी अपना मर्म (स्वरूप) तो जानते नहीं और परवस्तुओं में अपनापन करके कर्मों के दृढ़ बंधन को प्राप्त होते हैं और कदम-कदम पर धर्म का नाश करते हैं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव तो शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करते हैं और उससे कदम-कदम पर पर के ममत्व का त्याग करते हैं; आठों पहर अपने स्वभाव में मग्न रहते हैं; इसी कारण मोक्षमार्ग के धारावाही पथिक कहे जाते हैं।

स्वामीजी इन कलशों का अर्थ इसप्रकार समझाते हैं –

"अज्ञानी स्त्री, पुत्र, पुत्री और शरीर आदि को सामने प्रत्यक्ष देखकर और उनसे स्वयं को सुखी-दुःखी मानकर ठगाया गया है। यह शरीर निरोगी हो, पत्नी, पुत्रादि सेवा करते हों, रहने को कोठी अनुकूल हो, खाने-पीने की सामग्री भरपूर हो तो अपने को सुखी माननेवाला ठगाया गया है तथा इनके बिना मैं दुःखी हूँ – ऐसा माननेवाला भी ठगाया गया है।

अहा ! ये सब पर के अस्तित्व से स्वयं का अस्तित्व माननेवाले

मिथ्यादृष्टि हैं। ये सब मोहवश ठगाये गये जीव हैं; क्योंकि परद्रव्य कभी भी निज आत्मरूप नहीं होते और वे पर्यायपने से स्थिर भी नहीं रहते।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जो अपना अव्यक्त (इन्द्रियज्ञान अगोचर) आत्मद्रव्य त्रिकाल ज्ञानानन्दमय है, उसे तो अज्ञानी मानता नहीं है तथा उसे जानने-देखने की चिन्ता भी नहीं करता। इसप्रकार अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व को नहीं देखता हुआ समस्तपने शून्य होता हुआ बाह्य वस्तुओं को ही निजरूप मानता है – ये ही मैं हूँ, इन्हीं से मुझे सुख है – ऐसा मानता है।[1]

'मैं स्वद्रव्य से सम्पूर्ण हूँ' – ऐसा अनुभव करने के बदले परवस्तु हो तो भरा-पूरा कहलाऊँ – ऐसा मानकर अज्ञानी अपने भाव से शून्य होता हुआ अपनी अनादि-अनन्त नित्य स्वद्रव्यरूप चैतन्यसत्ता का नाश करता है। वास्तव में वह स्वद्रव्य का खून करनेवाला खूनी है।

'मैं पर के कारण हूँ' पर के द्वारा मेरा अस्तित्व है अर्थात् मैं आज जो कुछ हूँ, जैसा भी बन सका हूँ, जो भी मेरी उन्नति हुई है, वह सब अमुक व्यक्ति के कारण हुई है, अन्यथा मेरी क्या हस्ती थी। मैं तो कुछ भी नहीं था, इत्यादि मान्यता से अज्ञानी अपने त्रिकाली स्वतत्त्व के श्रद्धान का नाश करता है; जबकि ज्ञानी जीव, धर्मीपुरुष अपने ज्ञाननघनस्वरूप पूर्ण द्रव्य को स्वपने अस्तिरूप स्वीकार करके आत्मा को जैसा है वैसा ही जीवित रखता हैं।[2]

समयसार कलशटीका में इस कलश के अर्थ में विशेष सूक्ष्मता की बात की है। वहाँ कहा है कि जिस निर्विकल्पमात्र अभेद वस्तु में गुणभेद भी नहीं है, उसे 'स्वद्रव्य' कहा है। आधारमात्र वस्तु के प्रदेशों की अपेक्षा अर्थात् असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी ऐसे प्रदेशभेद से भी रहित एकक्षेत्र को 'स्वक्षेत्र' कहा है। वस्तुमात्र की मूल अवस्था सम्पूर्ण त्रिकालस्थित एक वस्तु को 'स्वकाल' कहा है और वस्तु की मूल सहजशक्ति को 'स्वभाव'

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -६९-७०
२. वही, पृष्ठ -७०-७१

कहा है।

तथा वहीं सविकल्प भेदकल्पना को अर्थात् अखण्ड एकद्रव्यरूप वस्तु में गुण-गुणी का भेद डालने को 'परद्रव्य' कहा है। ये शरीरादि परद्रव्य तो परद्रव्य ही हैं, यहाँ तो एक ही वस्तु में भेदकल्पना करने को परद्रव्य कहा है। वस्तु के आधारभूत प्रदेशों में सविकल्प भेदकल्पना से असंख्यात प्रदेशों के भेद को लक्ष्य में लेना 'परक्षेत्र' है।

पंचास्तिकाय में असंख्यातप्रदेशी आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हुए भी एकप्रदेशी कहा है; क्योंकि असंख्य अभेद एकवस्तुपने रहते हैं, उन्हें असंख्यप्रदेशों का भेद करके समझाना परक्षेत्र है। द्रव्य की मूल निर्विकल्प-दशा अर्थात् एकरूप त्रिकालीवस्तु 'स्वकाल' है, उसमें एकसमय की अवस्था का भेद करना 'परकाल' है। इसीतरह द्रव्य की, मूल की सहज शक्ति स्वभाव तथा उसमें ज्ञान-दर्शन का भेद करना 'परभाव' है।

संक्षेप में कहो तो त्रिकाली एकरूप वस्तु स्वद्रव्य, वही स्वक्षेत्र, वही स्वकाल एवं वही स्वभाव है। इसमें यदि भेदकल्पना की जाये तो वे ही सब परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव हैं – ऐसी भेदकल्पना रहित अभेद एक जो स्वद्रव्य वस्तु है, उसका स्याद्वादी निपुणपने अवलोकन करता है, अनुभव करता है। यही धर्म है।

इस २५२ कलश का भावार्थ यह है कि शरीर, इन्द्रिय, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, आदि सब अज्ञानी को इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं, इसकारण वह इनका अस्तित्व मानता है। यद्यपि कर्म उसे प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, तथापि उनके फल में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग उसे दिखाई देते हैं, इसकारण वह कर्मों के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है; परन्तु इन सबका ज्ञाता मैं इन सबसे न्यारा हूँ – ऐसा वह स्वीकार नहीं करता।

अहा ! अन्दर आनन्द का धाम ज्ञानघन प्रभु स्वयं स्वपने सत्स्वरूप विराजता है, किन्तु वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने से अज्ञानी उसे स्वीकार नहीं

करता। आत्मा-फात्मा कुछ भी नहीं है – ऐसा शून्य मानकर अज्ञानी अपना ही नाश करता है। पर जीव को कोई बचाता है या नाश करता है, यह तो आत्मा के अधिकार की बात ही नहीं है, किन्तु अज्ञानी प्राणी यह स्वीकार नहीं करता कि मैं अन्दर पूर्ण चैतन्य सत्तापने सत्स्वरूप से स्वयं विराजता हूँ। इसतरह स्वयं को शून्य मानकर वह अपना नाश करता है – यह कैसी विडम्बना है ?

अहा ! धर्मी-स्याद्वादी वर्तमानदशा को अन्तर में झुकाकर ऐसा अनुभव करता है, स्वीकार करता है कि 'मैं स्वयं एक शुद्ध चैतन्य के अस्तित्ववाला ध्रुवतत्त्व हूँ' इसकारण वही जीवित रहता है। वह स्वयं को अपघात से बचाता है। जबकि अज्ञानी पर से व राग से अपनी सत्ता को मानकर अपने स्वद्रव्य का ही निषेध करके अपघात करता है, मिथ्याभाव से स्वयं को मरणतुल्य कर लेता है।[1]

इस कलश में परद्रव्य की अपेक्षा 'नास्तित्व' के भंग की बात कह रहे हैं। देखो, परवस्तु है तो मैं हूँ, 'परवस्तु न रहे तो मैं ही नहीं रहूँगा।' इसप्रकार पर से ही अपने अस्तित्व को माननेवाला एकान्तवादी पशु है – ऐसा एकान्ती दुर्नय की वासना से वासित है।

देखो तो सही, संसार में कैसी विचित्रता है ? धन-वैभव एवं स्त्री-पुत्रादि यद्यपि 'पर' हैं; तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि इनके न रहने पर, मर जाने पर मैं जीवित कैसे रह सकता हूँ – ऐसे जीवों के प्रति आचार्य कहते हैं कि वे 'पर' से अपने अस्तित्व को माननेवाले हैं। 'परद्रव्य से या परवस्तु से मेरा जीवन है' – ऐसी दुर्वासना उनके मन में घर कर गई है।

उससे ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि अरे ! यह तुझे क्या हो गया है ? क्या तेरी सत्ता, तेरा अस्तित्व पर के कारण है ? पर में तो तेरी नास्ति है न ? तेरा चैतन्यतत्त्व तो सदा ही तेरे निजभाव से ही टिक रहा है न ? पर से तुझे क्या

१.प्रवचनरत्नाकर भाग - ११, पृष्ठ -७१-७३

काम ? यह तेरी कैसी भ्रमणा है कि जो तू नहीं है, जो तेरा नहीं है; उसे अपनी मनोकल्पना से तू अपनी मानता है। इस मिथ्या मान्यता को छोड़ ! अरे ! जरा सोच तो सही ! जिसके बिना तू क्षण भर भी नहीं जी सकेगा – ऐसा मानता था, उसके बिना तेरा अनन्तकाल बीता कि नहीं ? स्त्री-पुत्रादि और यह भवन-बंगला आदि तेरे जन्म के पहले तेरे नहीं थे न ? और अनेक पूर्व पर्यायें मरण के बाद नहीं रहतीं, फिर भी तू रहा कि नहीं ? ऐसा विचार करके दुर्वासना का त्याग कर !

यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना तेरा अनन्तकाल यों ही इष्ट के विरहपूर्वक अनन्त दु:खों में बीत गया तथा संयोग के काल में भी ये वस्तुयें तेरी कहाँ हैं ? इनके बिना ही तू है और रहेगा।[1]

जो अज्ञानी परवस्तु से अपना अस्तित्व और सुख-दु:ख मानता है – ऐसी दुर्वासना से ग्रसित होता हुआ स्वयं को सर्वद्रव्यमय मानकर जगत की सभी अनुकूलताओं को जुटाता रहता है। कदाचित् एकाध अनुकूलता भी कम होती हो तो वहीं हाय-हाय करने लगता है। उससे कहते हैं कि भाई ! तू तो अन्दर में ज्ञानानन्द भगवान है न ! भगवान होकर तू यह क्या करता है? मोह महामद पीकर तू जो यह पागलों जैसी चेष्टा करता है, उसे छोड़ और अपने स्वद्रव्य को ग्रहण कर ! उसमें ही अपनापन स्थापित कर !

यहाँ कहते हैं कि पशु, एकान्तवादी अज्ञानी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है। मेरा आधार परद्रव्य ही है – ऐसा परद्रव्यों में ही अपना अस्तित्व स्थापित करता है। मैं परद्रव्य से असत् हूँ, भिन्न हूँ – ऐसा इसके चित्त को स्वीकृत नहीं होता। अन्दर में दुर्वासना बैठी है न ! इसतरह यह अपना ही नाश करता है।

कदाचित् कुटुम्ब-परिवार की और धन-लक्ष्मी की नश्वरता जानकर उनसे मोह कम भी कर दे तो भी ये देव-शास्त्र-गुरु, ये मन्दिर, ये तीर्थ, ये सब

१.प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ७२-७३

मेरे लिए लाभदायक हैं। इसप्रकार इनसे लाभ मानता है। ये पंचपरमेष्ठी मेरे हैं, इनकी पूजा से मुझे लाभ होता है, जबकि ये सब परद्रव्य हैं और दो द्रव्यों के बीच वज्र की दीवाल है।

यद्यपि देव-शास्त्र-गुरु सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में निमित्त अवश्य होते हैं; तथापि उन निमित्तों से सच्चा ज्ञान हो जाता हो – ऐसा नहीं है। निमित्त होता है; परन्तु वह उपादान में कुछ करता नहीं है।[१]

देखो, यह स्याद्वादी धर्मी तो ऐसा मानता है कि परद्रव्य हो तो हो, मेरा परद्रव्य से कोई संबंध नहीं है; परद्रव्य से तो मेरी नास्ति है। मेरा अस्तित्व परद्रव्य के कारण नहीं है तथा मेरे कारण परद्रव्य का अस्तित्व नहीं है। इसप्रकार समस्त वस्तुओं में परद्रव्यरूप से अपना नास्तित्व जानते हुए मैं एक पूर्ण शुद्ध ज्ञानघन चैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा हूँ – ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-आचरणपूर्वक स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है। बस, इसी का नाम धर्म है।[२]''

स्वामीजी ने भी अपने उक्त कथनों में पाण्डे राजमलजी कृत कलश-टीका के उक्त कथन का स्पष्टीकरण बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

जैसाकि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि मूल कलश में जिनको स्वद्रव्य और परद्रव्य पर घटित किया गया है अथवा स्वचतुष्टय और परचतुष्टय पर घटित किया गया है; उन्हीं को कलशटीका में द्रव्य और पर्याय पर घटित किया है।

इसप्रकार उन्होंने ज्ञानपर्याय में निर्विकल्परूप से जानी हुई निर्विकल्प वस्तु को स्वद्रव्य और तत्संबंधी सविकल्प भेदकल्पना को परद्रव्य कहा है। इसीप्रकार वस्तु के मूल आधाररूप प्रदेश को स्वक्षेत्र और प्रदेश संबंधी सविकल्प भेदकल्पना को परक्षेत्र कहा है। वस्तु की मूल अवस्था को स्वकाल

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -७५-७६
२. वही, पृष्ठ - ७६

एवं कालसंबंधी सविकल्प भेदकल्पना को परकाल कहा है। वस्तु की मूल सहजशक्ति को स्वभाव और उसी सहजशक्ति के पर्यायरूप अनेक अंशों द्वारा भेदकल्पना को परभाव कहा गया है।

वस्तुत: स्थिति यह है पाण्डे राजमलजी ने पंचाध्यायी में सद्भूत-असद्भूत व्यवहारनय का स्वरूप सर्वमान्य पूर्व परम्परा से हटकर प्रस्तुत किया; उसका परिणाम यह हुआ है कि उन्हें यहाँ भी उसी परम्परा का निर्वाह करना पड़ रहा है।

कुन्दकुन्दादि आचार्यों के आधार पर रचित विविध नयचक्रों में प्रतिपादित जो परम्परा प्राप्त है; पाण्डे राजमलजी ने पंचाध्यायी में उससे हटकर जो सद्भूत-असद्भूत व्यवहारनयों का स्वरूप प्रस्तुत किया है; यदि आप उक्त सम्पूर्ण प्रकरण को विस्तार से जानना चाहते हैं तो लेखक की अन्य कृति **परमभावप्रकाशक नयचक्र** के तत्संबंधी प्रकरण का गहराई से अध्ययन करें।

प्रश्न : विशेष पाठक तो **परमभावप्रकाशक नयचक्र** को भी पढेगें ही; परन्तु सामान्य पाठकों के लिए कुछ न कुछ स्पष्टीकरण यहाँ भी होना ही चाहिए न ?

उत्तर : व्यवहारनयों की मूलपरम्परा यह है कि उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से यह जीव स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद, गाँव-नगर-देशादिरूप है, इनका स्वामी है और इनका कर्त्ता-भोक्ता भी है। इसीप्रकार अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से जीव शरीररूप है, शरीर का स्वामी है और शरीर की क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता भी है।

पंचाध्यायीकार को यह बात स्वीकार नहीं है। उनका कहना यह है कि जो शरीरादि पदार्थ हमसे सर्वथा जुदे हैं; उन्हें किसी भी नय से अपना कहना उचित नहीं है। अत: वे आत्मा की पर्याय में ही उत्पन्न होनेवाले बुद्धिपूर्वक राग को उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय और अबुद्धिपूर्वक हुये

राग को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताते हैं।

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक राग की परिभाषा भी वे अलग से करते हैं। उनका कहना यह है कि जो राग-द्वेषादि परिणाम हमारे ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं, वे बुद्धिपूर्वक राग हैं और जो रागादि परिणाम हमारे ज्ञान के ज्ञेय नहीं बन पाते हैं; वे अबुद्धिपूर्वक राग कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अपनी पर्याय में उत्पन्न होनेवाले रागभाव ही असद्भूतव्यवहारनय के विषय बनते हैं।

इसीप्रकार वे सद्भूतव्यवहारनय की व्याख्या भी मूलपरम्परा से हटकर करते हैं।

मूलपरम्परा में उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का विषय आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विकारीभाव बनते हैं और अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय के विषय गुणभेद-प्रदेशभेद और निर्मल पर्यायें बनती हैं।

पंचाध्यायीकार यह कहते हैं कि 'ज्ञान राग को जानता है' – यह कहना उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय है और 'ज्ञान वह आत्मा' – ज्ञान और आत्मा में ऐसा भेद करना अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

प्रस्तुत नयसंबंधी कथन से अपने उक्त स्वद्रव्य-परद्रव्य संबंधी कथन की संगति बैठाने के लिए ही कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी द्रव्य -क्षेत्र-काल-भाव संबंधी अभेद को, निर्विकल्पज्ञान को स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव कहते हैं और इन्हीं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी भेद को, विकल्पात्मक ज्ञान को परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल और परभाव कहते हैं।

यद्यपि आत्मख्याति में समागत अमृतचन्द के मूल छन्दों में तो स्पष्टरूप से स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप स्वचतुष्टय से स्व का अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावरूप परचतुष्टय से नास्तित्व बताया गया है; तथापि कलशटीका में तथा उसके अनुकरण पर बने नाटक समयसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी अभेद को, निर्विकल्पता को स्वचतुष्टय

और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी भेद को, भेद कल्पना को, सविकल्पता को परचतुष्टय कहा गया है और इसी स्वचतुष्टय से जीव का अस्तित्व तथा इसी परचतुष्टय से जीव का नास्तित्व स्वीकार किया गया है।

यदि उक्त स्पष्टीकरण को अच्छी तरह समझकर अथवा **परमभाव-प्रकाशक नयचक्र** के तत्संबंधी प्रकरणों का गहरा अध्ययन करके इस विषय को समझा जायेगा तो कोई दुविधा खड़ी नहीं होगी।

प्रश्न : कलशटीका के अनुसार स्वद्रव्य-परद्रव्यादि का विश्लेषण तो समझा; किन्तु यह भी तो बताइये कि स्वद्रव्य-परद्रव्यादि का इससे भिन्न क्या स्वरूप है ?

उत्तर : अपना आत्मा स्वद्रव्य, अपने आत्मा के असंख्यात प्रदेश स्वक्षेत्र, अपनी अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक होनेवाली पर्यायें स्वकाल और अनंत गुण स्वभाव कहे जाते हैं।

इसीप्रकार अपने आत्मा से भिन्न सभी आत्मा, सभी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्यात कालाणु – ये सभी परद्रव्य हैं, उनके प्रदेश परक्षेत्र हैं, उनकी पर्यायें परकाल हैं और उनके गुण परभाव हैं।

तात्पर्य यह है कि असंख्यात प्रदेश, अनंत गुण, अनादि-अनंत पर्यायें और निज आत्मद्रव्य हमारे स्वचतुष्टय हैं और हमसे भिन्न सभी परपदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हमारे लिए परचतुष्टय हैं।

इसप्रकार के स्वचतुष्टय से मैं अस्तिरूप हूँ और परचतुष्टय से मैं नास्तिरूप हूँ। इसी का नाम अस्ति-नास्ति संबंधी अनेकान्त है।

मूलपरम्परा में जो स्वद्रव्य-परद्रव्य संबंधी प्रतिपादन है; स्वामीजी भी अपना सम्पूर्ण स्पष्टीकरण उसी को आधार बनाकर करते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब भी वे पर से नास्ति की बात करते हैं तो यही कहते हैं कि तू परद्रव्य का क्या कर सकता है; क्योंकि स्वद्रव्य और परद्रव्य के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। स्त्री-पुत्रादि तेरे नहीं हैं, तू उनका

भला-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता; उनका भला-बुरा स्वयं उनके कारण ही होता है; क्योंकि वे परद्रव्य हैं; इत्यादि।

ऊपर दिये गये उनके उद्धरणों में ये बातें बहुलता से देखी जा सकती हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि बीच-बीच में जहाँ वे आवश्यक समझते हैं; वहाँ कलशटीका की उक्त अपेक्षाओं को भी नामोल्लेखपूर्वक स्पष्ट कर देते हैं और कहीं-कहीं उनके कथनों के औचित्य पर भी प्रकाश डालते हैं।

प्रश्न : अपनी ही विकल्पात्मक पर्यायों को परद्रव्य कहना, परक्षेत्र कहना, परकाल कहना और परभाव कहने की क्या अपेक्षा है ?

उत्तर : भेद के लक्ष्य से विकल्पों की उत्पत्ति होती है और आत्मा का अनुभव निर्विकल्प ही होता है। निर्विकल्पात्मक आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए विकल्पों के जनक भेद की उपेक्षा आवश्यक ही है। बस, एकमात्र यही कारण है कि भेद के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले विकल्पों को यहाँ परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव कहा गया है।

प्रश्न : भेद भी तो वस्तु का सहजस्वभाव ही है; उसे पर कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता।

उत्तर : बात तो आपकी ठीक ही है; परन्तु भाई ! पर्याय भी तो वस्तु का अंश ही है; फिर भी अध्यात्म में उसे पर कहा जाता है; क्योंकि उसके लक्ष्य से आत्मानुभूति नहीं होती। इसीप्रकार वस्तु का अंश होने पर भी विकल्प का उत्पादक होने से भेद को अध्यात्म में परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव कह दिया जाता है। बस बात इतनी ही है।

प्रश्न : इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यह सब अध्यात्म के जोर में कहा गया कथन ही है ?

उत्तर : ऐसा ही समझ लीजिए; तथापि यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि यह भी किसी प्रयोजन से किया गया कथन है और वह प्रयोजन आत्मा के कल्याण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न : कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी ने तो उक्त प्रतिपादन उनकी स्वयं की नयसंबंधी धारणा के कारण किया; परन्तु बनारसीदासजी ने भी उसी शैली को क्यों अपनाया ?

उत्तर : भाई ! बात ऐसी है कि बनारसीदाजी संस्कृत-प्राकृत से अनभिज्ञ कवि हृदय व्यापारी थे। उनकी समयसार तक पहुँच पाण्डे राजमलजी कृत कलशटीका के माध्यम से ही हुई थी;क्योंकि उस समय तक मूल समयसार, आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति की हिन्दी टीकायें उपलब्ध नहीं थीं; एक मात्र पाण्डे राजमलजी कृत कलशटीका ही उपलब्ध थी। उन्हें वही प्राप्त हुई थी और उनका समयसार संबंधी सम्पूर्ण अध्ययन का आधार एकमात्र वही टीका रही। कलशटीका का अनुकरण करना उनके लिए मजबूरी नहीं, अपितु एक सहज स्वाभाविक कार्य था।

यद्यपि यह बात सत्य है कि कलशटीका को आधार बनाकर वे अपनी बात करते हैं; तथापि अनेक स्थानों पर उनके कथन इससे हटकर भी देखने में आते हैं। २५३ वें कलश के भावानुवाद में भी वे धर्म, अधर्म, आकाश, कालादि द्रव्यों को परद्रव्य कहते नजर आते हैं।

इसप्रकार यह परम्परा अधिक नहीं चल पाई। एकप्रकार से पाण्डे राजमलजी और बनारसीदासजी तक ही सीमित रह गई।

हाँ, अभी वर्तमानकाल में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी ने सबका ध्यान इस ओर आकर्षित किया; पर उन्होंने भी एक अद्भुत बात के रूप में ही उसकी चर्चा की। वे स्वयं तो मूलधारा को ही अपनाये रहे।

इस सन्दर्भ मेंअधिक उलझने से कोई लाभ नहीं है; अपितु दोनों शैलियों को समझकर, उनके प्रयोजन को जानकर आत्महित में संलग्न होना ही श्रेष्ठ है।

इसप्रकार स्वद्रव्य-परद्रव्य संबंधी भंगों की चर्चा पूर्ण होती है।

(७-८) स्वक्षेत्र-परक्षेत्र – स्वक्षेत्र और परक्षेत्र संबंधी सातवें-आठवें भंग की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

"जब यह ज्ञानमात्रभाव परक्षेत्रगत ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

इसीप्रकार जब यह ज्ञानमात्रभाव स्वक्षेत्र में होने के लिए, रहने के लिए, परिणमने के लिए परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है; तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से परक्षेत्रगत से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, अपना नाश नहीं करने देता।"

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इन भंगों के स्वरूप को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"अब सातवें बोल में स्वक्षेत्र की बात करते हैं। आत्मा का ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में है तथा शरीर-मन-वाणी सब परक्षेत्रगत हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि परक्षेत्रगत ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से मेरा ज्ञान है – ऐसा मानकर वह स्वक्षेत्र का नाश करता है। अज्ञानी सोचता है, विचार करता है कि मुझे रहने के लिए श्रेष्ठ साधन हों, बढ़िया क्षेत्र (जगह) हो, चारों ओर से हवादार अच्छा लम्बा-चौड़ा अनेक कमरों का मकान हो तो आनन्द आ जाय – इसप्रकार अज्ञानी परक्षेत्र से अपने सुख में वृद्धि मानता है; परन्तु ऐसे विचार से वह अपने स्वरूप का नाश करता है।

जबकि धर्मीजीव ऐसा मानता है कि मेरा स्वक्षेत्र तो आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में है। मैं अपने असंख्यातप्रदेशी आत्मा से सत् हूँ और परक्षेत्र से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है – ऐसा मानता हुआ ज्ञानी अपना नाश नहीं होने देता। शरीरगत लोकप्रमाण चैतन्य के असंख्यात प्रदेश मेरा स्वक्षेत्र

हैं, इससे ही मेरा अस्तित्व है। इसके सिवाय अन्य कहीं परक्षेत्र में मैं नहीं हूँ।[1]

यहाँ कहते हैं कि स्वक्षेत्र और परक्षेत्र के बीच अन्दर से प्रज्ञारूपी करवत डालो। जो ज्ञानी 'मैं तो स्वक्षेत्र में ही हूँ, परक्षेत्र में नहीं' – ऐसी भेदविज्ञान की कला का अन्दर में विकास करके स्वक्षेत्र में ही निवास करके जीवन जीना चाहता हूँ, वह सत्यार्थ जीवन को प्राप्त होता है।

आठवें बोल में अज्ञानी की मान्यता बताते हुए यह कहा है कि ज्ञान में जो परक्षेत्र के ज्ञेयाकार ज्ञात होते हैं; यदि मैं उन्हें छोड़ दूँ तो मैं अपने क्षेत्र में आ सकता हूँ; परन्तु उसका यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि परक्षेत्र को जानना तो ज्ञान का स्वभाव है। परक्षेत्र को जानते हुए ज्ञान में परक्षेत्र के आकार से जो ज्ञान हुआ – यह तो जीव का स्वरूप है। इसमें परक्षेत्र ज्ञान में नहीं आता तथा ज्ञान परक्षेत्र में नहीं जाता।

भाई ! तू तो परक्षेत्र को जानने के काल में भी अपने स्वक्षेत्र में ही विराजमान है न ! किन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'यदि मैं इस परक्षेत्र को जाननेवाले ज्ञान को छोड़ दूँ तो स्वक्षेत्र में आऊँ।' इसप्रकार वह परक्षेत्र को जाननेवाले ज्ञान के त्याग द्वारा तो ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना ही नाश करता है।

जबकि ज्ञानी स्वक्षेत्र में रहकर परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करनेवाला ज्ञान का स्वभाव होने से अर्थात् स्वरूप में रहकर पर-पदार्थों को जाननेरूप आत्मा का स्वभाव होने से परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ – परक्षेत्र मुझमें नहीं, परक्षेत्र से मैं नहीं – इसप्रकार पर से अपना नास्तित्व प्रगट करता हुआ अनेकान्त से ही अपना नाश नहीं होने देता।[2]

'स्वयं स्वक्षेत्र से है और परक्षेत्र से नहीं' – ऐसा अनेकान्त न मानकर दोनों से ही है – ऐसा मानना भी भ्रम ही है। ज्ञानी तो ऐसा मानते हैं कि

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ४०

२. वही, पृष्ठ - ४२

'स्वक्षेत्र में ही मैं हूँ।' सिद्धक्षेत्र में रहनेवाले सिद्ध भगवन्त अपने-अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र में ही रहते हैं, वे परक्षेत्र में नहीं रहते हैं। जहाँ सिद्ध परमात्मा हैं, वहाँ उसी आकाश के क्षेत्र में दूसरे अनन्त निगोदिया जीव भी हैं; परन्तु उन सबका अपना-अपना स्वक्षेत्र जुदा-जुदा है।[1]"

ध्यान रहे स्वामीजी के उक्त क्षेत्र संबंधी भंगों के स्पष्टीकरण में भी परद्रव्यों के क्षेत्र (प्रदेशों)को परक्षेत्र कहा गया है, क्षेत्रसंबंधी भेदकल्पनाको नहीं।

अब इसी भाव के पोषक कलश काव्य कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांस पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्॥२५४॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकरान् सहार्थैर्वमन्
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि नतुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥२५५॥

(हरिगीत)

परक्षेत्रव्यापी ज्ञेय-ज्ञायक आतमा परक्षेत्रमय।
यह मानकर निजक्षेत्र का अपलाप करते अज्ञजन॥
जो जानकर परक्षेत्र को परक्षेत्रमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी निजरसी निजक्षेत्र में जीवित रहें॥२५४॥

मैं ही रहूँ निजक्षेत्र में इस भाव से परक्षेत्रगत।
जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायकभाव भी परित्याग कर॥
हों तुच्छता को प्राप्त शठ पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत।
रे छोड़कर सब ज्ञेय वे निजक्षेत्र को छोड़े नहीं॥२५५॥

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ४२

सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी अपने से भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों के साथ आत्मा का जो सहज सुनिश्चित ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; उसमें प्रवर्तता हुआ आत्मा को सम्पूर्णत: बाहर पड़ता देखकर स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर नाश को प्राप्त होता है।

किन्तु स्वक्षेत्र के अस्तित्व में रुके हुए वेगवाले स्याद्वादवेदी तो आत्मा में प्रतिबिम्बित ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाले होकर टिके रहते हैं, जीवित रहते हैं, नाश को प्राप्त नहीं होते।

सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी स्वक्षेत्र में रहने के लिए अपने से पृथक् परक्षेत्र में रहे हुए अनेकप्रकार के ज्ञेयपदार्थों को छोड़ने से ज्ञेयपदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का वमन करता (छोड़ता) हुआ तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है।

किन्तु स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहते हुए और परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानते हुये परक्षेत्र स्थित ज्ञेयपदार्थों को छोड़ते हुए भी परपदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खोजते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञेयपदार्थों के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के आकारों को छोड़ते नहीं हैं; इसीकारण तुच्छता को भी प्राप्त नहीं होते, नष्ट नहीं होते, जीवित रहते हैं।

उक्त कलशों का भाव भावार्थ में पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा इस-प्रकार व्यक्त करते हैं –

''एकान्तवादी भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को जानने के कार्य में प्रवृत्त होने पर आत्मा को बाहर पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्र से अस्तित्व न मानकर), अपने को नष्ट करता है और स्याद्वादी तो, 'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में रहा हुआ आत्मा स्व-क्षेत्र से अस्तित्व धारण करता है' – ऐसा मानता हुआ टिकता है, नाश को प्राप्त नहीं होता है।

'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप चैतन्य के आकार होते हैं उन्हें यदि मैं बनाऊँगा तो स्वक्षेत्र में ही रहने के स्थान पर परक्षेत्र में भी व्याप्त

हो जाऊँगा' – ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के साथ ही साथ चैतन्य के आकारों को भी छोड़ देता है; इसप्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों से रहित तुच्छ होता है, नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता; इसलिए वह तुच्छ नहीं होता, नष्ट नहीं होता।''

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि कुछ अज्ञानी तो अपने से भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञान को परक्षेत्ररूप ही मानकर स्वक्षेत्र के अस्तित्व से इन्कार कर देते हैं और कुछ लोग स्वक्षेत्र में रहने की भावना से परक्षेत्र में रहनेवाले ज्ञेयों के वमन के साथ-साथ उन्हें जाननेवाले ज्ञान का भी वमन कर देते हैं। – इसप्रकार दोनों एकान्तवादी नाश को प्राप्त होते हैं; किन्तु स्याद्वादी स्वक्षेत्र से अपना अस्तित्व स्वीकार करते हुए परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानकर भी उनसे अपना नास्तित्व स्वीकार करके उन्हें जाननेवाले ज्ञान को नहीं छोड़ते हैं। – इसप्रकार वे जीवित रहते हैं।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''देखो, जैसे पशु को यह भान नहीं है कि मेरी सानी (पशु आहार) में अनाज और भूसा का यह मिला-जुला स्वाद है। वह तो उसे घास (भूसा) का ही स्वाद मानता है। ठीक इसीप्रकार एकान्ती अज्ञानी जीव को यह विवेक नहीं है कि ये स्त्री, पुत्र, मकान, पैसा आदि पृथक् परद्रव्य हैं और शरीर आदि एकक्षेत्रावगाही परद्रव्यों का क्षेत्र भी भिन्न है और असंख्यात-प्रदेशी अपना (निज आत्मा का) क्षेत्र भिन्न है।[1]

अपना एक ज्ञायकभाव ही स्वक्षेत्ररूप है तथा सम्पूर्ण परज्ञेय परक्षेत्ररूप हैं। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि दोनों के बीच में ज्ञेय-ज्ञायकपने का व्यवहार संबंध है; किन्तु इससे ज्ञायक ज्ञेयरूप नहीं हो जाता तथा ज्ञेय ज्ञायकरूप

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ७८-७९

नहीं हो जाता। यह वस्तुस्थिति है; फिर भी अज्ञानी प्राणी परक्षेत्र के आकार के अनुसार ज्ञान की पर्याय होने पर ऐसा न मानकर कि 'यह मेरे ज्ञान की ही पर्याय है' – ऐसा भ्रम पाल लेता है कि 'ज्ञान परक्षेत्रमय हो गया है, मैं परक्षेत्र में चला गया हूँ।' जबकि स्वयं तो सदा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप ही है।

स्व-पर को जानने का तो इसका स्वयं का ही स्वभाव है। इसकारण सामने के बाग-बंगला और शरीर आदि अनेक परक्षेत्र में स्थित पदार्थ आत्मा के ज्ञान में ज्ञात होते है। ये परपदार्थ जिस आत्मा की ज्ञानपर्याय में जाने जाते हैं; वह स्वक्षेत्र में रहनेवाली ज्ञानपर्याय या ज्ञान की अवस्था का आकार है। यह किसी परक्षेत्र का आकार नहीं है; फिर भी अज्ञानी परक्षेत्र का ज्ञान होने पर 'मैं बाहर परक्षेत्र में बह गया, परक्षेत्रमय हो गया' – ऐसा मानकर अपना नाश करता है।

आत्मा का अपना स्वक्षेत्र अन्दर में है। जितने में अपना स्वरूप – ज्ञान और आनन्द रहता है, वही अपना (आत्मा का) स्वक्षेत्र है तथा वही इसका अस्तित्व है। इसके स्वक्षेत्र में ही इसके गुण-धर्म रहते हैं, परक्षेत्र में इसके कोई गुण व पर्यायें नहीं हैं।

भगवान का समोशरण एवं सम्मेदशिखर आदि तीर्थक्षेत्र भी परक्षेत्र हैं। जो वस्तुत: ऐसा मानते हैं कि इन क्षेत्रों में जाने से मेरी पर्याय पवित्र हो गई, वे भी भूल में हैं। सद्निमित्तों के प्रति ऐसा कहने का भाव ज्ञानी को भी आता है; परन्तु ऐसा ही मान ले तो मान्यता मिथ्या हो जाती है; क्योंकि परक्षेत्र में आत्मा का कोई गुण एवं पर्याय नहीं है। आनन्द का भण्डार तो आत्मा का स्वक्षेत्र है। परक्षेत्र में सुख-शान्ति एवं ज्ञान आदि जब हैं ही नहीं तो मिलेंगे कहाँ से ?

जिसने सच्चा धर्म पा लिया, जो वस्तुस्वरूप को समझ चुका है – ऐसा स्याद्वादी तो ऐसा कहता है कि परक्षेत्र का जानना मेरी पर्याय में होते हुए भी मैं पर में जाता नहीं हूँ। मैं तो मुझमें ही रहता हूँ। ऐसा मानते हुए धर्मी का

परक्षेत्र में जाने का उत्साह भंग हो गया है। अत: अब वह स्वक्षेत्र में ही रहता हुआ आनन्दरस का प्रगट अनुभव करता है।[१]

बात बहुत सूक्ष्म है। कहते हैं कि परक्षेत्र को जानते हुए भी पर्याय पर की नहीं है, बल्कि मेरे स्वक्षेत्र में उत्पन्न हुई मेरी स्वयं की पर्याय है, वह निजशक्ति के व्यापाररूप है। इसप्रकार निजशक्ति के व्यापार में रहकर धर्मी अपने जीवन को टिकाकर रखता है।

एकान्तवादी भिन्न क्षेत्रों में – परक्षेत्र में रहते हुए शरीरादि परपदार्थों को जानते हुए ऐसा मानता है कि मेरी पर्याय परक्षेत्ररूप हो गई है। परज्ञेयों को जाननेरूप आकार से मेरी पर्याय ही उस रूप है – ऐसा न मानकर, आत्मा को ही बाहर पड़ता हुआ मानकर अज्ञानी अपने अस्तित्व का नाश करता है।

अहा ! अपने में जो परक्षेत्र का ज्ञान होता है, वह पर के कारण है – ऐसा माननेवाला अज्ञानी स्वयं को परक्षेत्ररूप करता है।[२]

स्याद्वादी परक्षेत्र को जानते हुए भी स्वक्षेत्र में ही रहता है। पर को जानते हुए भी आत्मा अपने ही क्षेत्र में रहता है, परक्षेत्ररूप से होता ही नहीं है।[३]

अपनी पर्याय में आत्मा को जो परक्षेत्र का ज्ञान होता है – यह तो इसका अपना स्वभाव है। परक्षेत्र को जाननेरूप जो ज्ञानाकार हुआ, वह स्वक्षेत्र में स्थित अपनी ही ज्ञान की दशा है। क्या इसमें परक्षेत्र प्रवेश कर गया है अथवा स्वयं परक्षेत्र में गया है ? ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है।

ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए स्वक्षेत्र में रहने के आशय से परक्षेत्र में रहनेवाले ज्ञेयपदार्थों के अपने ज्ञान को छोड़ दूँ तो स्वक्षेत्र में रह सकता हूँ – ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी ज्ञेयपदार्थों के साथ चैतन्य के आकार को

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ७९-८०

२. वही, पृष्ठ - ८०

३. वही, पृष्ठ - ८१

भी छोड़ देता है। इसप्रकार ज्ञानाकारों से तुच्छ हुआ वह अपना नाश करता है।[१]

यह परक्षेत्र संबंधी ज्ञान तो तेरे ज्ञानस्वभाव के कारण से ही होता है, परक्षेत्र के कारण नहीं होता। तेरा ज्ञान परक्षेत्रमय नहीं हुआ है, परक्षेत्र को जाननेवाला ज्ञान अपने स्वप्रदेश में हुई अपनी ही ज्ञान की दशा है तो भी एकान्ती अज्ञानी प्राणी अपनी ज्ञान की दशा में परक्षेत्र प्रविष्ट हो गया है – ऐसा मानकर परक्षेत्र के निमित्त से हुई अपनी ज्ञानाकार पर्याय को भी छोड़ देता है। इसप्रकार ज्ञान से ही तुच्छ होता हुआ अपना नाश करता है।

जबकि स्याद्वादी-ज्ञानी तो निज असंख्यातप्रदेशी स्वक्षेत्र में रहता हुआ परक्षेत्र से अपना नास्तित्व जानता हुआ परक्षेत्र का लक्ष्य छोड़ते हुए परक्षेत्र संबंधी अपनी ज्ञान की दशा को जानता है। परक्षेत्र-परज्ञेय संबंधी अपना ज्ञानाकार तो अपने ही स्वभावरूप है – ऐसा जानता हुआ तुच्छता को प्राप्त नहीं होता, नष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि धर्मी बाहर किसी भी क्षेत्र में हो, वह अपने स्वक्षेत्र में आनन्द में ही रहता है।[२]

भावार्थ यह है कि 'परक्षेत्र के निमित्त से आत्मा में जो ज्ञान होता है, उसे अपना माने तो आत्मा परद्रव्यमय हो जायेगा' – ऐसी एकान्त कल्पना से अज्ञानी परक्षेत्र को छोड़ने के साथ चैतन्य आकार को अर्थात् अपने ज्ञान की पर्याय को भी छोड़ देता है। इसप्रकार वह स्वयं चैतन्य के आकार से रहित तुच्छ होता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

जबकि स्याद्वादी स्वक्षेत्र में रहता हुआ परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, परक्षेत्र से स्वयं को भिन्न जानता हुआ, भिन्न अनुभव करता हुआ, परक्षेत्र को ही छोड़ देता है अर्थात् परक्षेत्र में मैं नहीं हूँ – ऐसा जानता है, किन्तु परक्षेत्रसंबंधी जो अपना ज्ञान है, उसमें मैं हूँ और ये मेरा है – ऐसा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ८२
२. वही, पृष्ठ - ८२-८३

जानता हुआ उसे छोड़ता नहीं है। धर्मी जीव स्वयं जहाँ खड़ा है, वहाँ उस क्षेत्र को, परक्षेत्र को छोड़ते हुए भी उस संबंधी अपनी प्रगट ज्ञान की दशा को नहीं छोड़ता। अपनी जानकर उसे अपने में सम्मिलित करके रखता है। इसकारण नष्ट नहीं होता, जीवित रहता है।[1]''

स्वामीजी का उक्त विवेचन यद्यपि कलशों के आधार पर ही हुआ है; तथापि इसमें कलशटीका की शैली की छाया भी दिखाई नहीं देती।

पाण्डे राजमलजी कलशटीका में इन कलशों का भाव व्यक्त करते हुए जो विशेष बात लिखते हैं; वह इसप्रकार है –

''कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि जो वस्तु को पर्यायरूप मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है, इसलिए जितना समस्त वस्तु का है आधारभूत प्रदेशपुन्ज, उसको जानता है ज्ञान। जानता हुआ उसकी आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान। इसका नाम परक्षेत्र है। उस क्षेत्र को ज्ञान का क्षेत्र मानता है। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव उस क्षेत्र से सर्वथा भिन्न है चैतन्य प्रदेशमात्र ज्ञान का क्षेत्र, उसे नहीं मानता है।

उसके प्रति समाधान ऐसा है कि ज्ञानवस्तु परक्षेत्र को जानती है; परन्तु अपने क्षेत्ररूप है। पर का क्षेत्र ज्ञान का क्षेत्र नहीं है।

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव ऐसा है कि वस्तु को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है; इसलिए ज्ञेयवस्तु के प्रदेशों को जानता हुआ ज्ञान को अशुद्धपना मानता है। ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है, वह ज्ञान की पर्याय है – ऐसा नहीं मानता है।

उसके प्रति उत्तर ऐसा है कि ज्ञानवस्तु अपने प्रदेशों में है, ज्ञेय के प्रदेशों को जानती है – ऐसा स्वभाव है, अशुद्धपना नहीं है – ऐसा मानता है स्याद्वादी।''

पाण्डे राजमलजी के उक्त कथन को आधार बनाकर कविवर बनारसी-

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ८३-८४

दासजी ने नाटक समयसार में जो छन्द लिखे हैं, वे इसप्रकार हैं –

(सवैया इकतीसा)

कोऊ सठ कहै जैतौ ज्ञेयरूप परवांन,
तेतौ ग्यान तातैं कहूँ अधिक न और है।
तिहूँ काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै,
आपा न पिछानै ऐसी मिथ्यादृग दौर है॥
जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान,
ज्ञेय सौं अव्यापक जगत सिरमौर है।
ग्यान की प्रभा मैं प्रतिबिम्बित विविध ज्ञेय,
जदपि तथापि थिति न्यारी-न्यारी ठौर है॥

कोऊ सुंनवादी कहै ज्ञेय के विनास होत,
ग्यान कौ विनास होइ कहौ कैसे जीजिए।
तातैं जीवतव्यता की थिरता निमित्त सब,
ज्ञेयाकार परिनामनि कौ नास कीजिए॥
सत्यवादी कहै भैया हूजे नांहि खेद-खिन्न,
ज्ञेय सौ विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिए।
ग्यान की सकति साधि अनुभौ दसा अराधि,
करम कौं त्यागि कै परमरस पीजिए॥

कुछ अज्ञानी लोग कहते हैं कि जितना ज्ञेय का क्षेत्र है, उतना ही ज्ञान है, ज्ञान का क्षेत्र है; उससे कम व अधिक नहीं। इसप्रकार वे ज्ञान को तीनों काल में परक्षेत्र से व्याप्त होकर परिणमित मानते हैं और अपने आत्मा के स्वरूप को पहिचानते नहीं हैं। उनके सदा ऐसी मिथ्या मान्यता का दौर ही चलता रहता है।

स्याद्वादी ज्ञानी जिनधर्मी तो कहते हैं कि ज्ञेयों में व्याप्त नहीं होनेवाला जगत शिरोमणि ज्ञान ही जीव की सत्ताप्रमाण है। तात्पर्य यह है कि जितनी और जहाँ जीव की सत्ता है, ज्ञान भी उतना ही और वहाँ ही रहता है।

यद्यपि ज्ञान की प्रभा में, ज्ञान के आलोक में अनेकप्रकार के अनेक ज्ञेय झलकते हैं; तथापि ज्ञेय और उन्हें जाननेवाले ज्ञान की सत्ता जुदी-जुदी है।

कोई शून्यवादी कहता है कि ज्ञेयों के विनाश होने पर ज्ञान का भी विनाश हो जाता है। अब आप ही बताइये कि हम कैसे जियें ? इसलिए जीव के जीवन के लिए ज्ञेयरूप निमित्तों के आधार से होनेवाले ज्ञेयाकार परिणमन का नाश किया जाना चाहिए।

उनसे सत्यवादी ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई ! खेद-खिन्न क्यों होते हैं ? ज्ञेयों से विरक्त उन्हें जाननेवाले ज्ञान को उनसे भिन्न स्वीकार कर लीजिए। ज्ञान की शक्ति का साधन करके, अनुभवदशा की आराधना करके, सबप्रकार के शुभाशुभभावरूप कर्मों का परित्याग करके परमानन्द का रसपान कीजिए।

उक्त सम्पूर्ण कथन में मूल बात यह है कि ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के ज्ञान में परक्षेत्ररूप ज्ञेय झलकते हैं और उन्हें देखकर यह अज्ञानी जीव या तो स्वयं को परक्षेत्ररूप मान लेता है या परक्षेत्र को निजरूप मान लेता है। – इसकी यह मान्यता ही अज्ञान है, एकान्त है।

स्याद्वादी ज्ञानी यह जानते हैं कि परज्ञेयों के क्षेत्र, प्रदेश या आकार जीव के ज्ञान में झलकते तो हैं; पर न तो वे जीवरूप होते हैं और न जीव ही उन रूप होता है। ज्ञान उन्हें जानता तो है, पर उन रूप नहीं होता। इसीप्रकार परक्षेत्ररूप ज्ञेय ज्ञान में झलकते तो हैं; पर वे भी ज्ञानरूप नहीं होते।

ज्ञान परक्षेत्र को जानकर भी स्वक्षेत्र में रहता है और परक्षेत्ररूप ज्ञेय ज्ञान में झलक कर भी अपने क्षेत्र में ही रहते हैं, ज्ञान के क्षेत्र में नहीं आते।

इसप्रकार ज्ञान और उसमें झलकनेवाले परज्ञेय – दोनों की सत्ता और क्षेत्र पृथक्-पृथक ही हैं।

इसप्रकार स्वक्षेत्र व परक्षेत्र संबंधी भंगों की चर्चा पूर्ण हुई।

(९-१०) स्वकाल-परकाल – स्वकाल और परकाल संबंधी नौवे-दशवें भंग की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

"जब यह ज्ञानमात्रभाव पहले जाने हुए पदार्थों के नष्ट होने पर ज्ञान का भी असत्पना मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का स्वकाल से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है।

जब यह ज्ञानमात्रभाव पदार्थों के जानते समय ही ज्ञान का सत्पना मानकर अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का परकाल से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।"

उक्त भंगों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अज्ञानी ऐसा मानता है कि ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा के ज्ञान में, परिणमन में जो परकाल का या परद्रव्य का परिणमन जाना जाता है, वही मैं हूँ; इसी के कारण वह मेरा परिणमन है। उससे कहते हैं कि भाई ! स्वकाल में अपनी ज्ञान की पर्याय जो पर को और स्वयं को जाननेरूप होती है – यह तो इसका स्वरूप है; परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर 'परिणमती हुई परद्रव्य की पर्याय से मेरी पर्याय हुई और उसके नाश से मेरी पर्याय का नाश हो गया' – ऐसा मानकर अपने स्वकाल का नाश (अभाव) करता है। परकाल से, परद्रव्य की अवस्था से अपना अस्तिपना माननेवाला अपने स्वकाल का नाश करता है।

देखो, इस आत्मा की अपेक्षा से परद्रव्य की (निमित्त की) पर्याय परकाल है। भले उसी द्रव्य की अपेक्षा वह उसका स्वकाल है, इस जीव की अपेक्षा तो वह परकाल ही है। स्वकाल में परकाल का अभाव है; फिर भी निमित्त या परद्रव्य के कारण अपनी अवस्था या स्वकाल की परिणति हुई – ऐसा माननेवाला अपने स्वकाल का नाश करता है।[1]

ज्ञानमात्रभाव ने पहले जिन ज्ञेयों का आलम्बन लिया था, उन ज्ञेय पदार्थों के विनाश के साथ ही ज्ञान का असत्पना मानकर अर्थात् परकाल के पलटते ही मेरा ज्ञान नाश हो गया – ऐसा मानकर अज्ञानी जब अपना नाश करता है, तब स्वकाल का सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ४२-४३

ही उसे जीवित रखता है, नाश नहीं होने देता।[1]

जब अज्ञानी जीव निमित्तरूप परपदार्थों के आलम्बन के काल में ही अर्थात् परकाल से ही अपने ज्ञान का सत्पना (अस्तित्व) मानकर अपना नाश (अभाव) करता है, तब ज्ञानमात्रभाव का परकाल से (ज्ञेय के काल से) असत्पना प्रकाशित करते हुए अनेकान्त ही आत्मा को जीवित रखता है, नाश नहीं होने देता।[2]

कार्य के अनुकूल जो निमित्त की दशा है, वह आत्मा की अपेक्षा परकाल है और उस परकाल से मैं असत् हूँ – ऐसा अनेकान्त धर्मात्मा का नाश नहीं होने देता – ऐसी अनेकान्ती दृष्टि से धर्मात्मा अपने निर्मल ज्ञान-श्रद्धान-शान्ति के परिणाम को प्राप्त कर लेता है।[3]''

अब इसी भाव के पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि॥२५६॥

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्य-सहजज्ञानैकपुञ्जी-भवन्॥२५७॥

(हरिगीत)

निजज्ञान के अज्ञान से गतकाल में जाने गये।
जो ज्ञेय उनके नाश से निज नाश माने अज्ञजन॥

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ४३
२. वही, पृष्ठ - ४५
३. वही, पृष्ठ - ४६

नष्ट हों परज्ञेय पर ज्ञायक सदा कायम रहे।
निजकाल से अस्तित्व है – यह जानते हैं विज्ञजन ॥२५६॥

अर्थालम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व है।
यह मानकर परज्ञेयलोभी लोक में आकुल रहें॥
परकाल से नास्तित्व लखकर स्याद्वादी विज्ञजन।
ज्ञानमय आनन्दमय निज आतमा में दृढ़ रहें॥२५७॥

जिन्हें पहले जाना था – ऐसे ज्ञेय पदार्थों के नाश के काल में ज्ञान का भी नाश मानता हुआ सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञानवस्तु को कुछ भी नहीं जानता है। तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा के अस्तित्व को भी नहीं जानता – ऐसा एकान्तवादी अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाश को प्राप्त होता है।

परन्तु स्याद्वादी ज्ञानी तो अपने आत्मा का निजकाल से अस्तित्व जानता हुआ बाह्य ज्ञेय वस्तुओं के बार-बार उत्पन्न हो-होकर नाश होने पर भी स्वयं पूर्ण रहता है।

ज्ञेयपदार्थों के आलम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व मानता हुआ अज्ञानी बाह्य ज्ञेयों से आलम्बन के लिए लालायित चित्त से बाह्य में भ्रमता हुआ नाश को प्राप्त होता है; किन्तु स्याद्वाद का ज्ञाता तो परकाल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, आत्मा में दृढ़ता से रहता हुआ और नित्य सहज ज्ञानपुन्जरूप वर्तता हुआ रहता है, नाश को प्राप्त नहीं होता।

उक्त कलशों के भाव को भावार्थ में जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पहले जिन ज्ञेयपदार्थों को जाना था, वे उत्तरकाल में नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञान का भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी तो ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता।

एकान्तवादी ज्ञेयों के आलम्बनकाल में ही ज्ञान का सत्पना जानता है; इसलिए ज्ञेयों के आलम्बन में मन को लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है। स्याद्वादी तो परज्ञेयों के काल से अपने नास्तित्व को जानता है, अपने ही काल से अपने अस्तित्व को जानता है; इसलिए ज्ञेयों से भिन्न ऐसे ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता।''

उक्त कलशों के भाव को स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी कलशटीका में लिखते हैं –

''कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है। तिस कारण ज्ञेयवस्तु के अतीत अनागत वर्तमान कालसंबंधी अनेक अवस्थाभेद हैं, उनको जानते हुए ज्ञान के पर्यायरूप अनेक अवस्था भेद होते हैं। उनमें ज्ञेयसंबंधी पहला अवस्थाभेद विनशता है; उस अवस्थाभेद के विनाश होने पर उसकी आकृतिरूप परिणमा ज्ञानपर्याय का अवस्थाभेद भी विनशता है। उसके – अवस्थाभेद के विनाश होने पर एकान्तवादी मूल से ज्ञानवस्तु का विनाश मानता है।

उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि ज्ञानवस्तु अवस्थाभेद द्वारा विनशती है, द्रव्यरूप से विचारने पर अपना जानपनारूप अवस्था द्वारा शाश्वत है, न उपजती है न विनशती है – ऐसा समाधान स्याद्वादी करता है।

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यमात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है; इसलिए ज्ञेय की अनेक अवस्थाओं को जानता है ज्ञान। उनको जानता हुआ उन आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान। ये समस्त हैं ज्ञान की पर्याय, उन पर्यायों को ज्ञान का अस्तित्व मानता है मिथ्यादृष्टि जीव।

उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि ज्ञेय की आकृतिरूप परिणमती हुई जितनी ज्ञान की पर्याय हैं, उनसे ज्ञान का अस्तित्व नहीं है।''

कविवर बनारसीदासजी इन छन्दों का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिण्ड,
जब देह नसैगी तबही जीव मरैगौ।
छायाकौ सौ छल किधौं माया कौ सौ परपंच,
काया मैं समाइ फिरि काया कौ न धरैगौ॥
सुधी कहै देह सौं अव्यापक सदीव जीव,
समै पाइ पर कौ ममत्व परिहरैगौ।
अपने सुभाई आइ धारना धरा मैं धाइ,
आप मैं मगन ह्वै कै आप सुद्ध करैगौ॥

(दोहा)

ज्यौं तन कंचुक त्याग सौं, विनसै नांहि भुजंग।
त्यौं सरीर के नासतैं, अलख अखण्डित अंग॥

(सवैया इकतीसा)

कोऊ दुरबुद्धी कहै पहले न हुतौ जीव,
देह उपजत अब उपज्यौ है आइकै।
जौलौं देह तौलौं देहधारी फिर देह नसै,
रहैगौ अलख जोति जोति मैं समाइकै॥
सदबुद्धि कहै जीव अनादि कौ देहधारी,
जब ग्यानी होइगौ कबहूँ काल पाइकै।
तब ही सौं पर तजि अपनौ सरूप भजि,
पावैगौ परमपद करम नसाइकै॥

कोई अज्ञानी कहते हैं कि शरीर और जीव – दोनों एक पिण्डरूप हैं; इसलिए जब शरीर नष्ट होगा, तभी आत्मा भी पूर्णत: नष्ट हो जावेगा। जिसप्रकार वृक्ष के नाश हो जाने पर उसकी छाया भी नष्ट हो जाती है; उसीप्रकार शरीर के नाश के साथ ही जीव का भी नाश हो जावेगा। यह आत्मा छाया का छल है, माया का प्रपंच है; एकबार काया के साथ समा जायेगा तो काया को धारण नहीं करेगा। तात्पर्य यह है पूर्णत: नाश को प्राप्त

हो जावेगा।

ज्ञानी जीव कहते हैं कि देह में रहनेवाला यह जीव देह में व्यापक नहीं है, देह से सदा भिन्न ही है। काललब्धि के आने पर यह जीव शरीरादि परपदार्थों का ममत्व छोड़ देगा, अपने स्वरूप को प्राप्त होकर निजात्मानुभूति में विश्राम करके, उसी में लीन होकर अपने आपको शुद्ध कर लेगा, शुद्धदशा को प्राप्त हो जावेगा।

जिसप्रकार शरीर की कांचली के त्याग देने से सर्प का नाश नहीं होता; उसीप्रकार शरीर के नाश से अविनाशी अलख आत्मा नाश को प्राप्त नहीं होता, अखण्डित रहता है।

कोई दुर्बुद्धि ऐसा कहता है कि जीव पहले था ही नहीं; यह तो देह के उत्पन्न होने के साथ-साथ ही उत्पन्न हुआ है। जबतक शरीर है, तबतक देहधारी आत्मा है; देह के साथ ही उसका भी नाश हो जावेगा; ज्योति ज्योति में समा जायेगी।

सद्बुद्धि ज्ञानी जीव कहते हैं कि यह जीव अनादि से ही देह को धारण किये हैं तथा जब काललब्धि आयेगी तब तत्त्वज्ञानी हो जायेगा और तभी से परपदार्थों को छोड़कर अपने स्वरूप का ध्यान करके, कर्मों का नाश करके परमपद प्राप्त करेगा।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"देखो, अज्ञानी ऐसा मानता है कि पूर्वकाल में लक्ष्य किये ज्ञेय-पदार्थों के नाश के काल में ही तत्संबंधित ज्ञान का भी नाश हो जाता है। वास्तविक बात तो यह है कि समय-समय परज्ञेयरूप पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वयं से होता है; परन्तु एकान्ती अज्ञानी परकाल से (परक्षेत्र से) अपने में स्वकाल मानता हुआ अपनी ज्ञान की पर्याय का नाश करता है।

अपने में परकाल को जानने की शक्ति अपनी स्वयं से है, परकाल-

परज्ञेय बदलने पर जो ज्ञान की दशा बदली; वह स्वत: बदली है, परज्ञेय के कारण नहीं बदली। जैसे कि ज्ञान की पूर्व पर्याय में भगवान के बिम्ब को देखा, बाद में भगवान के बिम्ब के न दिखने से तत्संबंधी ज्ञान की पर्याय नहीं रही, बदल गई; वहाँ पूर्वकालीन ज्ञान की दशा अपनी स्वयं से थी, भगवान के बिम्ब के कारण नहीं हुई तथा जो वर्तमान दशा बदली, वह भी स्वयं से बदली है। वही उसका स्वकाल है, वह परज्ञेय के कारण नहीं बदली; परन्तु अज्ञानी यह स्वीकार नहीं करता।[१]

दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह दर्पण की अवस्था है। सामने की अग्नि चले जाने पर दर्पण में झलकी अग्नि संबंधी दर्पण की जिस पर्याय का अभाव हुआ और दर्पण की दूसरी नवीन अवस्था प्रगट हुई; वह स्वयं से हुई है, अग्नि के अभाव के कारण नहीं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि अग्नि नष्ट होने पर दर्पण की अवस्था हुई है। इसप्रकार वह दर्पण का ही नाश करता है।

इसीप्रकार अपने ज्ञान में परपदार्थ-परज्ञेय जानने में आते हैं, वह जानना अपने आत्मा की अवस्था है; वह ज्ञानपर्याय परपदार्थ के कारण नहीं है तथा जो पर्यायरूप परिणमन होता है, वह भी अपनी ज्ञान की दशा का स्वकाल है। परपदार्थ के बदलने से ज्ञानपर्याय नहीं बदली; परन्तु अज्ञानी अपनी ज्ञान की पर्याय को परावलम्बित मानता हुआ परज्ञेय का नाश होने के कारण अपनी ज्ञानपर्याय का नाश होना मानता है।

इसतरह अपनी ज्ञानवस्तु को नहीं मानता हुआ अपना ही नाश करता है।[२]

स्याद्वादी ऐसा मानता है कि मैं स्वकाल से अस्तिरूप हूँ, मेरा ज्ञान परकाल के कारण नहीं है।[३] सामने जो भगवान विराजमान हैं, उनको

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ८४-८५

२. वही, पृष्ठ -८५-८६

३. वही, पृष्ठ - ८६

जाननेरूप मेरे ज्ञान की जो पर्याय प्रगट हुई है, वह मेरी स्वयं की स्वयं से हुई है, भगवान के कारण नहीं।[१]

अपनी ज्ञान की दशा अपने ही आलम्बन से उत्पन्न हुई है – ऐसा जानता हुआ धर्मी स्वयं पूर्ण रहता है, अपना नाश नहीं होने देता।[२]

अज्ञानी ऐसा मानता है कि इन परज्ञेयरूप पदार्थों पर अवलम्बित होना ही ज्ञान का जानपना है और इसी से मेरी सत्ता है। इसकारण बाह्य ज्ञेयों को ग्रहण करने की लालसावान होकर अर्थात् पर को अधिक से अधिक जानने की लालसा से चित्त को बाहर-बाहर में ही भ्रमाता हुआ अपने अस्तित्व का नाश करता है।[३]

आलम्बन के काल में आलम्बनरूप से जो निमित्त है, उससे ही मेरी अवस्था है – ऐसा मानकर अज्ञानी अपने अस्तित्व का, अपनी सत्ता का निषेध करता है।[४]

अनन्त गुणों की जो वर्तमान दशा होती है, वह स्वयं स्वयं से होती है, वह दशा वस्तु का स्वकाल है, ज्ञान की दशा ज्ञान का स्वकाल है – ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए भी जो वर्तमान ज्ञान की दशा को देव-शास्त्र-गुरु के कारण मानता है, वह मूढ़ है। वह मूढ़ आत्मा की वर्तमान अवस्था का इन्कार करते हुए अपना नाश करता है।[५]

जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही वस्तु की तीनकाल की पर्यायें हैं। वे प्रत्येक पर्यायें प्रतिसमय क्रमबद्ध हो रही हैं – अज्ञानी ऐसा न मानकर व्यवहार में ही नजर होने से परकाल से – परनिमित्त से हो रही हैं – ऐसा

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ८६
२. वही, पृष्ठ - ८७
३. वही, पृष्ठ - ८८
४. वही, पृष्ठ - ८८
५. वही, पृष्ठ -८६

मानता है और इसकारण वह अपनी वर्तमान अवस्था की स्वयं से नास्ति मानता है।[१]

जिसकी ऐसी मान्यता है कि जीव का या किसी भी पदार्थ का परिणमन पर के कारण होता है, वह निमित्त की या पर की लालसावाला होकर निमित्त की खोज में बाहर ही भ्रमण करता हुआ – भटकता हुआ वृथा ही व्यग्र होता है; क्योंकि पर्यायों का अपना-अपना सहज स्वत: अस्तित्व है, इस बात की उस अज्ञानी को खबर नहीं है।[२]

ज्ञेयों की अवस्थारूप जो-जो परिणमन होता है, अज्ञानी के ज्ञान में वह ज्ञात होने से उसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि इस ज्ञेय की अवस्था के परिणमन के आधार से ही मेरी ज्ञान की दशा है।[३]

स्याद्वादी धर्मी तो अपनी दशा स्वयं से ही होती है, पर से नहीं होती; पर से तो इसकी नास्ति ही है – ऐसा जानते हुए वर्तमान ज्ञान की दशा को सहज नित्य ज्ञानपुञ्ज आत्मा में एकाग्र करके 'मैं तो ज्ञानपुञ्ज आत्मा हूँ' – ऐसा वर्तता हुआ अपने सत् को जीवित रखता है।[४]''

उक्त विश्लेषण में स्वामीजी ने इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है कि जब प्रत्येक ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय सुनिश्चित है और यह सुनिश्चितपना भी उसकी सहज स्वाभाविक योग्यता में ही शामिल है तो फिर ज्ञान किसी ज्ञेय पर आधारित क्यों हो ?

अनादि से लेकर अनन्तकाल तक तीनकाल के जितने समय होते हैं; प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की उतनी ही पर्यायें होती हैं। आत्मा के ज्ञानगुण की पर्यायें भी उतनी ही हैं, जितने तीनकाल के समय हैं और प्रत्येक ज्ञान

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -८९
२. वही, पृष्ठ - ९०
३. वही, पृष्ठ - ९१
४. वही, पृष्ठ - ९२

की पर्याय का ज्ञेय सुनिश्चित है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान की किस समय की पर्याय में कौन ज्ञेय जाना जायेगा – यह अनादि से ही सुनिश्चित है और यह सुनिश्चितपना किसी के द्वारा किया हुआ नहीं है, स्वयं से सहजसिद्ध है। ज्ञान की प्रत्येक पर्याय की योग्यता में उसका ज्ञेय भी शामिल है।

उक्त संदर्भ में विशेष जानना हो तो आचार्य माणिक्यनन्दि कृत **परीक्षामुख** एवं लेखक की अन्यकृति **क्रमबद्धपर्याय** का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

इसमें यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान की प्रतिसमय होनेवाली पर्याय का ज्ञेय का सुनिश्चितपना ज्ञान की उक्त पर्याय का सहज स्वभाव है और जो ज्ञेय उसमें जाना गया है, जाना जा रहा है या जाना जायेगा; उस ज्ञेय का उक्त पर्याय में जानने में आना – यह उक्त ज्ञेय का सहजस्वभाव है।

जाननेवाली ज्ञानपर्याय और जानने में आनेवाले ज्ञेय में परस्पर कोई पराधीनता नहीं है, कारण-कार्यपना नहीं है।

ऐसी स्थिति में ज्ञेय से ज्ञान की उत्पत्ति की बात ही कहाँ रहती है और ज्ञेय के अभाव से ज्ञान के अभाव की बात भी कहाँ ठहरती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वकाल-परकाल संबंधी भंगों के सन्दर्भ में हुई सम्पूर्ण चर्चा का सार यह है कि कुछ एकान्तवादी अज्ञानी तो भूतकाल में जाने हुए ज्ञेयपदार्थों के नाश के साथ-साथ उन्हें जाननेवाले ज्ञान का भी नाश मानकर अपना नाश करते हैं और कुछ एकान्तवादी अज्ञानी ऐसा मानकर नाश को प्राप्त होते हैं कि ज्ञान जब ज्ञेयों को जानता है, तभी वह सत्स्वरूप है; इस मान्यता के कारण परज्ञेयों के जानने में ही उलझकर रह जाते हैं।

स्याद्वादी ज्ञानी तो परज्ञेयों के काल से अपना नास्तित्व मानते हैं, अपने काल से ही अपना अस्तित्व मानते हैं। इसलिए अपने में ही रहते हुए ज्ञानपुंज रहते हैं, अपना नाश नहीं होने देते।

प्रश्न : स्याद्वादसंबंधी इन १४ कलशों में लगभग प्रत्येक छन्द में

एकान्तवादी अपना नाश करता है, मरण को प्राप्त होता है और स्याद्वादी जीवित रहता है - ऐसा कहा गया है। जब किसी भी वस्तु का सर्वथा नाश होता ही नहीं है तो फिर नाश कहकर आचार्य क्या कहना चाहते हैं। इसीप्रकार मरण और जीवन कहकर भी वे क्या कहना चाहते हैं ?

नाश करने में भी सर्वत्र अपना नाश करने की ही बात कही गई है, पर के नहीं। इसका भी क्या कारण है ?

उत्तर : अरे, भाई! यहाँ नाश करने का आशय अहित करना ही समझना चाहिए; क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपना या पराया – किसी का भी सर्वथा नाश (अभाव) तो कर ही नहीं सकता। इसीप्रकार मरण और जीवन का आशय भी वह नहीं है, जो लोक में समझा जाता है। यहाँ नाश होना या मरण को प्राप्त होने का आशय अहित करना और जीवन का आशय हित करना है।

किसी दूसरे का हित और अहित करना तो हमारे हाथ की बात ही नहीं है। हाँ, एकान्त रूप गलत मान्यता के कारण हम अपना अहित अवश्य करते हैं, अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं और विविधप्रकार के दुःख भोगते रहते हैं; इसी का नाम मरण को प्राप्त होना है, अपना नाश करना है।

इसीप्रकार स्याद्वाद से सही वस्तुस्वरूप समझकर हम अपना हित करते हैं, भव-भ्रमण से अपने को बचाते हैं; बस इसी का नाम जीवित रहना है। देह के वियोगरूप मरण और देहधारणरूप जीवन से यहाँ कुछ भी लेना-देना नहीं है।

करुणाभाव से अत्यन्त द्रवित आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि भाई! तुम एकान्त के सेवन से अनंत दुखी हो रहे हो, जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हो; अब समय आ गया है कि स्याद्वाद के मार्ग से वस्तु का सही स्वरूप समझकर अपना कल्याण करो, सच्चे सुखमय जीवन को धारण करो।

इसप्रकार यह स्वकाल-परकाल संबंधी नौवें और दशवें भंग की चर्चा

पूर्ण होती है।

(११-१२) स्वभाव-परभाव – अब स्वभाव और परभाव संबंधी ग्यारहवें और बारहवें भंग की चर्चा करते हैं। आत्मख्याति में इन भंगों का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जब यह ज्ञानमात्रभाव जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का स्वभाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

जब यह ज्ञानमात्रभाव 'सर्वभाव मैं ही हूँ' – इसप्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।"

उक्त भंगों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में भावसंबंधी स्वभाव का बोल है। भगवान आत्मा एक ज्ञायकभावरूप है। जानना, जानना, जानना – यह आत्मा का स्वभाव है; पर अज्ञानी ऐसा न मानकर ये जो परद्रव्य के भाव आत्मा के जानने में आते हैं – मैं उन भावरूप हो गया हूँ – ऐसा मानते हैं। परभाव को जानते समय ज्ञान तो एक ज्ञायकभावपने ही है; तथापि अज्ञानी जानता है कि मैं परभावरूप हो गया हूँ। अज्ञानी का लक्ष्य परभाव पर ही रहता है, अपने अन्दर जो एक ज्ञायकस्वभाव है, उस ओर उसका लक्ष्य नहीं है। इसप्रकार स्वयं को परभावरूप करता हुआ अपने एक ज्ञायकभाव का अभाव करता हुआ अपना नाश करता है।

तथा धर्मी पुरुष अपने एक ज्ञायकभाव-स्वभावभाव के ऊपर लक्ष्य होने से परभाव को जाननेवाला ज्ञान मेरे ज्ञायकभाव से ही है – ऐसा स्वभाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त दृष्टि से अपने अस्तित्व को

कायम रखता है, अपना नाश नहीं होने देता।

परभाव को जाननेवाला ज्ञान परभावरूप हो गया हो – ऐसा नहीं है; किन्तु निजस्वभावरूप ही रहा है – ऐसी अपनी आत्मलीला को यथार्थ जानता हुआ ज्ञानी अपने स्वरूप को सुरक्षित टिकाये रखता है। आत्मा में अनन्त गुणों के अस्तित्वमय ही वर्तमान भाव का परिणमन होता है, मेरे भाव से ही मेरी पर्याय है, परभाव से नहीं – ऐसा अनेकान्त आत्मा के जीवन को टिकाये रखता है।

यह आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय में 'परभाव' का बारहवाँ बोल है। आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र है, परन्तु अज्ञानी जीव जगत के अन्य जड़-चेतन भावों पर लक्ष्य जाने पर वह ऐसा मानता है कि 'ये परभाव मैं हूँ' इन परभावों के कारण ही मेरी यह वर्तमान पर्याय है। जैसे कि – शास्त्र सुनने या स्वयं स्वाध्याय करने के पहले मेरे ज्ञान की निर्मलता ऐसी नहीं थी, जैसे कि अब स्वाध्याय करने और प्रवचन सुनने के बाद है; अत: शास्त्र पढ़ने से, प्रवचन सुनने से बहुत लाभ हुआ – यह बात कहने/सुनने में ही अच्छी लग सकती है; परन्तु यह मान्यता ही मिथ्या है; क्योंकि वस्तुत: बात यह है कि वह ज्ञान की निर्मलता, विषय की स्पष्टता प्रवचन व शास्त्र में से नहीं; बल्कि अन्दर अपने ज्ञानस्वभाव में से आई है। वह वर्तमान ज्ञानदशा अपने ज्ञानसामान्य में से आई है।

अज्ञानी ऐसा न मानकर उसे जो परभाव का लक्ष्य है, उस परभाव में से वह वर्तमान निर्मल ज्ञानपर्याय प्रगट हुई है – ऐसा मानता हुआ परभाव को अपने रूप करता हुआ अपने स्वभाव का नाश करता है।

भगवान आत्मा चैतन्य मूर्ति प्रभु अन्दर एक स्वभावभाव, ज्ञानभाव से भरा हुआ पदार्थ है। भले ही वह उस समय परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एवं परभावों को देखता हो तो भी उस काल में उसकी जाननेरूप दशा (पर्याय) अपने भाव में से – ज्ञानभाव में से ही आई है; किन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर

यह मानता है कि यह मेरी ज्ञानपर्याय-जानने की दशा परभाव से उत्पन्न हुई है। इसप्रकार वह अपना नाश करता है।[1]

धर्मी ज्ञानी परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त दृष्टि से अपना कल्याण करता है।[2]''.

अब इसी भाव के पोषक कलश काव्य लिखते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः॥२५८॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्यस्वभावंभरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः॥२५९॥

(हरिगीत)

परभाव से निजभाव का अस्तित्व माने अज्ञजन।
पर में रमें जग में भ्रमे निज आतमा को भूलकर॥
पर भिन्न हो परभाव से ज्ञानी रमे निजभाव में।
बस इसलिए इस लोक में वे सदा ही जीवित रहें॥२५८॥

सब ज्ञेय ही हैं आतमा यह मानकर स्वच्छन्द हो।
परभाव में ही नित रमें बस इसलिए ही नष्ट हों॥
पर स्याद्वादी तो सदा आरूढ़ हैं निजभाव में।
विरहित सदा परभाव से विलसें सदा निष्कम्प हो॥२५९॥

एकान्तवादी अज्ञानी परभावों से अपना भाव (अस्तित्व) मानने के

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ४६-४७
२. वही, पृष्ठ - ४८

कारण बाह्यवस्तुओं में ही विश्राम करता हुआ अपने स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़ जैसा) होता हुआ नाश को प्राप्त होता है; किन्तु स्याद्वादी तो अपने सुनिश्चित स्वभाव से ही अपना अस्तित्व मानने के कारण परभावों से भिन्न वर्तता हुआ अपने सहज स्वभाव को स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् जीवित रहता है।

एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञेयरूप से जाने गये सभी परपदार्थों में अपनापन स्थापित करके अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ सभी परभावों में स्वछन्दतया क्रीड़ा करता है; किन्तु परभावों से अपना अस्तित्व नहीं मानता हुआ स्याद्वादी तो अपने स्वभाव में आरूढ़ होता हुआ निष्कम्प वर्तते हुये अत्यन्त शुद्ध सुशोभित होता है।

इन कलशों का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एकान्तवादी परभावों से ही अपना सत्पना मानता है, इसलिए बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है; और स्याद्वादी तो ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करता।

एकान्तवादी सर्व परभावों को निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावों में) स्वेच्छाचारिता से निःशंकतया प्रवृत्त होता है और स्याद्वादी तो परभावों को जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है।"

कलशटीका में इन कलशों का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है; इसलिए जितनी समस्त ज्ञेय वस्तुओं के जितने हैं शक्तिरूप स्वभाव, उनको जानता है ज्ञान; जानता हुआ उनकी आकृतिरूप परिणमता है। इसलिए ज्ञेय की शक्ति की आकृतिरूप हैं ज्ञान

की पर्याय, उनसे ज्ञानवस्तु को सत्ता को मानता है। उनसे भिन्न है अपनी शक्ति की सत्ता, मात्र उसे नहीं मानता है – ऐसा है एकान्तवादी।

उसके प्रति स्याद्वादी समाधान करता है कि ज्ञानमात्र जीववस्तु समस्त ज्ञेयशक्ति को जानती है – ऐसा सहज है; परन्तु अपनी ज्ञानशक्ति से अस्तिरूप है।

कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यमात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। इसलिए जितनी हैं ज्ञेय वस्तु, उनकी अनन्त हैं शक्ति, उनको जानता है ज्ञान; जानता हुआ ज्ञेय की शक्ति की आकृतिरूप परिणमता है – ऐसा देखकर जितनी ज्ञेय की शक्ति उतनी ज्ञानवस्तु – ऐसा मानता है मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी।

उसके प्रति समाधान करता है स्याद्वादी कि ज्ञानमात्र जीववस्तु का ऐसा स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय की शक्ति को जाने, ज़ानता हुआ उसकी आकृतिरूप परिणमता है; परन्तु ज्ञेय की शक्ति ज्ञेय में है, ज्ञानवस्तु में नहीं है। ज्ञान की जाननेरूप पर्याय है; इसलिए ज्ञानवस्तु की सत्ता भिन्न है।''

कलशटीका को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी इन कलशों का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

कोऊ पक्षपाती जीव कहै ज्ञेय कै अकार,
परिनयौ ग्यान तातै चेतना असत है।
ज्ञेय के नसत चेतना कौ नास ता कारन,
आतमा अचेतन त्रिकाल मेरे मत है॥
पंडित कहत ग्यान सहज अखंडित है,
ज्ञेय कौ आकार धरै ज्ञेय सौं विरत है।
चेतना कौ नास होत सत्ता कौ विनास होइ,
यातैं ग्यान चेतना प्रवांन जीव तत है॥
कोऊ महामूरख कहत एक पिंड मांहि,
जहां लौं अचित चित अंग लहलहै है।

जोगरूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप
जेते भेद करम के तेते जीव कहै है॥
मतिमान कहै एक पिंड मांहि एक जीव,
ताही के अनंत भाव अंस फैलि रहै हैं।
पुग्गल सौं भिन्न कर्म जोग सौं अखिन्न सदा,
उपजै विनसै थिरता सुभाव गहै है॥

कोई एकान्तवादी पक्षपाती जीव कहता है कि ज्ञान ज्ञेयाकाररूप से परिणमन करता है; इसलिए यह सिद्ध होता है कि चेतना की स्वयं से कोई सत्ता नहीं है। यही कारण है कि ज्ञेयों के नष्ट होने पर उसके जाननेवाले का भी नाश हो जाता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि मेरी मान्यतानुसार तो आत्मा सदा अचेतन ही है।

उससे ज्ञानी पंडितजन कहते हैं कि ज्ञेयों के आकारों को धारण करते हुए भी ज्ञान ज्ञेयों से विरक्त रहता है, भिन्न रहता है; सहजभाव से अखण्डित रहता है। चेतना का नाश मानने पर आत्मा की सत्ता का भी नाश हो जावेगा; इसलिए यह मानना ही सही है कि जीवतत्त्व ज्ञानचेतना प्रमाण है।

कोई एकान्तवादी महामूढ़ कहता है कि इस एक पिण्ड में जबतक चेतन और अचेतन एकसाथ लहलहा रहे हैं; तबतक योगरूप, भोगरूप और ज्ञेयरूप आदि जितने भी प्रकार के कार्य हैं; जीव भी उतने ही समझने चाहिए।

बुद्धिमान लोग कहते हैं कि एक पिंड में एक जीव ही रहता है; उसके ही विविधप्रकार के अनंतभावरूप अंश हैं, परिणमन हैं; जो अनेक क्रियाओं के रूप में फैल रहे हैं, दृष्टिगोचर होते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव को धारण किये यह आत्मा पौद्गलिक शरीर से, कर्मों से, जोग और योग से भिन्न है और सदा ही अखिन्न रहता है; पर से प्रभावित नहीं होता।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"भावस्वरूप (गुणस्वरूप) स्वयं से है, इनसे ही अपनी सत्ता है, अपना अस्तित्व है; परन्तु अज्ञानी का लक्ष्य निरन्तर पर के ऊपर होने से वह ऐसा मानता है कि परभाव जो मुझे अपने ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं, उनसे ही मेरी सत्ता है।[1]

अपने अनन्त गुणों की अनन्त सामर्थ्य है और इन्हीं में से अपनी पर्यायें प्रगट होती हैं – ऐसा न मानकर अज्ञानी मन-वाणी-इन्द्रिय, देव-शास्त्र-गुरु, धन-सम्पत्ति आदि जगत की अनन्त वस्तुओं को लक्ष्य में लेकर उन ज्ञेयों से अपने ज्ञान का अस्तित्व मानता है। अपने अनन्त गुणमय अस्तित्व का अज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान नहीं है। इसकारण स्वयं को छोड़कर सदा बाह्य वस्तुओं में ही विश्राम करता है। इसप्रकार स्वयं जड़-निश्चेतन होता हुआ अपनी सत्ता का नाश करता है।[2]

आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन हैं, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख इत्यादि अनन्त महिमायुक्त अनन्त भाव हैं। इन भावों का प्रवाह सतत् स्वयं से ही परिणमन करता है। जैसे – ज्ञान का प्रवाह, सुख का प्रवाह निरन्तर स्वयं से ही परिणमता रहता है; परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर वर्तमान पर्याय को परभाव में से प्रगट हुई मानता है। इसप्रकार वह अपने स्वभाव की महिमा से रहित होकर जड़-अचेतन हो रहा है। वह अपने निज चैतन्यस्वभाव की महिमा से रहित होकर जड़ परभाव की महिमा में स्थित होकर जड़ हो रहा है।[3]

भले ही वर्तमान पर्याय विकारी हो, परन्तु वह भी अपनी योग्यता से हुई है, कर्म के उदय के कारण नहीं हुई है। एक समय की विकार की पर्याय में षट्कारकरूप से परिणमना ही इस 'भाव' की पर्याय का स्वभाव है। त्रिकाल 'भाव' में षट्कारक की शक्ति गुणरूप से पड़ी है और उसका परिणमन

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ६४

२. वही, पृष्ठ - ६४

३. वही, पृष्ठ - ६५

अपनी पर्याय में अपने जन्मक्षण में अपनी सामर्थ्य से होता है। जो ऐसा नहीं मानता, उसका लक्ष्य परभाव की महिमा में अटका है। उसको स्वभाव की महिमा छूट गई है। इसकारण वह अत्यन्त जड़ होकर वर्तता हुआ नाश को प्राप्त होता है।[१]

अनेकान्त के स्वरूप को जाननेवाला, अपने त्रिकाल नियत स्वभाव के अनुसार होने योग्य अपना परिणमन अपने कारण है – ऐसा जानता हुआ पर से भिन्न वर्तता है।[२]

स्याद्वादी ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि ज्ञेयाकाररूप ज्ञानभाव का होना मेरा सहज स्वभाव है। यह ज्ञेयाकार हुआ मेरा ज्ञान ज्ञेय के कारण ज्ञेयाकार नहीं हुआ, बल्कि ज्ञान का ही सहज स्वभाव है। इसप्रकार अपना नाश नहीं होने देता, स्वयं को जीवित रखता है।[३]

वस्तु का स्वरूप अपने भाव से है और परभाव से नहीं है; परन्तु वह अज्ञानी ऐसा न मानकर जानने में आते हुए शरीरादि परभाव ही मैं हूँ – ऐसा मान लेता है। रागादि एवं शरीरादि से मुझे लाभ होता है या हानि होती है – ऐसा माननेवाला अज्ञानी सब परभावों को ही अपने रूप करता है। उसे इसीकारण पशु कहा गया है।

परद्रव्यों के भावों के परिणमनरूप अवस्थायें ज्ञान में ज्ञेयरूप से आते समय ज्ञान जो परभावों के आकार से परिणमा है; वह अपना ज्ञान है और वह अपने स्वकाल में प्रगट हुआ है, परिणमा है। कहने का तात्पर्य यह है कि परभावों को जाननेवाला ज्ञान जो यहाँ आत्मा में प्रगट हुआ है, वह उसका स्वयं का स्वकाल है, उस समय वह स्वयं से हुआ है; परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर ऐसा मानता है कि मुझे परभावों से ज्ञान हुआ है। वह

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ९६

२. वही, पृष्ठ - ९६

३. वही, पृष्ठ - ९७-९८

परभावों को अपने रूप करता है।

निमित्त से उपादान में विलक्षणता होती है – ऐसा जो मानता है, वह भी परभाव को अपने रूप करता है; क्योंकि अपनी अवस्था में परभाव का जो ज्ञान होता है, वह स्वयं से होता है, परभाव से नहीं।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो सामने जैसी वस्तु होती है, वैसा ही यहाँ ज्ञान क्यों होता है ?

उत्तर : अहा ! आत्मद्रव्य के भाव की ऐसी ही स्वयं की योग्यता है कि सामने जैसा परभाव ज्ञेय निमित्तपने से हो, वैसा ही वह ज्ञान में आता है। उस आत्मद्रव्य की ऐसी ही तत्कालीन शक्ति-योग्यता है, इसकारण वैसा ही ज्ञान में आता है, निमित्त के कारण नहीं।

भाई ! अज्ञानी निजशक्ति को तो समझता नहीं; इसकारण परभाव के कारण अपने ज्ञान का परिणमन होता है – ऐसा मानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत, भ्रष्ट होता है।

स्याद्वादी सम्यग्दृष्टि तो अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ हुआ है। उसकी परभावरूप होने के त्याग की दृष्टि खिल गई है। वह विचारता है कि 'मुझमें यह जो कोई दशा प्रगट होती है, वह मुझमें जो शक्तिरूप ज्ञान है, उससे आती है, परभावों के कारण नहीं आती। समय-समय पर प्रगट होती हुई पर्याय अपने स्वभाव की शक्ति की ही व्यक्ति है और वही उसका स्वकाल है। भाव में तो शक्तिरूप से त्रिकालवर्ती सभी पर्यायें पड़ी हैं।[१]

प्रतिनियत एक-एक पर्याय अपने काल में प्रगट होती है। निश्चय से देखें तो स्वभाव-परभाव को जाननेरूप जो स्वपरप्रकाशक पर्याय प्रगट होती है; वह उसी जाति की, उसी काल में उत्पन्न होनेवाली पर्याय की शक्ति-योग्यता है, वह प्रगट होती है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु का सामान्यपना कारण नहीं है। यदि वस्तु का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ९९-१००

सामान्यस्वभाव वास्तविक कारण हो तो समय-समय उत्पन्न होनेवाली पर्यायें एक सरीखी-एक जैसी होनी चाहिए; क्योंकि सामान्यस्वभाव तो सदा एकरूप है और पर्याय एक जैसी होती नहीं; क्योंकि पर्यायों का जिस-जिसप्रकार का अपना-अपना स्वकाल है, उसी-उसी काल में वैसी ही योग्यता है।

अपने द्रव्य में जो ज्ञान, श्रद्धान, शान्ति, आनन्द आदि शक्तियाँ हैं, उनमें से जितनी पर्यायें प्रगट हो गई हैं और जितनी प्रगट होंगी; वे सब उसमें अन्तर्लीन हैं तथा उससे स्वपर को, स्वभाव-परभाव को जानने का जो पर्यायभाव उत्पन्न होता है, वह स्वयं से ही होता है, पर से नहीं और त्रिकाली सामान्यस्वभाव से भी नहीं। त्रिकालीद्रव्य में जो उस समय की, जो उसप्रकार की योग्यता विद्यमान है; वह उसीसमय पर्यायरूप से प्रगट होती है। इसका अर्थ है कि वस्तुत: सामान्य द्रव्य भी पर्याय का कारण नहीं रहा।[1]

धर्मी के 'परभाव में से मेरा भाव होता है' – ऐसी दृष्टि का अभाव हो गया है और अपने स्वभाव से अपना अस्तित्व होने की दृष्टि प्रगट हुई है; इसकारण वह स्वभाव में आरूढ़ होकर निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही विराजता है।[2]

ज्ञानी शुद्ध ही विराजता है। किंचित् राग है, फिर भी शुद्ध ही विराजता है; क्योंकि उस किंचित् राग का वह मात्र ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं तथा वह राग उसमें मिला नहीं है; क्योंकि उसे जाननेवाला ज्ञान स्वयं से है, राग के कारण नहीं।

जो अज्ञानी जीव निमित्त या संयोग और परभाव से अपने भाव (ज्ञान) की दशा हुई मानते हैं, वे उस संयोग और परभाव को अपनेरूप हुआ मानते हैं; वे मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी तो स्वभाव की अस्ति की मस्ती में रहता हुआ परभावरूप होने के त्याग की दृष्टि के कारण निष्कम्प वर्तता हुआ शुद्ध ही

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १०१

२. वही, पृष्ठ - १०२

विराजता है, शुद्ध का ही अनुभव करता है।[1]

मेरी शुद्ध चैतन्यवस्तु तो परभाव के अभावस्वरूप ही है – ऐसा मानकर ज्ञानी शुद्ध एक ज्ञानस्वभाव में लीन होकर प्रवर्तता ही शोभता है; जबकि अज्ञानी परभाव से अपनी दशा होना मानता है – ऐसा जानता हुआ अज्ञानी परभावों में लीन होकर प्रवर्तता है।[2]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन स्वभाव और परभाव संबंधी भंगों में यही बताया गया है कि जाननेरूप अपने ज्ञानभाव में जानने में आनेवाले परज्ञेयों के कारण कुछ अज्ञानी एकान्तवादियों को तो ऐसा लगता है कि इन ज्ञेयों को जानने के कारण, ज्ञेयाकाररूप परिणमित हो जाने के कारण यह भगवान आत्मा भी ज्ञेयरूप ही हो गया है।

इसप्रकार आत्मा की स्वतंत्र सत्ता से इन्कार करने के कारण अपने स्वभाव से अपने अस्तित्व को न स्वीकारते हुए वे अज्ञानी नाश को प्राप्त होते हैं।

इसीप्रकार कुछ अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि हमारे ज्ञान में जब सभी पदार्थ आ गये, जाने गये तो वे हमारे ही हो गये। इसप्रकार सर्व पदार्थों को स्व के रूप में स्वीकार करने वाले ये लोग नास्तित्व धर्म से इन्कार करते हैं; जबकि परभावों की तो आत्मा में नास्ति है; परन्तु ये लोग उन परभावों को स्व में अस्तिरूप स्वीकार कर रहे हैं।

इसप्रकार कुछ अज्ञानी तो जानने में आनेवाले ज्ञेयपदार्थों में अपनापन स्थापित करके अपने स्वभाव के अस्तित्व इन्कार करके एकान्ती हो गये हैं और कुछ अज्ञानी ज्ञेयों को अपना स्वभाव मानकर परभाव से नास्तित्व से इन्कार करके एकान्ती हो गये हैं।

स्वभाव (ज्ञानस्वभाव) से अस्तित्व और ज्ञेयरूप परभावों से नास्तित्व स्वीकार करनेवाले स्याद्वादी अनेकान्तवादी होकर जीवित रहते हैं अर्थात्

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १०२
२. वही, पृष्ठ - १०२

अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

(१३-१४) नित्य-अनित्य – अब नित्य और अनित्य संबंधी तेरहवें और चौदहवें भंग की चर्चा करते हैं।

आत्मख्याति में इन भंगों का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञानसामान्य स्वभाव को खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का ज्ञानसामान्यरूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है, नष्ट नहीं होने देता।

जब यह ज्ञानमात्रभाव नित्य ज्ञांनसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है; तब उस ज्ञानमात्रभाव का ज्ञानविशेषरूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।"

यहाँ नित्य और अनित्य संबंधी उक्त भंगों में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि यह भगवान आत्मा नित्यानित्यात्मक है; द्रव्यस्वभाव से नित्य है और पर्यायस्वभाव से अनित्य है; द्रव्यार्थिकनय से नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है।

वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी अनित्यैकान्तवादी यह मानता है कि आत्मा प्रतिसमय नष्ट हो जाता है और प्रतिसमय नया-नया उत्पन्न होता है। ज्ञानपर्याय में झलकनेवाले – जानने में आनेवाले ज्ञेयों के नाश के साथ जाननेवाले आत्मा का भी नाश हो जाता है। – ऐसा मानकर अनित्यैकान्त-वादी नाश को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार ज्ञानसामान्य को ग्रहण करने के लिए मात्र उसे ही आत्मा का स्वरूप माननेवाले नित्यैकान्तवादी को यह डर लगता है कि यदि आत्मा को अनित्य माना जायेगा तो उसका नाश हो जायेगा। अत: वह आत्मा को सर्वथा नित्य मानकर नाश को प्राप्त होता है, सच्चे आत्मस्वरूप से अपरिचित

ही रहता है।

स्याद्वादी ज्ञानी नित्यानित्यसंबंधी अनेकान्त स्वीकार करता हुआ जीवित रहता है।

अब इसी बात को कलशों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति॥२६०॥

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
दाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृंशश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्॥२६१॥

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय के रूप में वहते हुए परिणाम लख।
क्षणभंग के पड़ संग निज का नाश करते अज्ञजन॥
चैतन्यमय निज आतमा क्षणभंग है पर नित्य भी-
यह जानकर जीवित रहें नित स्याद्वादी विज्ञजन॥२६०॥

है बोध जो टंकोत्कीर्ण विशुद्ध उसकी आश से।
चिद्परिणति निर्मल उछलती से सतत् इन्कार कर॥
अज्ञजन हों नष्ट किन्तु स्याद्वादी विज्ञजन।
अनित्यता में व्याप्त होकर नित्य का अनुभव करें॥२६१॥

एकान्तवादी अज्ञानी उत्पाद-व्यय से लक्षित और परिणमित होते हुए ज्ञान की अंशरूप अनेकता के द्वारा ही आत्मा का निर्णय करता हुआ क्षणभंगुरता के मोह में पड़कर प्रायः नाश को प्राप्त होता है; किन्तु स्याद्वादी

चैतन्यात्मक निज आत्मवस्तु को नित्योदित और टंकोत्कीर्ण ज्ञानघनरूप अनुभव करता हुआ जीवित रहता है।

एकान्तवादी अज्ञानी टंकोत्कीर्ण विशुद्धज्ञानविस्ताररूप सर्वथा नित्य आत्मतत्त्व की आशा से उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न आत्मतत्त्व चाहता है; किन्तु ऐसा आत्मा तो कहीं है ही नहीं। स्याद्वादी तो चैतन्यवस्तु की परिणति के द्वारा आत्मा की अनित्यता को अनुभव करता हुआ नित्य ज्ञान को अनित्यता से व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल अनुभव करता है।

उक्त कलशों का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''एकान्तवादी ज्ञेयों के आकारानुसार ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर, अनित्य पर्यायों के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपने को नष्ट करता है और स्याद्वादी तो, यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी, चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ जीता है – नाश को प्राप्त नहीं होता।

एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार नित्य प्राप्त करने की वांछा से, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है; परन्तु परिणाम के अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता। स्याद्वादी तो यह मानता है कि यद्यपि द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है; तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है – ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।''

कलशटीका में इन भंगों का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है; इसलिए अखण्ड धाराप्रवाहरूप परिणमता है ज्ञान, उसका होता है प्रतिसमय उत्पाद-व्यय। इसलिए पर्याय का विनाश होने पर जीवद्रव्य का विनाश मानता है।

उसके प्रति स्याद्वादी ऐसा समाधान करता है कि पर्यायरूप से देखने पर जीववस्तु उपजती है, विनष्ट होती है; द्रव्यरूप से देखने पर जीव सदा शाश्वत है।

कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है; इसकारण समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयाकार परिणमता है ज्ञान; उसको अशुद्धपना मानता है; एकान्तवादी, ज्ञान को पर्यायपना नहीं मानता है।

उसका समाधान स्याद्वादी करता है कि ज्ञानवस्तु को द्रव्यरूप से देखने पर नित्य है, पर्यायरूप से देखने पर अनित्य है; इसलिए समस्त ज्ञेय को जानता है ज्ञान, जानता हुआ ज्ञेय की आकृतिरूप ज्ञान की पर्याय परिणमती है – ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, अशुद्धपना नहीं।''

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पाण्डे राजमलजी कलशटीका में उक्त १४ भंग संबंधी छन्दों के अर्थ के आरंभ में ही यह उल्लेख अवश्य करते हैं कि कोई मिथ्यादृष्टि वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं अथवा कोई मिथ्यादृष्टि वस्तु को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं; जबकि वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप है।

तात्पर्य यह कि यहाँ द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु की बात है, प्रमाण की विषयभूत आत्मवस्तु की बात है।

कविवर बनारसीदासजी इन कलशों का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

कोऊ एक छिनवादी कहै एक पिण्ड मांहि,
एक जीव उपजत एक विनसत है।
जाही समै अंतर नवीन उतपति होइ,
ताही समै प्रथम पुरातन बसत है।।
सरवांगवादी कहै जैसे जलवस्तु एक,
सोई जल विविध तरंगनि लसत है।

तैसै एक आतम दरब गुन परजै सौं,
अनेक भयौ पै एकरूप दरसत है॥
कोऊ बालबुद्धी कहै ग्यायक सकति जौलौं,
तौलौं ग्यान असुद्ध जगत मध्य जानियै।
ज्ञायक सकति काल पाइ मिटि जाइ जब,
तब अविरोध बोध विमल बखानियै॥
परम प्रवीन कहै ऐसी तौ न बनै बात,
जैसे बिन परगास सूरज न मानियै।
तैसें बिन ग्यायक सकति न कहावै ग्यान,
वह तौ न परोच्छ परतच्छ परवांनियै॥

कोई क्षणिकैकान्तवादी कहता है कि पिण्ड (शरीर) में एक जीव उत्पन्न होता है और एक जीव नष्ट होता है। जिससमय अन्तर में नवीन जीव की उत्पत्ति होती है; उससमय के पहले कोई दूसरा था।

अनेकान्तवादी कहते हैं कि जिसप्रकार जल एक वस्तु है, पर वही जल अनेकप्रकार की अनेक तरंगों में शोभायमान होता है; उसीप्रकार आत्मद्रव्य अपने गुण और पर्यायों में अनेकरूप होने पर भी एकरूप ही दिखाई देता है।

कोई बालबुद्धि एकान्तवादी कहता है कि जबतक आत्मा में ज्ञायक शक्ति विद्यमान है अर्थात् जानने की प्रकिया चलती है; तबतक इस लोक में ज्ञान अशुद्ध कहलाता है और जब समय आने पर ज्ञायकशक्ति मिट जाती है, जानने की प्रक्रिया बन्द हो जाती है; तब अविरोधी ज्ञान निर्मल हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जानने की शक्ति दोष है।

अत्यन्त चतुर स्याद्वादी कहते हैं कि यह बात तो ठीक नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार प्रकाश बिना सूर्य की सत्ता संभव नहीं है; उसीप्रकार बिना ज्ञायक शक्ति के ज्ञान का होना संभव नहीं है। अरे भाई ! तुम्हारा यह कथन न तो परोक्ष प्रमाण से प्रमाणित होता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रमाणित

होता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इन कलशों का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् है। एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें उत्पन्न होती हैं और दूसरे समय में उनका व्यय हो जाता है। यह वस्तु का पर्यायधर्म है। इसप्रकार आत्मा नित्य-अनित्य दोनों रूप है; परन्तु अज्ञानी वस्तु के स्वरूप को ऐसा न मानकर एकान्त से वस्तु को मात्र अनित्य मानता है। वस्तु को उत्पाद-व्ययरूप ही मानता है। अपने ध्रुव नित्यपने को नहीं मानता। इसतरह अज्ञानी अनित्यता अर्थात् मात्र उत्पाद-व्यय के अंश को ही अपना स्वरूप मानकर आत्मा का ही नाश करता है।

जबकि स्याद्वादी ऐसा मानता है कि पर्याय से उत्पाद-व्यय होते हुए भी मेरी वस्तु अर्थात् मैं शाश्वत शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ – इसप्रकार धर्मी अपने नित्य उदित स्वभाव का अनुभव करता हुआ, अपने ज्ञानरूप वर्तता हुआ जीवित रहता है, अपने अस्तित्व को नष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ यह है कि एकान्तवादी ज्ञेयों के आकार के अनुसार ज्ञान को उपजता-विनशता देखकर अनित्य पर्यायों द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ स्वयं को नष्ट करता है तथा स्याद्वादी अपने ज्ञान (आत्मा) को ज्ञेयों के अनुसार उपजता-विनशता हुआ मानते हुए भी चैतन्यस्वभाव को नित्य उदयरूप अनुभव करता हुआ जीवित रहता है, नष्ट नहीं होता।[1]

आत्मा ध्रुवपने त्रिकाली नित्य है और अवस्थापने क्षण-क्षण में बदलता है, अनित्य है। वस्तु का ऐसा ही नित्यानित्यात्मक स्वरूप है; परन्तु एकान्तवादी पशुवत् अज्ञानी जीव आत्मा को टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के फैलावरूप एकाकार सर्वथा नित्य मानता है। पर्याय में जो अनेकाकार ज्ञान कीदशायें होती हैं, उन्हें वस्तु ही नहीं मानता। इसतरह अज्ञानी ध्रुव नित्यत्व की आशा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १०३-१०४

से वर्तमान वर्तती पर्यायों का उच्छेद करता है। अज्ञानी को यह खबर नहीं है कि नित्य, टंकोत्कीर्ण, ध्रुव शाश्वत ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करनेवाली, जाननेवाली तो वह वर्तमान अनित्य, एक समय की ही पर्याय है, जिसका वह निषेध करता है। इसतरह वर्तमान वर्तती पर्याय को न मानकर वह ध्रुवतत्त्व चैतन्यमय आत्मा को प्राप्त न करके अपना नाश करता है।

अरे भाई ! परिणाम परिणामी का है, पर्याय पर्यायवान द्रव्य की है। पर्याय से जुदे (अलग) आत्मतत्त्व को खोजने की असफल चेष्टा मत कर ! क्योंकि पर्याय बिना द्रव्य होता ही नहीं है तो तुझे मिलेगा कहाँ से ? अनित्य पर्याय को छोड़ने का अर्थ है अपना ही सर्वस्व विनाश।[१]

भले पर्याय त्रिकाली नहीं है; परन्तु परिणाम या पर्याय परिणामी द्रव्य की ही है, भिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों के प्रदेश एक हैं।

प्रश्न : ध्रुव में पर्याय नहीं है और पर्याय में ध्रुव नहीं है – ऐसा कथन भी तो आगम में आता है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : वह अपेक्षा जुदी है। वहाँ यह कहना चाहते हैं कि एक समय की अवस्था का अंश त्रिकाली ध्रुवरूप नहीं है तथा त्रिकाली ध्रुव भी, एक समय की अवस्थारूप नहीं हो जाता। इसतरह वहाँ परस्पर अन्यता की बात है।

समयसार गाथा ४९ में अव्यक्त के पाँचवें बोल में आया है कि 'व्यक्तता तथा अव्यक्तता मिश्रितरूप से प्रतिभासित होते हुए भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।

वहाँ तो निश्चय से अभेद एक ध्रुवतत्त्व कैसा है ? यह सिद्ध करना है। इसलिए कहा है कि ध्रुव एक समय के अंश में (पर्याय में) नहीं है, पर्याय का स्पर्श नहीं करता; परन्तु यह बात यहाँ नहीं है।

यहाँ तो एकान्तवादी पर्याय रहित अकेले ध्रुव की आशा करके बैठा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १०५

है। उससे कहते हैं कि भाई ! पर्याय रहित ध्रुव होता ही नहीं है और ध्रुव का निर्णय करनेवाली तो पर्याय ही है न ! ध्रुव, ध्रुव का निर्णय नहीं करता।[१]

पंचास्तिकाय में आता है कि पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्याय कोई वस्तु नहीं ही नहीं है। यह वस्तुस्थिति है; तथापि अनित्य पर्याय को अनेकरूप परिणमती हुई देखकर – यह पर्याय में नहीं हूँ – ऐसा मानकर अज्ञानी इनसे जुदा ध्रुव आत्मतत्त्व को खोजने जाता है, परन्तु उसे वह कहीं नजर नहीं आता।

जिसतरह कोई आँख फोड़कर किसी को देखने जाय तो उसके कुछ भी दिखाई नहीं देता; उसीतरह जो वर्तमान पर्यायरूप आँख को उड़ाकर ध्रुवतत्त्व खोजने जायेगा तो उसको कुछ भी दिखाई नहीं देगा। जब देखनेवाली पर्याय ही न होगी तो आत्मा को जानेगा कौन ? वेदान्तादि मतवाले जो वस्तु को सर्वथा कूटस्थ मानते हैं, पर्याय को नहीं मानते; उन्हें वस्तु की कभी उपलब्धि नहीं होती।[२]

भाई ! जबतक प्रमाणज्ञान द्वारा ऐसा निष्कर्ष नहीं होता कि जो नित्य है, वही अनित्य है तथा जो अनित्य है, वही नित्य है; तबतक पर्याय में निर्मलतारूप धर्म प्रगट नहीं होता।[३]

एक ही धर्म को देखनेवाला एकान्ती चैतन्य की अनेकरूप परिणति को उपाधि मानता है, उसे दूर करके सर्वथा नित्य आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है; परन्तु चैतन्य की परिणति से भिन्न कोई आत्मतत्त्व है ही नहीं; क्योंकि परिणाम के बिना कोई परिणामी होता ही नहीं है। इसकारण एकान्तवादी को चैतन्य ध्रुवतत्त्व की प्राप्ति होती ही नहीं है।[४]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १०६
२. वही, पृष्ठ -१०६-१०७
३. वही, पृष्ठ - १०७
४. वही पृष्ठ - १०७-१०८

यथार्थ में देखा जाय तो परिणाम से जुदा कोई परिणामी होता ही नहीं है।

आगम में जो आत्मा को नित्य अपरिणामी कहा है, वह तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने के प्रयोजन से कहा है; परन्तु दृष्टि करनेवाली पर्याय तो है। उस उछलती परिणति को न माने और इससे रहित आत्मतत्त्व की इच्छा करे तो इसे वह कैसे प्राप्त हो सकता है ?[१]

भाई ! पर्याय से भिन्न कोई द्रव्य है ही नहीं। अंश में अंशी नहीं है, अंशी में अंश नहीं है – यह तो अभेद की दृष्टि करने की अपेक्षा कथन है। वस्तुत: तो परिणाम व परिणामी भिन्न-भिन्न रहें – ऐसा क्षेत्रभेद दोनों में नहीं है। जहाँ त्रिकाली ध्रुव है, वहीं उसकी दशा (पर्याय) है।

देखो, आत्मा द्रव्य से नित्य होते हुए पर्याय से अनित्य है और पर्याय से अनित्य होते हुए द्रव्य से नित्य है – ऐसा यथार्थ मानने का नाम अनेकान्तवाद है।[२]''

स्वामीजी के उक्त विश्लेषण में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से आई है कि जो नित्य है, वही अनित्य है और जो अनित्य है, वही नित्य है – इसप्रकार प्रमाणज्ञान द्वारा जबतक नित्यानित्यात्मक आत्मा को नहीं जान लिया जाता है; तबतक निर्मलपर्यायरूप धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

त्रिकालीध्रुव आत्मतत्त्व को पर्याय से सर्वथा पृथक् माननेवालों को स्वामीजी के उक्त कथनों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण कथन का मर्म यह है कि आत्मवस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है; वह नित्यानित्य है। ऊपर-ऊपर से मात्र पर्यायों को देखनेवाले अनित्यैकान्तवादी बौद्धों के समान आत्मा को सर्वथा अनित्य मान लेते हैं। इसीप्रकार पर्यायों की अनित्यता को अनिष्टबुद्धि से देखनेवाले नित्यैकान्त-वादी सांख्यों के समान आत्मा को सर्वथा नित्य ही मान लेते हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - १०६

२. वही, पृष्ठ - १०६

स्याद्वादी कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से आत्मा नित्य है और पर्यायार्थिक -नय से आत्मा अनित्य है; इसप्रकार आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। आत्मा में नित्यत्व और अनित्यत्व – दोनों ही धर्म विद्यमान हैं; अत: वह नित्यानित्य है।– ऐसा माननेवाले स्याद्वादी वस्तु के सत्यस्वरूप को प्राप्त कर अनन्त सुखी होते हैं और उक्त दोनों एकान्तवादी वस्तुस्वरूप से अपरिचित रहने के कारण सच्चे सुख से वंचित रहते हैं।

स्याद्वाद संबंधी उक्त १४ भंगों के सन्दर्भ में जो कुछ भी कहा गया है; उक्त सम्पूर्ण कथन का मूल आधार एकमात्र यही है कि ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है; इसकारण उसमें स्व और पर सभीप्रकार के अनंत ज्ञेय पर्यायगत योग्यता के अनुसार निरन्तर जानने में आते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानपर्याय में परज्ञेयों के जानने को किसी भी स्थिति में रोकना संभव नहीं है; क्योंकि वह ज्ञानपर्याय का सहजस्वाभाविक परिणमन है।

यद्यपि परज्ञेयों का ज्ञान में जानने में आना कोई अपराध नहीं है, विभाव नहीं है; तथापि कुछ एकान्तवादी अज्ञानी तो ऐसा मान लेते हैं कि ज्ञान की सार्थकता उक्त ज्ञेयों के जानने में ही है, ज्ञान का अस्तित्व ही उनके जानने में है। मानो उनको जाने बिना ज्ञान का कोई अस्तित्व ही नहीं है। – इसप्रकार वे परज्ञेयों से अपना अस्तित्व मानकर एकप्रकार से स्वयं के स्वाधीन अस्तित्व से ही इन्कार कर देते हैं। ऐसे लोग स्वतंत्र निज अस्तित्व के अपलापी एकान्तवादी हैं।

ऐसे लोग कोई अन्यमतवादी ही नहीं, अपने को आध्यात्मिक माननेवाले जैनियों में भी हैं। क्या ऐसे लोगों की कमी है जो ऐसा मानते हैं कि मैं डॉक्टर हूँ, इन्जीयर हूँ, शास्त्री हूँ, न्यायतीर्थ हूँ; यदि मुझे शास्त्रों का ज्ञान नहीं होता तो मैं एकप्रकार से कुछ भी नहीं था। बाह्यपदार्थों के ज्ञान से अपना अस्तित्व माननेवाले लोग कहीं भी मिल जावेंगे। आचार्य कहते है कि भाई तेरा अस्तित्व तो तेरे से है, पर को जानने से नहीं।

इसके विरुद्ध कुछ अज्ञानी ऐसे हैं कि जो ऐसा मानते हैं कि जो-जो परपदार्थ मेरे जानने में आते हैं, मानों वे मेरे ही हैं। इसप्रकार परज्ञेयों को निजरूप माननेवाले लोग ज्ञान में परज्ञेयों के नास्तित्व से इन्कार करनेवाले लोग हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान में परज्ञेय जानने में तो आते हैं; किन्तु परज्ञेयों के जानने में परज्ञेयों का रंचमात्र भी योगदान नहीं है, रंचमात्र भी ज्ञेयाधीनता नहीं है। ज्ञान का अस्तित्व स्वरूप से ही है तथा परज्ञेय ज्ञान में जानने में आने से वे ज्ञानरूप नहीं हो जाते; ज्ञान में तो उनकी नास्ति ही रहती है। इसलिए न तो परज्ञेयों को जानने का निषेध करने की आवश्कता है और न उन्हें जानने में आने के कारण निजरूप मानने की ही आवश्यकता है। यही स्वरूप से अस्ति और पररूप से नास्ति का वास्तविक अर्थ है।

यहाँ इसी मूल धारणा के आधार पर ही १४ प्रकार के एकान्तों का निषेध कर स्याद्वाद की स्थापना की गई है।

इन १४ भंग और तत्संबंधी कलशों के उपरान्त अब इस प्रकरण का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव दो कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं–

(अनुष्टुभ्)

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकांत: स्वयमेवानुभूयते॥२६२॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थित:॥२६३॥

(दोहा)

मूढ़जनों को इसतरह ज्ञानमात्र समझाय।
अनेकान्त अनुभूति में उतरा आतमराय॥२६२॥

अनेकान्त जिनदेव का शासन रहा अलंघ्य।
वस्तुव्यवस्था थापकर थापित स्वयं प्रसिद्ध॥२६३॥

इसप्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानविमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र

आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।

इसप्रकार ज़िनदेव का अलंघ्य शासनरूप अनेकान्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्था द्वारा स्वयं को स्थापित करता हुआ स्वयं व्यवस्थित हो गया।

उक्त कलशों का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है। परन्तु अनादि काल से प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवाद का उपेदश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवों को) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनेकान्त-स्वरूपपना प्रगट करता है – समझाता है।

यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके-अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वाद के उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है।

इसलिए हे प्रवीण पुरुषो ! तुम ज्ञान को तत्स्वरूप, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीति में लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है।

अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वत: सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थिति को कहनेवाला है। कहीं किसी ने असत् कल्पना से वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिए हे निपुण पुरुषो! भलीभांति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण से अनुभव कर देखो।"

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इन कलशों की चर्चा इसप्रकार करते हैं –

"देखो, यहाँ अनेकान्त एवं स्याद्वाद को एक अर्थ में प्रयोग किया है। वस्तुत: अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है और स्याद्वाद वस्तु के अनेकान्त स्वरूप का द्योतक है, बतानेवाला या कथन करनेवाला है। स्याद्वाद अर्थात् सापेक्षकथन करना। 'स्यात्' अर्थात् अपेक्षा बताकर और 'वाद' माने कथन करना। इसप्रकार स्याद्वाद अनेकान्तस्वरूप वस्तु के कथन करने की पद्धति है, शैली है।

स्याद्वाद अपेक्षा से वस्तु में विद्यमान परस्पर विरोधी दो धर्मों को मुख्य-गौण करके कथन करने की शैली द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तु को सिद्ध करता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताता है।

यहाँ अनेकान्त व स्याद्वाद का वाचक-वाच्य संबंध का भेद बतानेवाला – ऐसा अर्थ न करके दोनों को पर्यायवाची के रूप में ही प्रयोग किया है।

अनेकान्त को जानते हुए स्व-स्वरूप वस्तु आत्मा स्वयमेव अनुभव में आ जाता है। आत्मवस्तु को जाननेरूप पर्याय स्वयमेव अपने से ही परिणमती है, पर से नहीं।[1]

ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को अनेकान्तमय ज्ञानमात्र कहने से ही आत्मा ज्ञानस्वरूप से तत् और परज्ञेयस्वरूप से अतत्, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् इत्यादि अनेक धर्म आत्मा में सिद्ध हो जाते हैं। मैं वस्तुपने एक हूँ – ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र कहते ही आत्मवस्तु अनेकान्तमय सिद्ध हो जाती है।

इन चौदह बोलों से आचार्यदेव ने संक्षेप में आत्मा का वास्तविक दर्शन कराया है।

परन्तु अनादिकाल से प्राणी स्वयं ही या एकान्तवादियों का उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेकप्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करता है। कोई तो सर्वथा पर्याय को ही आत्मा मानता

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १०९-११०

है, दूसरे कोई सर्वथा नित्य ध्रुवद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं, अन्य कोई आत्मा को सर्वथा एकरूप मानता है तो कोई सर्वथा अनेकरूप मानता है तथा कोई स्व-पर को मिलाकर एकरूप मानता है। इसप्रकार पक्षपात करके एकान्तवादी अपने आत्मतत्त्व का नाश करता है अर्थात् वस्तुतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता।[१]

आत्मवस्तु को जो ज्ञानमात्र कहा है, उसका अर्थ अकेला ज्ञान गुण ही आत्मा में है – ऐसा नहीं समझना। उसके साथ दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व-नास्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त धर्म हैं। यदि अपनी ओर देखकर-अनुभव करके देखें तो ज्ञानमात्र वस्तु स्वत: अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है।[२]

अनेकान्त वीतराग सर्वज्ञदेव का अलंघ्य शासन है, अनेकान्त तो वस्तु का स्वरूप है। अहा ! शक्ति से तो प्रत्येक आत्मा स्वयं परमेश्वर है; परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप वीतराग-सर्वज्ञदेव ने प्रगट करके बताया है; इसकारण इसे यहाँ जैन परमेश्वर का शासन कहा है – ऐसा यह जिनदेव का शासन अलंघ्य है।[३]

अनेकान्त तो वस्तु के स्वरूप को यथार्थपने बतानेवाला महासिद्धान्त है। या यों कहें कि जैनदर्शन का मूल रहस्य है। नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् आदि धर्म परस्पर विरुद्ध होते हुए वे वस्तु को अविरोधपने सिद्ध करते हैं। इसके सिवाय कोई अन्य रीति से माने तो उसने अनेकान्त के स्वरूप को समझा ही नहीं है। इसकी व्यवस्था अर्थात् विशेष अवस्था (पर्याय) पलटने में अन्य द्रव्य सहयोगी हो, कर्त्ता हो – ऐसा जैनशासन के अनुसार वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।[४]''

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -११०-१११
२. वही, पृष्ठ - १११
३. वही, पृष्ठ - ११२
४. वही, पृष्ठ - ११३-११४

इसप्रकार इन समापन के कलशों में मात्र यही कहा गया है कि स्याद्वाद के माध्यम से समझने पर 'ज्ञानमात्र आत्मा'– इस कथन का वास्तविक आशय अत्यन्त विमूढ़ अज्ञानियों की भी समझ में सहज ही आ जाता है।

यह स्याद्वाद जिनेन्द्र भगवान अलंघ्य शासन है, अभेद्य किला है; जिसे न तो कोई उल्लघंन कर सकता है और न इसे किसी के द्वारा भेदा ही जा सकता है।

यह स्याद्वाद वस्तुव्यवस्था को भलीभांति स्पष्ट करके, स्थापित करके स्वयं स्थापित हो गया है। तात्पर्य यह है कि इस स्याद्वाद ने वस्तुस्वरूप को इसप्रकार समझाया है, सिद्ध किया है, स्थापित किया है कि जिससे न केवल वस्तुस्वरूप की व्यवस्था ही स्पष्ट हुई है; अपितु यह स्याद्वाद का सिद्धान्त भी स्वयं स्थापित हो गया, विद्वज्जनों को सर्वमान्य हो गया है।

जब स्याद्वाद अधिकार आरंभ किया गया था, तब आचार्यदेव ने इसे सर्वज्ञ भगवान का अस्खलित शासन कहा था और यहाँ अब समापन के प्रसंग पर इस स्याद्वाद को उन्हीं सर्वज्ञ भगवान का अलंघ्य शासन कहा जा रहा है। तात्पर्य यह है कि न तो इस सिद्धान्त में कहीं कोई स्खलन है और न इसका उल्लंघन ही किया जा सकता है। वस्तुत: बात यह है कि यह अनेकान्त सिद्धान्त तथा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली संपूर्णत: अस्खलित है, अलंघ्य है, अकाट्य है और अद्भुत है।

इसके बाद आत्मख्याति में प्रश्नोत्तर के माध्यम से ज्ञानमात्र आत्मा का जो अनेकान्तात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है; वह इसप्रकार है –

''**प्रश्न :** अनेकान्तात्मक होने पर भी यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा गया है; क्योंकि ज्ञानमात्र कहने से तो ज्ञान को छोड़कर अन्य धर्मों-गुणों का निषेध समझा जाता है।

उत्तर : लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि-सिद्धि करने के लिए यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जा रहा है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है;

क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। आत्मा से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यों में ज्ञान नहीं पाया जाता है। इसलिए ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि से ज्ञान के लक्ष्यभूत आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है, प्रसिद्धि होती है।

प्रश्न : इस ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है, क्या लाभ है ? मात्र लक्ष्य ही प्रसिद्धि करने योग्य है, लक्ष्यभूत आत्मा की प्रसिद्धि करना ही उपयोगी है; क्योंकि आत्मा का कल्याण हो आत्मा के जानने से होगा।

उत्तर : जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो; उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है; उसे ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। यही कारण है कि पहले लक्षण को समझाते हैं, तदुपरान्त लक्षण द्वारा लक्ष्य को समझायेंगे।

प्रश्न : ज्ञान से भिन्न ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा प्रसिद्ध किया जाता है ?

उत्तर : ज्ञान से भिन्न कोई लक्ष्य नहीं है; क्योंकि ज्ञान और आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न ही हैं।

प्रश्न : यदि ऐसी बात है तो फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है ?

उत्तर : प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है।

ज्ञान प्रसिद्ध है; क्योंकि ज्ञानमात्र के स्वसंवेदन से सिद्धपना है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान सभी प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है। इस प्रसिद्ध ज्ञान लक्षण से उसके साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाला अनंत धर्मों के समूहरूप आत्मा प्रसाध्यमान है।

इसलिए ज्ञानमात्र में अचलित स्थापित दृष्टि के द्वारा कुछ क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्त्तमान एवं उस ज्ञान के साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाला

अनन्तधर्मों के समुदायरूप जो भी लक्षित होता है, पहिचाना जाता है; वह सब वास्तविक आत्मा है।

यही कारण है कि यहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।

प्रश्न : अरे भाई ! जिस आत्मा में क्रम और अक्रम से प्रवर्त्तमान अनन्तधर्म हैं; उस आत्मा को ज्ञानमात्र कैसे कहा जा सकता है ? उसमें ज्ञानमात्रता किसप्रकार घटित होती है ?

उत्तर : परस्पर भिन्न अनंत धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्रभावरूप स्वयं होने से यह भगवान आत्मा ज्ञानमात्रभावरूप है। यही कारण है कि उसमें ज्ञानमात्रभाव की अन्त:पातिनी अनंत शक्तियाँ उछलती हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के अनंतधर्मों में परस्पर लक्षणभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है। आत्मा के एक परिणाम में सभी गुणों का परिणमन रहता है। यही कारण है कि आत्मा के एक ज्ञानमात्रभाव में अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, परिणमित होती हैं।''

उक्त टीका का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से ज्ञान से विरुद्ध जो जड़द्रव्य हैं और रागादिभाव हैं, उनका तो निषेध हो जाता है; परन्तु ज्ञान के साथ रहनेवाले जो दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्तगुणों का निषेध नहीं होता। इसप्रकार 'ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा' में ज्ञान के साथ दूसरे अनन्त धर्म होने से ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तपना है।[1]

यह शरीर तो जड़-पुद्गलकर्म है और रागादिभाव भी आत्मा में से विपरीत स्वभाववाले हैं; इसकारण शरीर व रागादि आत्मा के लक्षण नहीं हैं। एक ज्ञान ही आत्मा का असाधारण गुण हैं, उससे ज्ञान ही आत्मा का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -११५

लक्षण है।

आत्मा के अनन्तगुणों में एक ज्ञान ही स्व-परप्रकाशक है, इससे ज्ञानगुण असाधारण है; इससे भगवान आत्मा को ग्रहण कर सकते हैं। इसप्रकार ज्ञानलक्षण आत्मा की परम प्रसिद्धि का साधन है। ज्ञान आत्मा को पहचानने का साधन होने से आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।[१]

जिस दशा में जानपना है, वह जाननेरूप ज्ञानपर्याय प्रसिद्ध है; क्योंकि वह हम सबके स्व-संवेदन से सिद्ध है। ज्ञान सर्व को जानता है, पर को भी जानता है। यहाँ पर को जानने की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि – अन्तरंग में अनन्त धर्मों का धारक ध्रुवधाम निज ध्येयरूप प्रभु आत्मा को ही जानो, उसे ही ग्रहण करना है, वही एक मात्र प्रसाध्यमान है।[२]

लक्षणभूत ज्ञान की पर्याय द्वारा जब प्रसाध्यमान आत्मा प्रसिद्ध हुआ, अनुभव में आया; तब ये क्रम से प्रवर्त्तमान पर्यायों और अक्रम से रहनेवाले गुणों सहित सम्पूर्ण आत्मा ज्ञान में प्रमेय होता है और यही प्रमाणज्ञान है।[३]

मैं ज्ञानलक्षण से लक्षित अनंत गुणों का पिण्ड – ऐसा एक ज्ञानमात्र आत्मा हूँ। – ऐसी जहाँ निर्विकल्प दृष्टि होती है, वहाँ जाननक्रिया मात्र – एक ज्ञप्ति क्रिया मात्र भाव प्रगट होता है। इसमें ज्ञान के साथ अन्य अनंत गुणों का निर्मल परिणमन उत्पन्न होता है। अनंत गुण और उसकी अनंत पर्यायें जो ज्ञान में ज्ञेय होने पर भी एक ज्ञप्ति मात्र भाव में अभेदरूप से समा जाते हैं और स्वयं आत्मा होने से आत्मा को ज्ञानमात्रपना है।[४]

आत्मा के अनंत गुणों में लक्षणभेद भले हो, परन्तु क्षेत्रभेद नहीं है तथा परिणमन का कालभेद भी नहीं है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में एक ही

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - ११५-११६
२. वही, पृष्ठ -११६
३. वही, पृष्ठ - १२०
४. वही, पृष्ठ - १२२

साथ अनंत गुण व्याप्त हो रहे हैं। इसलिए आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन साथ ही रहता है।[१]

यहाँ तो अभेद द्रव्य के परिणमित होने पर सभी गुणों का निर्मल परिणमन होता है। ऐसे अभेद की मुख्यता से बात कही जा रही है। देखो, यहाँ 'परिणमन' शब्द से ही निर्मल परिणमन की बात कही गई है। यहाँ शक्तियों के परिणमन की चर्चा में विकारी परिणमन को तो गिना ही नहीं है; क्योंकि विकार आत्मा नहीं है। यहाँ तो द्रव्य, गुण एवं उनकी निर्मल परिणति – इन तीनों को अभेद करके इसे ही आत्मा माना है। ज्ञान लक्षण के बल से विकार को तो आत्मा से भिन्न ही कर दिया है।

क्षायिक समकित होते ही साधक के सभी गुण एकसाथ पूर्णत: खिल जाते हैं; – ऐसा नहीं है इसका तात्पर्य यह है कि उनमें कथंचित् गुण भेद है; परन्तु यहाँ यह बात मुख्य नहीं है; गौण है। यहाँ तो वस्तुरूप से सभी गुण अभेद हैं। इसकारण द्रव्य के अभेद परिणमन के साथ सभी गुणों के अंश एकसाथ प्रगट हो जाते हैं। एक गुण निर्मल परिणमें और दूसरा गुण सर्वथा मलिन रहे, अंशरूप से भी निर्मल न हो – ऐसा नहीं होता।[२]

देखो, इसप्रकार यहाँ 'ज्ञानमात्र' कहकर परद्रव्य और विकार से भेद कराया, ज्ञानलक्षण से लक्ष्यरूप आत्मा की प्रसिद्धि कराई; इस 'ज्ञानमात्र' भाव में अनंत शक्तियाँ एकसाथ उछलती हैं – यह ज्ञान कराया।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि इस भगवान आत्मा में अनंत गुण हैं, अनन्त धर्म हैं, अनन्त शक्तियाँ हैं, अनन्त स्वभाव हैं। यद्यपि यह भगवान आत्मा इन सबका अखण्ड पिण्ड है; तथापि उसे यहाँ ज्ञानमात्र कहा जा रहा है; क्योंकि स्वपरप्रकाशक ज्ञान आत्मा का लक्षण है। ज्ञानलक्षण से जो

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - १२३

२. वही, पृष्ठ - १२३

३. वही, पृष्ठ -१२४

लक्ष्यभूत आत्मा लक्षित किया जाता है, पहिचाना जाता है, जाना जाता है; वह आत्मा ज्ञानमात्र कहे जाने पर भी अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनन्त धर्मयुगलों का अखण्ड पिण्ड है, अनन्त स्वभावों का स्वभाववान है और उछलती हुई अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है।

यहाँ आत्मा को जानने का काम भी ज्ञान करता है और वह आत्मा ज्ञानलक्षण से ही जाना-पहिचाना जाता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा ज्ञानपर्याय में जानने में आता है। लक्षण भी ज्ञान और उस लक्षण से आत्मा की पहिचान भी ज्ञान ही करता है।

अरे भाई ! परिणमित ज्ञान आत्मा का लक्षण है और ज्ञान परिणमन ही आत्मा को जानता है।

प्रश्न : जब आत्मा में अनन्त गुण हैं तो उसे ज्ञानमात्र क्यों कहा ? क्या ज्ञानमात्र के समान आत्मा को सुखमात्र भी कहा जा सकता है ?

उत्तर : नहीं; क्योंकि ज्ञान आत्मा का लक्षण है और लक्षण से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। आत्मा को ज्ञानमात्र कहने का एकमात्र यही कारण है।

'ज्ञानमात्र' पद के प्रयोग के सन्दर्भ में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं –

१. पहली बात तो यह कि 'ज्ञानमात्र' पद से ज्ञान के साथ अविनाभावी रूप से रहनेवाले गुणों का निषेध इष्ट नहीं है; अपितु पर और विकारी भावों का निषेध ही इष्ट है।

२. दूसरी बात यह है कि अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड होने के आधार पर आत्मा को सुखमात्र, वीर्यमात्र आदि न कहकर ज्ञानमात्र इसलिए कहा गया है कि ज्ञान आत्मा का अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव – इन तीनों दोषों से रहित निर्दोष लक्षण है; आत्मा की पहिचान का चिह्न है। ●

सैंतालीश शक्तियाँ

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि यह भगवान आत्मा अनंत शक्तियों का संग्रहालय है; इसमें अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं; तो वे अनन्त शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं ?

अरे भाई ! क्या अनन्त को भी गिनाया जा सकता है ?

न सही अनन्त, पर कुछ तो बताइये न !

इसी प्रश्न के उत्तर में आगे ४७ शक्तियों की चर्चा की गई है; जो इसप्रकार है–

१. जीवत्वशक्ति २. चितिशक्ति ३. दृशिशक्ति ४. ज्ञानशक्ति ५. सुखशक्ति ६. वीर्यशक्ति ७. प्रभुत्वशक्ति ८. विभुत्वशक्ति ९. सर्वदर्शित्व-शक्ति १०. सर्वज्ञत्वशक्ति ११. स्वच्छत्वशक्ति १२. प्रकाशशक्ति १३. असंकुचित-विकासत्वशक्ति १४. अकार्यकारणत्वशक्ति १५. परिणम्य-परिणामकत्व-शक्ति १६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति १७. अगुरुलघुत्वशक्ति १८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति १९. परिणामशक्ति २०. अमूर्तत्वशक्ति २१. अकर्तृत्वशक्ति २२. अभोक्तृत्वशक्ति २३. निष्क्रियत्वशक्ति २४. नियत-प्रदेशत्वशक्ति २५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति २६. साधारण-असाधारण साधारणासाधारण-धर्मत्वशक्ति २७. अनन्तधर्मत्वशक्ति २८. विरुद्धधर्मत्व-शक्ति २९. तत्त्वशक्ति ३०. अतत्त्वशक्ति ३१. एकत्वशक्ति ३२. अनेकत्व-शक्ति ३३. भावशक्ति ३४. अभावशक्ति ३५. भाव-अभावशक्ति ३६ अभाव-भावशक्ति ३७. भाव-भावशक्ति ३८. अभाव-अभावशक्ति ३९. भावशक्ति ४०. क्रियाशक्ति ४१. कर्मशक्ति ४२. कर्तृत्वशक्ति ४३. करण-शक्ति ४४. सम्प्रदानशक्ति ४५. अपादानशक्ति ४६. अधिकरणशक्ति ४७. संबंधशक्ति।

यद्यपि प्रत्येक शक्ति का स्वतंत्ररूप से अनुशीलन अपेक्षित है; तथापि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो सभी शक्तियों पर समानरूप से घटित होते हैं; इसकारण उनका स्पष्टीकरण आरंभ में ही अपेक्षित है। उक्त तथ्यों के जान लेने से सभी शक्तियों के समझने में सुविधा रहेगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भावों में कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय निमित्त होता है; किन्तु पारिणामिकभाव में कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं है। जीव की इन शक्तियों में भी कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं है; इसकारण ये सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप ही हैं।

दूसरी बात यह है कि इन शक्तियों के प्रकरण में जिस भगवान आत्मा की बात चल रही है; उस भगवान आत्मा में आत्मद्रव्य के साथ-साथ उसमें विद्यमान अनंत गुण और उनका निर्मल परिणमन शामिल है। ध्यान रहे निर्मल पर्यायें तो शामिल हैं, पर विकारी परिणमन शामिल नहीं है।

यद्यपि सभी शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप ही हैं; तथापि यहाँ उछलती हुई शक्तियों की बात कही गई है; इसकारण यहाँ निर्मलपर्याय को भी शामिल करके बात हो रही है। उछलने का आशय मात्र परिणमन नहीं; अपितु निर्मल परिणमन है। शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं और उनका उछलना अर्थात् निर्मल परिणमन औपशमिक और क्षायिकभावरूप है तथा सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशमभावरूप भी है।

ध्यान रहे औपशमिक और क्षायिकभाव तो सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं; किन्तु क्षयोपशमभाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ औपशमिक, क्षायिक और सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भावों को निर्मल परिणमन कहा गया है।

उक्त भावों रूप परिणमित होना ही शक्तियों का उछलना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि शक्तियाँ मूलत: तो पारिणामिकभाव रूप ही हैं, पर उनका परिणमन ज्ञानियों के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभावरूप है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब निर्मल परिणमन को उछलती हुई

शक्तियों में शामिल कर लिया तो फिर विकारी परिणमन को भी शामिल कर लेना चाहिए; क्योंकि वह विकारी परिणमन भी तो आखिर उसी का है और ज्ञानियों के भी होता ही है।

यद्यपि विकारी परिणमन भी उसी का है और वह ज्ञानियों के भी होता है; तथापि वह शक्तिरूप नहीं, कमजोरीरूप है। क्या कमजोरी को भी शक्तियों में शामिल किया जा सकता है ?

यद्यपि अज्ञानियों को भूल से और ज्ञानियों को कमजोरी के कारण रागादि पाये जाते हैं; तथापि उन्हें उछलना तो नहीं कहा जा सकता, उल्लसित होना तो नहीं कहा जा सकता।

यही कारण है कि विकारी परिणमन को उछलती हुई शक्तियों में शामिल नहीं किया गया है।

तीसरी बात यह है कि इन शक्तियों में परस्पर प्रदेशभेद नहीं होने पर भी भावभेद है, लक्षणभेद है। यद्यपि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं है; तथापि एक शक्ति में दूसरी शक्ति का रूप अवश्य है;जिसके कारण वे सभी शक्तियाँ परस्परानुबिद्ध हैं।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं होती, मगर एक शक्ति का रूप अन्य अनंत शक्तियों में है। जैसे कि आत्मा में अस्ति – सत्ता एक गुण है, इस अस्तिगुण का रूप अनंत शक्तियों में है। ज्ञान है, दर्शन है, वीर्य है, ऐसे ही अनंत गुणों में 'है' पना यह अस्तित्वगुण का रूप है। इसीप्रकार अनंत शक्तियों का परस्पर एक दूसरे में रूप है।[१]"

प्रश्न : 'एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं है; फिर भी एक शक्ति का रूप दूसरी शक्तियों में है' – इसका भाव ख्याल में नहीं आया। इसे जरा विस्तार से स्पष्ट कीजिए।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १२७-१२८

उत्तर : विस्तार से स्पष्टीकरण तो इन शक्तियों के विशेष अनुशीलन में यथास्थान होगा; किन्तु संक्षेप में आशय यह है कि यदि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप हो तो फिर दोनों एक ही हो जायेगी, उनमें परस्पर प्रदेशभेद तो है ही नहीं, भावभेद भी नहीं रहेगा।

इसीप्रकार यदि एक शक्ति का रूप दूसरी शक्तियों में, उनकी निर्मल पर्यायों में तथा उनके आधारभूत द्रव्य में भी न माने तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं बनेगा।

जीवत्वशक्ति का रूप यदि अन्य शक्तियों में न हो; उनकी निर्मल पर्यायों में न हो, तथा उनके आधारभूत द्रव्य में भी न हो तो फिर शेष शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें व आत्मद्रव्य अजीव हो जायेंगे। इसीप्रकार उनमें चितिशक्ति का रूप नहीं मानने पर आत्मद्रव्य की शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें व उनका आधारभूत द्रव्य सभी जड़ हो जावेंगे; दृशि और ज्ञानशक्ति के रूप से इन्कार करने पर सभी ज्ञान-दर्शन से रहित अचेतन हो जायेंगे। यहाँ तक कि प्रमेयत्वशक्ति के रूप को अस्वीकार करने पर सभी अप्रमेय हो जाने से जानने में ही नहीं आवेंगे।

इसीप्रकार सभी शक्तियों के सन्दर्भ में घटित किया जा सकता है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में परस्पर प्रत्येक शक्ति का रूप अन्य शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद-अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा जीव है, चेतन है, ज्ञान-दर्शनमय है, प्रमेय है, त्यागोपादान-शून्य है। इसप्रकार प्रत्येक शक्ति, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद-अखण्ड आत्मा अनंतशक्तिसम्पन्न है, अनंत शक्तियों का संग्रहालय है और अनंत गुणों का गोदाम है।

प्रश्न : आपने स्पष्ट तो किया, फिर भी पूरी तरह बैठा नहीं ?

उत्तर : आगे सभी शक्तियों के पृथक्-पृथक् अनुशीलन में यथास्थान जब इसका स्वरूप विशेष स्पष्ट होगा और आपका चिन्तन इस दिशा में चलेगा तथा परिपक्व होगा; तब बैठेगा, अवश्य बैठेगा। यदि आपका यत्न

चालू रहा तो एक न एक दिन अवश्य बैठेगा। अभी यहाँ अधिक विकल्प करने से कोई लाभ नहीं।

अब प्रत्येक शक्ति का विस्तृत अनुशीलन प्रसंगप्राप्त है; जो इसप्रकार है –

१. जीवत्वशक्ति

जीवत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसप्रकार स्पष्ट किया है–

''आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणाजीवत्वशक्तिः – आत्मद्रव्य के हेतुभूत चैतन्यभाव को धारण करना है लक्षण जिसका, वह जीवत्वशक्ति है।''

इस जीवत्वशक्ति के बीज सयमसार की दूसरी गाथा में विद्यमान हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि जीव का लक्षण चेतना है। चेतना ही जीव के भावप्राण हैं और उसके कारण ही इस जीव नामक पदार्थ का जीवन है। पंचास्तिकाय में निश्चय से जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो जीता था, जीता है और जीवेगा; वही जीव है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव अपने जीवन के लिए परपदार्थों पर निर्भर नहीं है। इसमें चैतन्यभाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है, जीवनशक्ति है; इसके कारण ही यह सदा जीवित रहा है अर्थात् अबतक जीवित रहा है, अभी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगा।

द्रव्यसंग्रह की तीसरी गाथा में भी कहा है कि –

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥

तीनों कालों में जीव के इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास – ये चार प्राण होते हैं और जो इन प्राणों को धारण करता है; वह असद्भूतव्यवहार नय से जीव है; किन्तु निश्चयनय से जीव वही है, जो त्रिकाल चेतनारूप

भावप्राणों को धारण करता है।

इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास वाला जीव का व्यवहारलक्षण मात्र संसारी जीवों पर ही घटित होता है; अत: वह लक्षण अव्याप्तदोष से दूषित है; क्योंकि जीव तो सिद्धपरमात्मा भी हैं तथा यह लक्षण उनमें व्याप्त नहीं है। अत: संसारी और सिद्धों – सभी जीवों में घटित होनेवाला चेतनालक्षण ही जीव का वास्तविक लक्षण है। उक्त चेतना लक्षणवाली ही जीवत्वशक्ति है। अत: जीव के जीवत्व को कायम रखनेवाली और उसके स्वरूप को प्रदर्शित करनेवाली यह जीवत्वशक्ति ही है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में भी जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शनोपयोगरूप चेतना को ही बताया गया है।[1]

द्रव्यसंग्रह में भी उपयोग को जीव का लक्षण बतानेवाली गाथा उपलब्ध है; जो इसप्रकार है –

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं॥

आठप्रकार का ज्ञान और चारप्रकार का दर्शन सामान्यरूप से जीव का लक्षण कहा गया है। यह कथन भेदरूप होने से सद्भूतव्यवहारनय का है। शुद्धनिश्चयनय से तो शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञान ही जीव का लक्षण है।

जीव को इन्द्रियादि चारप्राणवाला कहना संयोगी कथन होने से असद्भूतव्यवहारनय का कथन है और आठप्रकार के ज्ञान और चारप्रकार के दर्शन को जीव का लक्षण कहना भेदरूप कथन होने से सद्भूतव्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय से तो दर्शन-ज्ञानरूप चेतना ही जीव का लक्षण है और यही वास्तविक निर्दोष लक्षण है।

प्रश्न : हमने तो बचपन में ऐसा पड़ा था कि जो चलते-फिरते हैं, खाते-पीते हैं; वे जीव हैं ?

१. उपयोगो लक्षणं – जीव का लक्षण उपयोग है, तत्त्वार्थसूत्र, अ. २ सूत्र १

उत्तर : अरे भाई ! ऐसा मानने पर जो सिद्ध भगवान अजीव हो जायेंगे; क्योंकि वे न तो चलते-फिरते हैं और न खाते-पीते ही हैं।

ईंट-पत्थर और कुत्ता-बिल्ली में अन्तर बताने के लिए अपने आप नहीं चलने-फिरने और खाने-पीने से रहित ईंट-पत्थर अजीव हैं और अपने आप चलने-फिरनेवाले और खाने-पीनेवाले कुत्ता-बिल्ली जीव हैं – ऐसा कह दिया जाता है और वह इसलिए कि हम कुत्ता-बिल्ली आदि से ईंट-पत्थर जैसा निष्ठुर व्यवहार न करें। छोटे-छोटे बालकों को जीव और अजीव में क्या अन्तर है ? यह बात समझाने का अन्य उपाय भी क्या है ?

जीवत्वशक्ति के संदर्भ में ज्ञानदर्पण में समागत पंडित श्री दीपचन्दजी शाह के विचार इसप्रकार हैं –

(सवैया इकतीसा)

आतम दरब जाकौ कारण सदैव महा,
ऐसौ निज चेतन में भाव अविकारी है।
ताही की धरणहारी जीवन सकति ऐसी,
तासौं जीव जीवैं तिहुँकाल गुणधारी है।
द्रव्य गुण परजाय ए तौ जीव दसा सब,
इनही में वस्तु जीव जीवनता सारी है।
सबको आधार सार महिमा अपार जाकी,
जीवन सकति 'दीप' जीव सुखकारी है॥५९॥

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि आत्मद्रव्य के कारणरूप चैतन्यभाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है और यह जीव सदाकाल इसी जीवत्वशक्ति के कारण जीवित रहता है। इस आत्मद्रव्य में जितने भी गुण और पर्यायें हैं; उन सभी के जीवत्व का आधार भी यह जीवत्वशक्ति ही है। तात्पर्य यह है कि उनमें इस जीवत्वशक्ति के रूप होने से ही उनका जीवन है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी जीवत्वशक्ति का स्वरूप

इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"देखो ! कहते हैं कि अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद और अनंत वीर्यरूप भावप्राण धारण करना जिसका लक्षण, स्वरूप है; वह जीवत्वशक्ति है। जिससे जीव अनादि-अनंत जीता है, वह जीवत्वशक्ति है। 'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो' – ऐसा समयसार गाथा २ में कहा है। उसमें से ही आचार्यदेव ने जीवत्वशक्ति निकाली है।[१]

प्रश्न : यहाँ चैतन्यमात्रभाव को आत्मद्रव्य का कारण क्यों कहा ?

उत्तर : क्योंकि चैतन्यभाव द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। अगर चैतन्यमात्रभाव न हो तो जीव ही सिद्ध नहीं होगा। चैतन्यभाव बिना आत्मद्रव्य ही नहीं हो सकता; इसलिए चैतन्यमात्रभाव को आत्मद्रव्य का कारण कहा है।[२]

ज्ञानप्राण, दर्शनप्राण, आनंदप्राण, वीर्यप्राण – ऐसे शक्तिरूप चैतन्य भावप्राण हैं, इन्हें धारण करना जीवत्वशक्ति का स्वरूप है। शरीर को, इन्द्रियों को, आयु को, राग को धारण करना जीवत्वशक्ति का स्वरूप नहीं है।[३]

जीव की जीवत्वशक्ति अनंत शक्तियों में व्याप्त है। उसे शक्ति कहो, गुण कहो, स्वभाव कहो, भाव कहो; वह एक जीवत्वभाव सर्व भावों में व्याप्त है। जीवत्वशक्ति द्रव्य में व्यापक है, गुण में व्यापक है और शक्तिवान त्रिकाली ध्रुवद्रव्य की दृष्टि होते ही पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है।

अरे ! अनादि से अज्ञानी जीव को निजशक्ति का भान न होने से उसकी पर्याय में जीवत्वशक्ति व्याप्त नहीं होती, विकार ही व्याप्त रहता है, उसे शक्ति का फल प्राप्त नहीं होता; परन्तु जहाँ शक्ति की महिमा लाकर शक्तिवान द्रव्य की दृष्टि की, वहाँ पर्याय में निर्मल जीवत्व प्रगट हो जाता है। जब ऐसा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -१२६
२. वही, पृष्ठ - १२६
३. वही, पृष्ठ -१२७

निर्मल ज्ञानानंदमय जीवन प्रगट होता है तो तत्काल यह मान्यता छूट जाती है कि – 'मैं द्रव्यप्राणों से या अशुद्ध भावप्राणों से जीता हूँ।' व्यवहारप्राणों का भी आश्रय छूट जाता है।

ध्यान रहे, ये शरीरादि तेरे आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में भी नही व्यापते। ये पुण्य-पाप आदि विकार भी आत्मा के द्रव्य-गुण में नहीं व्यापते; मात्र एकसमय की पर्याय में व्यापते हैं। सर्व पर्यायों में वे नहीं व्यापते।

दृष्टिवंत के यह जीवत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। जो ऐसा जीवन जीता है; वही उज्ज्वल जीवन है। इसप्रकार क्रमवर्ती पर्यायें और अक्रमवर्ती गुणों का पिण्ड मैं आत्मा हूँ – ऐसा सिद्ध हुआ। यही अनेकान्त है।[१]

देखो, यह शक्तियों का अधिकार है। इन शक्तियों का विशेष वर्णन श्री दीपचंदजी कृत अध्यात्मसंग्रह ग्रन्थ के 'ज्ञानदर्पण' तथा 'चिद्विलास' ग्रन्थ में बहुत सुन्दर तरीके से किया है।

वे एक स्थान पर लिखते हैं कि – सभी आत्मायें साधर्मी हैं। भगवान को संबोधते हुए वे कहते हैं – भगवन ! मैं तुम्हारा साधर्मी हूँ। मेरी पर्याय में जरा-सी भूल है, उसे एक ओर रखकर देखें तो जैसे आप द्रव्यस्वरूप से परिपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप भगवान हैं, वैसे ही मैं भी द्रव्यरूप से परिपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप भगवान हूँ; इसलिए आप मेरे साधर्मी हैं।

अरे ! शुद्ध जीवत्वशक्ति की अपेक्षा से सभी आत्मायें मेरे साधर्मी हैं। वे एक स्थान पर लिखते हैं कि – यह जीवत्वशक्ति महासुखदायी है। अहा! जिसकी पर्याय में यह जीवत्वशक्ति प्रगट हुई, उसके सुख का क्या कहना ? लोक में वही परमसुखी है।[२]

यह चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति एक ज्ञानमात्र वस्तु का आश्रय लेते ही पर्याय में प्रगट होती है। तभी पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -१२६
२. वही, पृष्ठ -१३०

की बाढ़ आती है। इसप्रकार जीवत्वशक्ति में ध्रुव उपादान तथा क्षणिक उपादान दोनों आ जाते हैं। त्रिकाली जीवत्वशक्ति ध्रुव उपादान है तथा पर्याय में जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र का निर्मल परिणमन हुआ, वह क्षणिक उपादान है। द्रव्य की दृष्टि करते ही जीवत्वशक्ति के साथ जो अनंतगुणों की निर्मल प्रभुता प्रगट हुई; उसका नाम ही धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग है। यही क्षणिक उपादान है।[१]

देखो ! द्रव्य में अनंत शक्तियाँ हैं; किन्तु उन शक्तियों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न नहीं है। एक जीवत्वशक्ति अन्य अनंत शक्तियों में व्यापक है। प्रत्येक शक्ति अन्य अनंत शक्तियों में व्यापक है तथा एक-एक शक्ति अन्य अनंत शक्तियों को निमित्त है अर्थात् एक गुण कारण तथा दूसरा गुण कार्य – ऐसा कहने में आता है; यह व्यवहार है। निश्चय से तो गुण स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य है। एक गुण के परिणमन के समय दूसरा गुण अनुकूलरूप से निमित्त के रूप में परिणमन करता है। दोनों गुणों का समकाल तथा समव्याप्ति है। बस; यही कार्य के उपादान और निमित्त कारण की संधि है। कोई किसी का परिणमन कर दे – ऐसा नहीं है।[२]

प्रश्न : फिर प्रवचनसार में राग का कर्त्ता ज्ञानी है – ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर : प्रवचनसार में ४७ नयों का वर्णन ज्ञानप्रधान शैली से किया है। वहाँ आत्मानुभव होते ही जीवत्वशक्ति का निर्मल परिणमन हुआ तथा साथ में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि का परिणमन हुआ, उतनी तो शुद्धता है तथा जितना राग बाकी रहा है, उतनी अशुद्धता है। परिणमन की अपेक्षा जितना रागरूप परिणमन है, उसका कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है – ऐसा वहाँ ज्ञानप्रधान शैली से कहा है। करने लायक है – इस अपेक्षा (दृष्टि की अपेक्षा) ज्ञानी राग का कर्त्ता है – ऐसा नहीं है; परन्तु अपनी पर्याय में राग का परिणमन

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १३०
२. वही, पृष्ठ -१३१

है; उसे ज्ञानी जानते हैं कि यह राग मेरा परिणमन है तथा यह मेरे में हुआ है; पर यह मेरा स्वभाव नहीं, बल्कि अपराध है।

जबकि यहाँ शक्ति के अधिकार में दृष्टि की प्रधानता से बात है। दृष्टिप्रधान शैली में तो जिसे स्वभाव के आश्रय से निर्मलता प्रगट हुई हो, वह आत्मा है। राग को आत्मा की पर्याय गिनी ही नहीं, दृष्टि अशुद्धता को आत्मापने स्वीकारती ही नहीं। दृष्टि का विषय अभेद, एक, निर्विकल्प चैतन्यमात्र आत्मा है तथा दृष्टि भी निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप है। उसमें राग का स्वीकार ही नहीं, इसलिए शक्ति के अधिकार में राग क्षणिक उपादान है – ऐसी भी बात नहीं की है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है; इसलिए ज्ञान स्व को जानता है, जितनी शुद्धता प्रगट हुई और जितनी अशुद्धतारूप राग परिणमन है; उसे भी वह मेरा अपराध है – ऐसा जानता है।[1]

सच्चिदानंद भगवान आत्मा अनंत ज्ञान-आनंद का खजाना है। अनंत शक्तियों का महानिधान है – ऐसा शक्तिवान प्रभु और उसकी जीवत्व आदि अनंत शक्तियाँ पारिणामिक-भावरूप हैं। पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और औदयिकभाव – ऐसे पाँच भाव हैं। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से जो निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं; वे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव रूप हैं और मोह के निमित्त से जो विकारी पर्यायें होती हैं, वे औदयिक भाव हैं। भाई ! व्रत, दया, उपवास, दान आदि के शुभपरिणाम भी विकारी और औदयिक भाव हैं। भले ही वे जीव की पर्यायें हैं; परन्तु उनमें जीवत्व नहीं है, वे तो जीवत्वरहित अचेतन हैं।[2]

सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि भाई ! तू एक जीवित वस्तु है या नहीं ?

यदि है तो उसका कारण शुद्ध चैतन्य भावप्राण को धारण करनेवाली

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -१३१-१३२

२. वही, पृष्ठ -१३३

जीवत्वशक्ति ही है, उससे ही तू टिक रहा है; शरीर, इन्द्रियाँ, श्वांस, आहार-पानी तथा पैसा आदि से नहीं। ये संयोगी चीजें भले हों, परन्तु उनसे तेरा जीवन टिकता नहीं; क्योंकि वे भिन्न वस्तुयें हैं।

यह जीवनशक्ति तो जीव के जीवन की जड़ी-बूटी है। भाई ! जिसने इसे हस्तगत कर लिया, मानो वह अमर हो गया, उसे मरण का भय नहीं रहता।[१]''

प्रश्न : मैं जीवत्वशक्ति से ही जीवित रहता हूँ और जीवत्वशक्ति त्रिकाल होने से मुझमें सदा रहती ही है।

यदि यह सत्य है तो फिर तो मैं कभी भी मरूँगा ही नहीं ?

उत्तर : जगत में देह के वियोग को मरण कहा जाता है, यह शक्ति उस मरण से सुरक्षा प्रदान करनेवाली नहीं है; वह मरण तो स्वकाल में होगा ही; क्योंकि देह का संयोग त्रिकाली नहीं है।

इस शक्ति का ज्ञान तो अपने आत्मा के सर्वनाशरूप मरणभय को दूर करनेवाला है। देह में एकत्वबुद्धिवाले अज्ञानी जीव देह के विनाश में अपना नाश मानकर आकुलित होते हैं। इस शक्ति की सच्ची समझ से उक्त आकुलता समाप्त होती है। यह जीवत्वशक्ति चैतन्यरूप भाव प्राणों की सुरक्षा की गारण्टी देती है, देह के संयोग की सुरक्षा की नहीं।

प्रश्न : यदि मैं अनंतशक्तिसम्पन्न हूँ तो फिर तो मैं किसी का कुछ भी कर सकता हूँ ?

उत्तर : अरे भाई ! दूसरों में कुछ करने का नाम शक्ति नहीं है; अपितु तेरा कोई कुछ न कर सके – शक्ति का वास्तविक रूप तो यह है। तेरा अस्तित्व तेरे कारण है, तेरा जीवन तेरे कारण है, तेरा सुख तेरे में है। शक्ति का मूल कार्य तो यह है। पर में कुछ करे – ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जीव अपनी जीवत्वशक्ति के

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ -१३४-१३५

कारण जीता है, जीवित रहता है। जीवत्वशक्ति त्रिकाल होने से इसका जीवन भी त्रिकाल है, उसमें मरण को कोई अवकाश ही नहीं है। जिन देहादि प्राणों के वियोग को मरण कहा जाता है, वे तो आत्मा से पृथक् ही हैं। देहादि द्रव्यप्राणों से आत्मा जीवित रहता है – यह कथन तो असद्भूत-व्यवहारनय का विषय होने से असद्भूत ही है, अभूतार्थ ही है, असत्यार्थ ही है।

उक्त जीवत्वशक्ति का स्वरूप ख्याल में आते ही मरणभय का मरण हो जाता है, अभाव हो जाता है।

ध्यान रहे इस जीवत्वशक्ति के कारण ही आत्मवस्तु का नाम जीव पड़ा है। यह जीव न तो आहार-पानी से जीता है और न आयुकर्म के उदय से ही जीता है; इसके जीवन का आधार तो जीवत्वशक्ति है।

सांसारिक अवस्था में देह के संयोगरूप जीवन में भी आहार-पानी बहिरंग निमित्त और आयुकर्म का उदय अन्तरंग निमित्त है; उपादान तो जीव की पर्यायगत योग्यता ही है।

इस जीव को मरणभय ही सर्वाधिक परेशान करता है; इसलिए आचार्यदेव ने सबसे पहले जीवत्वशक्ति की चर्चा करके इसके मरणभय को दूर करने का सफल प्रयास किया है।

इसप्रकार जीवत्वशक्ति का अनुशीलन कर अब चितिशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२. चितिशक्ति

चितिशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अजड़त्वात्मिका चितिशक्तिः – अजड़त्व अर्थात् जड़रूप नहीं होना, चेतनरूप होना है लक्षण जिसका, उसे चितिशक्ति कहते हैं।''

जीवत्वशक्ति से सम्पन्न आत्मा में चिति नामक एक ऐसी भी शक्ति है,

जिसके कारण यह आत्मा जड़रूप नहीं है या जड़रूप नहीं होता। यही कारण है कि इस चितिशक्ति को अजड़त्वात्मिका कहा है, अजड़रूप कहा है।

यह भगवान आत्मा जीवत्वशक्ति के कारण जीव है और चितिशक्ति के कारण अजीव नहीं है, जड़ नहीं है। चितिशक्ति यह बताती है कि तू देहरूप नहीं है और जीवत्वशक्ति यह बताती है कि देह के संयोग से तेरा जीवन नहीं है, तेरा जीवन तो चैतन्यरूप भावप्राणों से है।

यह चितिशक्ति अर्थात् चैतन्यरूप रहना आत्मा का लक्षण है और जीवत्वशक्ति इस लक्षण से लक्षित किया जानेवाला, पहिचाना जानेवाला लक्ष्य है।

जड़ अर्थात् चेतनता से रहित पदार्थ और अजड़ अर्थात् चेतन पदार्थ। यह भगवान आत्मा चेतन पदार्थ है और आत्मा से भिन्न पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये सभी पदार्थ जड़ हैं, अचेतन हैं।

इन अचेतन जड़ पदार्थों से आत्मा को भिन्न रखनेवाली, भिन्न बताने वाली यह चितिशक्ति ही है। यह भगवान आत्मा अपनी चितिशक्ति के कारण ही चेतन है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का प्रतिपादन इसप्रकार है –

''पहले जीवत्वशक्ति द्वारा जीव का त्रिकाल जीवित रहना सिद्ध किया था और अब चितिशक्ति द्वारा जीव का यह जीवन त्रिकाल अजड़त्वस्वरूप अर्थात् चैतन्यमय है – ऐसा कहते हैं। चितिशक्ति जीवत्वशक्ति का लक्षण है।

प्रश्न : यह तो पहले जीवत्वशक्ति में ही बताया जा चुका है तो भी यहाँ पुनः पृथक् से चितिशक्ति क्यों कही गई है ?

उत्तर : चितिशक्ति यह बताने के लिए कही गई है कि जीववस्तु त्रिकाल अजड़त्वस्वरूप चैतन्यमय है।[1]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ११, पृष्ठ - १३६

पहले जीवत्वशक्ति में तो 'जीव का त्रिकाल जीनेरूप/टिकनेरूप परिणमन है' – यह बताया था तथा यहाँ यह बताया है कि उसका त्रिकाल जीनेरूप/टिकनेरूप जीवन चैतन्यमय है।[१]

इसमें थोड़े शब्दों में बहुत ही गंभीर बात कह दी है। कहते हैं कि इस चितिशक्ति में जड़पना नहीं है और ये शरीर-मन-वाणी, इन्द्रियाँ तथा कर्म आदि तो सभी जड़ हैं; इसलिए ये शरीरादि पदार्थ आत्मवस्तु नहीं हैं, आत्मा से भिन्न वस्तु हैं/बाह्यवस्तु हैं।[२]

चिति नाम चेतना; इस चेतना में दर्शन-ज्ञान दोनों को समझना चाहिए।[३]

यह शक्ति त्रिकाली द्रव्य-गुण में तो व्यापक है ही तथा त्रिकाली ध्रुव की दृष्टि होते ही पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है। इसप्रकार चितिशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त रहती है। द्रव्य शुद्ध चैतन्यमय है, गुण शुद्ध चैतन्यमय हैं और क्रम से प्रगट होनेवाली पर्यायें भी शुद्ध चैतन्यमय हैं। तात्पर्य यह है कि चितिशक्ति निर्मल चैतन्यमय परिणमती है।

प्रश्न : उसमें जड़पना नहीं है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर : इसका अर्थ है कि उसमें देह, कर्म आदि जड़भावों का अभाव है और इन जड़भावों के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप आदि भावों का भी उसमें अभाव है।[४]

ये पुण्य-पाप आदि जो रागभाव हैं – इनमें चैतन्य का अभाव है। दया-दान, व्रत आदि के जो भाव हैं, वे सभी चैतन्य से रहित जड़ हैं। अभी लोगों को यह बात कठोर लगती है; क्योंकि उन्हें तो अभीतक यही उपदेश सुनने को मिला है कि – दया करो, दान करो, व्रत करो, भक्ति करो, पाँच-पच्चीस

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१३६
२. वही, पृष्ठ -१३६-१३७
३. वही, पृष्ठ - १३७
४. वही, पृष्ठ - १३७-१३८

हजार रुपये इन कार्यों में खर्च करो तो धर्म हो जायेगा; परन्तु भाई ! करोड़ों रुपया भी दान में खर्च कर देवें और राग मंद न हो तो धर्म तो दूर, पुण्यबंध भी नहीं होता और यदि राग मंद हुआ तो मात्र पुण्यबंध होगा, धर्म नहीं।[१]

अरे, फिर हमें तीर्थसुरक्षा आदि में दान देने से क्या फायदा ? फिर हम दान क्यों दें ?

अरे बापू ! दान देनेवाला तू होता कौन है ? रुपया तो अपने आने के समय में आता है और जाने के समय चला जाता है। अरे ! इसका कर्त्ता-हर्त्ता तू नही है। धर्मात्मा को तो अस्थिरतावश दान देने का विकल्प आता है, धर्मी को ऐसा विकल्प आये बिना रहता नहीं है; परन्तु यह विकल्प मेरा कर्तव्य है – वह ऐसा नहीं मानता, वह दान देने के विकल्प का स्वामी नहीं है।

भाई ! जिसे विषय-कषाय के कार्यों में तो उत्साह आता है और दानादि में उत्साह नहीं आता – वह तो महापापी है। आचार्य यहाँ कहते हैं कि – यदि तुझे मात्र दानादि में उत्साह है और आत्मा के अनुभव में उत्साह नहीं है; तब भी तू मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।[२]

चितिशक्ति का कार्य शुद्धज्ञानचेतनारूप परिणमना है, विकाररूप-कर्मचेतनारूप परिणमना नहीं। 'ये गुण हैं तथा यह गुणी है' – इसप्रकार की भेदबुद्धि को छोड़कर अभेद, एक चिन्मात्र आत्मा की दृष्टि करने से जो ज्ञानचेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शनरूप परिणाम प्रगट होता है, वही चितिशक्ति का कार्य है। इस परिणाम का कारण कोई परद्रव्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि 'भगवान की वाणी सुनी' इसलिए सम्यग्ज्ञानपर्याय प्रगट हुई – ऐसा नहीं है।[३] ज्ञान की पर्याय स्वयं से प्रगट होती है, वाणी से नहीं। वाणी का सुनना निमित्त अवश्य है; परन्तु निमित्त के कारण ज्ञान प्रगट

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - १३८
२. वही, पृष्ठ - १३८
३. वही, पृष्ठ - १३९

नहीं हुआ।[१]''

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि यह जीव जीवत्वशक्ति से जीवित रहता है और चितिशक्ति से चेतनरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता।

अब आगे दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

३-४ दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति

दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''**अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः, साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः** – अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति है और साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।''

जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है; ऐसे दर्शनोपयोगमयी सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप दर्शनक्रियारूप दृशिशक्ति है और जो ज्ञेयपदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है; वह ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

ध्यान रहे, यहाँ शक्तियों का प्रकरण होने से सामान्य अवलोकनरूप दर्शन गुण को दृशिशक्ति और विशेष जाननेरूप ज्ञानगुण को ज्ञानशक्ति कहा गया है।

प्रश्न : यह तो सर्वविदित ही है कि प्रदेशत्वगुण का कार्य ही यह है कि द्रव्य किसी न किसी आकार में अवश्य रहे। व्यंजनपर्याय का मूल आधार यही है। प्रदेशत्वगुण का रूप सभी शक्तियों में होने से दृशिशक्ति में भी होगा ही। ऐसी स्थिति में दृशिशक्ति अनाकार(आकार से रहित) कैसे हो सकती है?

एक बात और भी है कि यह आत्मा जिस शरीर में जाता है; उसी के आकाररूप परिणमित हो जाता है। आत्मा के साथ अनन्तशक्तियाँ भी उसी

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - १३९-१४०

के आकाररूप में परिणमित हो जाती हैं। इसकारण दृशिशक्ति भी उक्त आकाररूप होती होगी। ऐसी स्थिति में भी उसे अनाकार कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर : अरे भाई ! यहाँ आकार और अनाकार शब्दों का अर्थ वह नहीं, जो तुम समझ रहे हो।

'प्रदेशत्वगुण के विकाररूप व्यंजनपर्यायरूप आकार सहित होना साकार और उससे रहित होना निराकार'– यहाँ साकार-निराकार का ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भेदरहित – विकल्परहित सामान्य-अवलोकन को निराकार उपयोग कहते हैं और भेदसहित विशेष जानने को साकार उपयोग कहते हैं।

इसप्रकार के निराकार-उपयोगमयी दृशिशक्ति है और इसीप्रकार के साकार-उपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

यह उन्हीं दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग की बात है; जो क्रमशः चार और आठप्रकार के होते हैं और जिन्हें द्रव्यसंग्रह के अनुसार जीव का लक्षण बताया गया है।

इन दोनों शक्तियों के स्वरूप का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं।

''यह दृशिशक्ति स्व-पर, चेतन-अचेतन, गुण-पर्याय आदि सभी का भेद किए बिना वस्तु की सामान्य सत्तामात्र को देखती है। ऐसा भेद नहीं करती कि यह स्वद्रव्य है, यह परद्रव्य है, यह चेतन है, यह अचेतन है आदि। तात्पर्य यह है कि दृशिशक्ति सामान्य सत्तामात्र वस्तु को देखती है।

प्रश्न : तब क्या दर्शनोपयोगरूप दृशिशक्ति चेतन-अचेतन सभी को एकमेक करके देखती है?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। वह तो सत्तामात्र ही देखती है। 'यह है' बस! इतना मात्र देखती है। यह स्व है, यह पर है – ऐसा भेद करना उसका काम नहीं है। यह काम तो ज्ञानोपयोग करता है।

देखो, मूल में लिखा है कि 'अनाकार-उपयोगमयी दृशिशक्ति।' अनाकार अर्थात् आकार नहीं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि दृशिशक्ति का कोई आकार ही नहीं है तो क्या वास्तव में उसका कोई क्षेत्र नहीं है ?

नहीं, ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा का जो असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र है, वही क्षेत्र दृशिशक्ति का है। अरे ! अनंतगुणों का क्षेत्र तो एक ही है। यदि क्षेत्र न हो तो शक्ति ही न रहे और जब शक्ति का अस्तित्व ही सिद्ध नही होगा, तब फिर वस्तु ही नहीं होगी। यहाँ दर्शन को अनाकार कहने का तात्पर्य तो मात्र इतना ही है कि उसका विषय सामान्य सत्तामात्र ही है। अहो ! इसकी सामर्थ्य तो देखो ! पूरे लोकालोक को एकसाथ युगपत् देखे – ऐसी अपरिमित सामर्थ्यसम्पन्न दृशिशक्ति का क्षेत्र भी असंख्यात प्रदेशी है।[१]

'यह आत्मा, यह ज्ञान, यह दर्शन, यह पर्याय, यह हेय, यह उपोदय' – ऐसा किसी भी प्रकार का भेद किए बिना जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह सब दृशिशक्ति का कार्य है। तात्पर्य यह है कि दृशिशक्ति द्वारा यह आत्मा सामान्यप्रतिभासमात्र अवलोकन करता है।[२]

जिसमें ज्ञेयरूप आकार नहीं है, विशेष नहीं है; मात्र सामान्य पदार्थ का प्रतिभास है – ऐसी सामान्य अवलोकन मात्र दृशिशक्ति है। भेदपूर्वक विशेषपने जानना तो ज्ञान का कार्य है। 'यह आत्मा है' – ऐसा निर्णय होना तो ज्ञान है, इस ज्ञान के होने के पहले छद्मस्थ को दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग क्रमशः वर्तता है और केवली भगवान के दोनों एक साथ वर्तते हैं।[३]

दर्शन अर्थात् श्रद्धा नहीं। यहाँ आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन जिसका कार्य है, उस दर्शन/श्रद्धा की बात नहीं है। यह तो निर्मल सत्तावलोकनरूप दर्शनोपयोगवाली दर्शनशक्ति की बात है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१४५-१४६

२. वही, पृष्ठ -१४७

३. वही, पृष्ठ -१४७

'जब दृशिशक्ति द्वारा अन्दर में द्रव्यस्वभाव को देखा जाता है, तब तो वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो जाती है और पर को देखते समय दर्शनोपयोग साकार हो जाता है।' – ऐसा नहीं है। दर्शनोपयोग स्व-पर का भेद किए बिना सामान्यरूप से सभी को देखता है। दर्शनोपयोग सूक्ष्म एवं अनाकार है न ! इसलिए वह छद्मस्थ के ज्ञान में प्रत्यक्ष पकड़ में नहीं आ सकता; परन्तु आगम, अनुमान और अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा प्रतीति में आता है।[१]

जिससमय दृशिशक्ति है, उसीसमय आत्मा में साकार-उपयोगमयी ज्ञानशक्ति भी है। यहाँ साकार से तात्पर्य यह है कि ज्ञेय पदार्थों अर्थात् स्व और पर, जीव और अजीव – सर्व पदार्थों को विशेषरूप से भिन्न-भिन्न करके जानना। ज्ञान भेद-अभेद, द्रव्य-गुण-पर्याय सर्व को जानता है।

अहा! ज्ञान की कोई अलौकिक सामर्थ्य है, ज्ञान का ऐसा विशिष्ट स्वभाव है कि सर्व पदार्थों को एवं उनके सर्व भावों को विशेषरूप से जानता है।

अहो ! एकसमय की पर्याय में दृशिशक्ति का उपयोग कुछ भी भेद किए बिना सबको देखे और उसीसमय ज्ञानशक्ति का परिणमन एक-एक द्रव्य को, एक-एक गुण को और एक-एक पर्याय को भिन्न-भिन्न जाने; एक-एक पर्याय में अनन्त-अविभाग प्रतिच्छेदों को भी भिन्न-भिन्न जाने – ऐसी ज्ञान-दर्शनोपयोगशक्ति की कोई अद्भुत लीला है।[२]

ज्ञानशक्ति की एक समय की पर्याय में स्व-पर सहित सर्व जीव-अजीव पदार्थ, अनंत सिद्ध तथा केवली ज्ञेयरूप से जाने जाते हैं– ज्ञानशक्ति की ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्य है।[३]

ज्ञान में स्व-पर सहित चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को विशेषरूप– आकारों सहित जानने की विशेष असाधारण सामर्थ्य है, इसलिए वह साकार

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१५१-१५२
२. वही, पृष्ठ - १५४
३. वही, पृष्ठ -१५४

है। पुद्गल के समान मूर्तिक नहीं होने से ज्ञान निरंजन/निराकार/अनाकार है। अरूपी आकार/क्षेत्र सहित होने से साकार है – यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि समस्त पदार्थों को, स्वपर को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित विशेषरूप से भिन्न-भिन्न जानने की असाधारण सामर्थ्यवाला होने से ज्ञान साकार है।

किंचित् भी भेद किए बिना देखना अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्ति है और भेद-अभेद सबको जान लेना साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्ति है।

स्वाभिमुख ज्ञानोपयोग स्वयं के त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को, गुणों को, अनंत पर्यायों को और अन्तरंग में प्रगट होनेवाली आनंद की लहरों/पर्यायों को जानता है। भले ही श्रुतज्ञान हो, मगर श्रुतज्ञानपर्याय की इतनी सामर्थ्य है कि वह अनंत द्रव्य-गुण-पर्यायों को – सभी को जानती है। जानना ही जिसका अक्षय-अपरिमित स्वभाव है, वह किसे न जाने ? ज्ञान स्वयं में रहकर सबको जान लेता है, जीव में यह शक्ति त्रिकाल विद्यमान है – ऐसी शक्तिवाले आत्मा की महिमा लाकर अंतर में इसकी रुचि करनेवाले को केवलज्ञान की शंका नहीं रहती।[१]

अहा ! जानना ज्ञान का स्वभाव है। जिसप्रकार ज्ञान स्वद्रव्य को जानता है; उसीप्रकार पुद्गलादि परद्रव्यों को भी जानता है; एकसमय की पर्याय में विकार है, उसे भी ज्ञान जानता है। जानने मात्र से ज्ञान पुद्गलादि परद्रव्यरूप या रागरूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान उन परद्रव्यों का या राग का कर्त्ता नहीं होता – यह वस्तुस्थिति है। अनादि से यह जीव इस वस्तुस्थिति को नहीं मानने के कारण ही अज्ञानी है।[२]

तात्पर्य यह है कि यह ज्ञानशक्ति द्रव्य में व्याप्त है, गुणों में व्याप्त है और एक-अभेद त्रिकालीद्रव्य की दृष्टि होने पर पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१५५
२. वही, पृष्ठ - १५७

तथा राग से भिन्न हो जाती है; क्योंकि अभेद की दृष्टि में राग व्याप्त नहीं होता। पहले पर्याय में राग तथा मिथ्यात्वादि थे, तब संसार उछलता था और अब 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' – ऐसी द्रव्यदृष्टि हुई तो पर्याय में आनंद उछलता है, अनंतगुणों की निर्मलपर्याय प्रगट होती है। अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद प्रगट होने पर परद्रव्य में से मेरा ज्ञान-आनन्द आता है – ऐसे मिथ्या-अभिप्राय का तो नाश हो जाता है और ज्ञान की निर्मलधारा का क्रम आरम्भ हो जाता है – ऐसी द्रव्यदृष्टि कोई अलौकिक चीज है।

यह ज्ञानशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में व्याप्त है। इसमें त्रिकाली ध्रुव ज्ञानशक्ति ध्रुव उपादान है और उसका पर्याय में जो ज्ञानोपयोगरूप परिणमन है, वह क्षणिक उपादान है।[1]''

इसप्रकार जीवत्वशक्ति में यह बताया था कि यह आत्मा त्रिकाल अपने चेतनप्राणों से जीवित रहता है और चितिशक्ति में यह बताया था कि वह जड़रूप नहीं होता तथा अब इन दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति में यह बताया जा रहा है कि आत्मा का वह चेतनस्वरूप सामान्यग्राही दर्शनोपयोग और विशेषग्राही ज्ञानोपयोगरूप है।

यह भगवान आत्मा लक्ष्यरूप जीवत्वशक्ति, लक्षणरूप चितिशक्ति और चितिशक्ति के ही विशेष देखने-जाननेरूप उपयोगमयी दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होता है।

इस भगवान आत्मा को जीवत्वशक्ति के कारण जीव, चितिशक्ति के कारण चेतन और ज्ञान व दृशिशक्ति के कारण ज्ञाता-दृष्टा कहा जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारे मूल प्रयोजनभूत जीवतत्त्वरूप भगवान आत्मा का स्वरूप अब धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है।

जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञानशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब सुख शक्ति की चर्चा करते हैं –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१५८

५. सुखशक्ति

सुखशक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं –

''अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः – अनाकुलता लक्षणवाली सुखशक्ति है।''

यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुख से डरते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनाकुलत्व लक्षणवाली यह सुखशक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए ४७ शक्तियों के निरूपण में जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञानशक्ति के तत्काल बाद इसकी चर्चा की गई है।

ज्ञान-दर्शनरूप चेतना तो भगवान आत्मा का लक्षण है; अतः उनकी चर्चा तो सर्वप्रथम होना ही चाहिए थी। आत्मा को सच्चिदानन्द कहा जाता है। सत् में जीवत्व, चित् में चिति और ज्ञान-दर्शन तथा आनन्द में सुखशक्ति आ जाती है। इसप्रकार सच्चिदानन्द में आरंभ की पाँच शक्तियाँ आ जाती हैं।

यद्यपि आत्मा में जो अनंत शक्तियाँ हैं, वे सब भगवान आत्मा में एकसाथ ही रहती हैं, उनमें आगे-पीछे का कोई क्रम नहीं है; तथापि कहने में तो क्रम पड़ता ही है; क्योंकि सभी को एकसाथ कहना तो संभव है नहीं।

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि किस शक्ति को पहले रखें और किसको बाद में; फिर भी 'वस्तुस्वरूप आसानी से समझ में आ जावे' –इस दृष्टि से प्रस्तुतीकरण में आचार्यदेव एक क्रमिक विकास तो रखते ही हैं।

इस सुखशक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सुखशक्ति त्रिकाल अनाकुलता लक्षणस्वरूप है। एक समय की वर्तमान दशा में जो आकुलता है/दुख है, वह गौण है। त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्दस्वरूप आत्मा अनाकुलता लक्षणस्वरूप है। 'मैं कुछ करूँ' – ऐसी वृत्ति ही आकुलता है, जो शुभाशुभ कर्तृत्व आदि के विकल्प उठते हैं,

वे सभी आकुलतारूप हैं; परन्तु मुझे तो कुछ करना ही नहीं, ज्ञान भी नहीं करना; क्योंकि जो होता है, उसे करना क्या ? सर्व विकल्पों से रहित कुछ भी करने के भार से रहित निर्भारता/अनाकुलता ही सुखशक्ति का लक्षण है। उसका कार्य भी अनाकुल आनन्दमय है।

४७ शक्तियों के अधिकार में श्रद्धा और चारित्र इन दोनों शक्तियों का अलग से वर्णन नहीं किया, उन दोनों को इस सुखशक्ति में ही समाहित जानना चाहिए। सुखशक्ति के समान आत्मा में श्रद्धाशक्ति भी त्रिकाल है। 'मैं ज्ञानानन्दमय त्रिकाली ध्रुवद्रव्य हूँ' – ऐसी प्रतीति/श्रद्धा होना ही श्रद्धाशक्ति का कार्य है, सम्यग्दर्शनरूप होना यह श्रद्धाशक्ति का कार्य है।

इस श्रद्धाशक्ति के प्रगट होते ही तत्काल नियम से अनाकुल आनन्द के संवेदनरूप सुखशक्ति के द्वारा श्रद्धाशक्ति तथा उसका कार्य प्रगट हुआ समझा जा सकता है।इसप्रकार आचार्यदेव ने सुखशक्ति में श्रद्धाशक्ति को गर्भित कर दिया है।[१]

श्रद्धाशक्ति के समान चारित्रशक्ति भी त्रिकाल है। वह चारित्रशक्ति ध्रुवद्रव्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होती है। ऐसी क्रमवर्ती चारित्र की जो वीतरागीदशा प्रगट होती है, उसके साथ नियम से अनाकुल-आनन्द की भी प्रचुरतर दशा अनुभव में आती है। इसतरह अनाकुलसुख शक्ति के कार्य द्वारा चारित्रगुण की दशा समझ सकते हैं।[२]

अन्दर त्रिलोकीनाथ भगवान सच्चिदानन्द प्रभु अनन्तशक्तियों का सागर लहरा रहा है। उसकी प्रत्येक शक्ति में अनन्त शक्तियों का रूप है। प्रत्येक शक्ति में अनन्त शक्तियाँ व्यापक हैं। अहा ! ऐसे अनन्त शक्तिमय भगवान आत्मा को जब पर्याय अन्दर में झुककर देखती है, श्रद्धा करती है, उसमें रमती है; तब प्रचुर-आनन्द की, महा आनन्द की पर्याय प्रगट होती है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१६१-१६२
२. वही, पृष्ठ - १६२

इसतरह यहाँ सुखशक्ति में श्रद्धा और चारित्र दोनों को समाहित कर लिया है।

भाई ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट हों और आनन्द न आवे – ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र भाव में अनन्त शक्तियाँ एकसाथ उछलती हैं।[१]

जैसे जानना-जानना यह ज्ञान का लक्षण है, वैसे ही अनाकुलता सुखशक्ति का लक्षण है और ऐसे सुख से भरा हुआ तू है, तुझमें आकुलता का नाम-निशान भी नहीं है। सुखशक्ति में आकुलता नहीं और उसके क्रमवर्ती परिणमन में भी आकुलता नहीं।[२]''

स्वामीजी के उक्त कथन में यह बात स्पष्ट हो गई है कि सुखशक्ति में श्रद्धाशक्ति और चारित्रशक्ति भी शामिल समझनी चाहिए; क्योंकि ४७ शक्तियों में श्रद्धा और चारित्रशक्ति का नाम नहीं है।

सुखशक्ति के निर्मल परिणमन में अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जगने में श्रद्धा और चारित्रगुण के निर्मल परिणमन का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अनन्त शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा में जब उपयोग अन्तर्मुख होता है; यह भगवान आत्मा आत्मा को ही जानता-देखता है, उसी में अपनापन स्थापित करता है, उसी में जमता-रमता है; तब श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण के अन्तर्मुख परिणमन के साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका भी जाग्रत होती है; सभी गुणों में निर्मलता का अंश प्रगट होता है; इसीलिए तो कहा जाता है **सर्वगुणांश समकित** अर्थात् अंशरूप से सम्यक्पना सभी गुणों में प्रकट होता है। इसी को शक्तियों का उछलना कहते हैं।

प्रश्न : इस सुखशक्ति के जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर : अनादि से यह आत्मा परपदार्थों में ही सुख जानता-मानता

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१६२-१६३

२. वही, पृष्ठ -१६७

रहा है; परपदार्थों में ही सुख की खोज करता रहा है; तथापि आजतक उसे रंचमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई है; इसीकारण आकुल-व्याकुल हो रहा है।

इस सुखशक्ति के स्वरूप को समझने से इसे यह पता चलेगा कि यह भगवान आत्मा तो स्वयं सुख का पिण्ड है, आनन्द का कंद है; सुख प्राप्ति के लिए इसे पर की ओर देखने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

दूसरे यह आत्मा जिन शुभभावों और पुण्यकर्म को सुख का कारण जानकर आज तक अपनाता रहा है; वे सुख के कारण नहीं हैं, सुख का कारण तो स्वयं अपना आत्मा है – यह जानकर अपने उपयोग को वहाँ से हटाकर अपने आत्मा के सम्मुख करेगा।

एक बात यह भी तो है कि पुण्यकर्मरूप शुभभाव स्वयं आकुलतारूप हैं; उनसे निराकुल सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

सुख का लक्षण तो अनाकुलता है – यह बात स्पष्ट हो जाने से यह समझने में बहुत सुविधा रहेगी कि जिस कार्य में आकुलता है, वह सुख का कारण नही हो सकता; अत: वह धर्म भी नहीं हो सकता।

छहढ़ाला की पंक्ति में भी आता है कि –

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनाकुलत्व-लक्षणवाली सुखशक्ति की महिमा से सुपरिचित होकर अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा में अन्तर्मुख होने से अनाकुलत्व लक्षणवाला अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है।

इसप्रकार इस सुखशक्ति को समझने के उपरान्त अब वीर्यशक्ति की चर्चा करते हैं –

६. वीर्यशक्ति

वीर्यशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार समझाया गया है –

''**स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्ति:** – स्वरूप की रचना की

सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है।''

जब यह भगवान आत्मा अरहंत-सिद्धदशा को प्राप्त हो जाता है; तब उसके अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रगट हो जाते हैं। इन्हें अनंतचतुष्टय कहते हैं।

उक्त अनंतचतुष्टय दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति और वीर्यशक्ति का ही परिपूर्ण प्रस्फुटन है। वैसे तो अरहंत-सिद्ध अवस्था में सभी शक्तियाँ पूर्णत: प्रस्फुटित हो जाती हैं, पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हो जाती हैं; तथापि प्रमुखरूप से अनंतचतुष्टय के रूप में उल्लेख उक्त शक्तियों के निर्मल परिणमन का ही होता रहा है।

ज्ञान-दर्शन तो आत्मा का लक्षण है और सुख एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी कामना सभी को है तथा वीर्यशक्ति के बिना इनकी रचना कौन करेगा; क्योंकि प्रत्येक वस्तु के स्वरूप की रचना करनेवाली अर्थात् उनके निर्मल परिणमन में हेतु तो यही वीर्यशक्ति है।

इसप्रकार ये चार शक्तियाँ अनंतचतुष्टय के रूप में उल्लसित होती हैं; प्रस्फुटित होती हैं, उछलती हैं। यही कारण है कि इनका निरूपण आरंभ में ही किया गया है।

जीवत्वशक्ति तो जीव का जीवन ही है और चितिशक्ति उसके चेतनत्व को कायम रखनेवाली शक्ति है। चितिशक्ति के ही दो रूप हैं – ज्ञान और दर्शन; जो आत्मा के लक्षण हैं। जिसके अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमन की चाह सभी को है, वह अनाकुलत्वलक्षण सुखशक्ति आनन्दरूप है। इनके निरूपण के उपरान्त वीर्यशक्ति का निरूपण क्रमप्राप्त ही है; क्योंकि अनन्तचतुष्टय में तीन चतुष्टय तो आरंभ की पाँच या तीन शक्तियों में ही समाहित हो गये हैं; अब इस वीर्यशक्ति के निरूपण से हमारे लिए परमइष्ट अनन्त चतुष्टय पूर्ण हो जावेंगे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आरंभ की छह शक्तियों में अनंतचतुष्टय के

बीज विद्यमान हैं।

ध्यान रहे इस वीर्यशक्ति का माता-पिता के रजवीर्य से कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वे तो जड़ हैं, पुद्गल के परिणमन हैं। इसीप्रकार तीर्थंकर को जन्म से ही प्राप्त होनेवाले अतुल्यबल से भी इसका कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वह भी शारीरिक बल से ही संबंध रखता है।

इस वीर्यशक्ति का संबंध अनन्तचतुष्टय में शामिल अनन्तवीर्य से है। अनंतवीर्य इस वीर्यशक्ति के पूर्ण निर्मल परिणमन का ही नाम है।

इसका स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"जिसप्रकार आत्मा में ज्ञानगुण है, उसीप्रकार आत्मा में एक वीर्यगुण भी है। यहाँ वीर्य का अर्थ बल है। संतान उत्पन्न होने के निमित्तरूप शरीर का जो वीर्य (धातु विशेष) होता है, यहाँ उसकी बात नहीं है।

यहाँ तो वीर्य अर्थात् बल नाम की आत्मा की शक्ति है। जिस शक्ति के द्वारा आत्मा बलवान है, उस वीर्य की बात है। जो अपने स्वरूप की रचना करता है, स्वरूप को धारण करता है – ऐसे आत्मा के स्वभावरूप वीर्यशक्ति की बात है।[१]

आत्मा में जो वीर्यशक्ति है/बल है, वह निर्मलस्वरूप की रचना करने की सामर्थ्यरूप है और जड़ की रचना करना जड़शक्ति का कार्य है।

द्रव्य में वीर्य, गुण में वीर्य और पर्याय में वीर्य – इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में वीर्यशक्ति व्यापक है और वह वीर्यशक्ति निर्मल ज्ञान, आनन्द, प्रभुता, जीवत्व, स्वच्छत्व आदि की पर्यायों की रचना करती है।[२]

यह वीर्यशक्ति अपने स्वदेश में सर्वत्र फैली है। अपने आत्मा में असंख्यातप्रदेश ही अपने आत्मा का स्वदेश है। रागादि पुण्य-पाप के भाव आत्मा के लिए परदेश हैं।[३]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१७४
२. वही, पृष्ठ - १७४
३. वही, पृष्ठ -१७५

आत्मा का वीर्य तो उसे कहते हैं जो अपने-अपने अनन्तगुणस्वभावों के स्वरूप की रचना अपनी-अपनी पर्याय में करता है। अनन्तगुणों की निर्मलपर्यायों को प्रगट करनेवाला आत्मा का वीर्य है। विकारी परिणामों की रचना करना आत्मा के वीर्य का काम नहीं है।[१]

आत्मा की अचिन्त्य दिव्य सर्वज्ञत्वशक्ति में वीर्यशक्ति का रूप है। आत्मा की प्रत्येक शक्ति में अन्य समस्त शक्तियों का रूप होता है – इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, सुख, प्रभुता, सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व आदि अनन्तगुणों में वीर्यशक्ति का रूप होता है। जैसे – ज्ञानवीर्य, दर्शनवीर्य, सुखवीर्य इत्यादि।

अहो ! ऐसी अनन्त शक्तियों का सागर प्रभु आत्मा है। उसके सम्मुख दृष्टि करने से वीर्यशक्ति स्फुरायमान होकर अनन्तगुणों की निर्मलपर्यायों की रचना करती है। इसी का नाम आत्मवीर्य है।

जगत के लोगों को इस विषय का अभ्यास नहीं है, इसलिए मात्र कियाकाण्ड में ही लग रहे हैं; परन्तु यह सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड तो अकेले राग और क्लेश की ही क्रिया है।[२]

वीर्यशक्ति स्वरूप रचना की सामर्थ्यरूप है। वहाँ द्रव्य-गुण तो त्रिकालध्रुव एकरूप हैं; अतः उनमें तो रचना करने का कोई काम ही नहीं है। जो कोई भी रचना होती है, वह पर्याय में होती है; ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुणों की निर्मलपर्याय की रचना करना वीर्यशक्ति का कार्य है।[३]

पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल ने चिद्विलास ग्रन्थ में वीर्यशक्ति का बहुत वर्णन किया है। द्रव्यवीर्य, गुणवीर्य, पर्यायवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, तपवीर्य, भाववीर्य इत्यादि अनेक प्रकार की वीर्यशक्ति का वर्णन चिद्विलास में किया है। वहाँ विशेष बात यह है कि द्रव्य द्रव्य से शक्तिवान है, पर्याय

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१७६-१७९
२. वही, पृष्ठ -१७९-१८०
३. वही, पृष्ठ -१८०

पर्याय से शक्तिवान है, इत्यादि।[१]''

स्वामीजी के उक्त शक्ति संबंधी प्रवचनों की विशेषता यह है कि वे प्रत्येक शक्ति के निरूपण में इस बात का उल्लेख अवश्य करते हैं कि वह शक्ति न केवल अन्य शक्तियों में व्याप्त है; अपितु स्वद्रव्य में और उसकी निर्मलपर्यायों में भी व्याप्त है, आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में भी व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शक्ति का रूप द्रव्य में, उसके प्रदेशों में, अन्य गुणों में और उनकी निर्मलपर्यायों में रहता है।

प्रत्येक शक्ति के विवेचन में उक्त तथ्य का बारम्बार उल्लेख करने में उन्हें पिष्टपेशण या पुनरुक्ति दोष नजर नहीं आता; क्योंकि यह बात इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसका उल्लेख हजारों बार भी हो तो भी कोई बुराई नहीं है, लाभ ही है। वैसे भी अध्यात्म और भक्ति में पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जाता।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की परिभाषायें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं।

जैसा कि कहा गया है –

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेर्काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंकदेव का प्रमाणग्रन्थ तत्त्वार्थराजवार्तिक, पूज्यपाद का लक्षण-ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि और धनञ्जय कवि का द्विसंधान महाकाव्य – ये तीन अद्वितीय रत्न हैं।

परिभाषाओं के सन्दर्भ में अद्वितीय रत्न उक्त सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ में स्पर्शनादि इन्द्रियों संबंधी मतिज्ञानादि की परिभाषा लिखते समय मतिज्ञानादि के क्षयोपशम के साथ-साथ वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम को भी आवश्यक माना है; क्योंकि जबतक तत्संबंधी वीर्यान्तरायकर्म का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१८३

क्षयोपशम नहीं होगा, तबतक मतिज्ञानादि का क्षयोपशम कार्यकारी नहीं होगा।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का तत्संबंधी कथन मूलत: इसप्रकार है –

''वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्।[१] –

वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा आंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है।''

इसीप्रकार का भाव आचार्य विद्यानन्दिकृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी पाया जाता है।

उक्त प्रकरण से भी वीर्यशक्ति की उपयोगिता प्रमाणित होती है।

कोई भी कार्य हो, उसके सम्पन्न होने में कुछ न कुछ शक्ति तो लगती ही है। आत्मा के गुणों का निर्मल परिणमन भी बिना शक्ति के तो होता नहीं। जिन लोगों को अपने आत्मा में विद्यमान वीर्यशक्ति का ज्ञान नहीं है, श्रद्धान नहीं है; वे लोग आत्मा को निर्मल बनाने के लिए पर की ओर देखते हैं, पर के सहयोग की आकांक्षा करते हैं; परन्तु पर से तो अपने में कुछ होता नहीं है; इसकारण आकुल-व्याकुल होते हैं, अनंतदुखी होते हैं।

जब यह ज्ञान होता है कि आत्मा में एक वीर्यशक्ति है और उसका रूप सभी गुणों में है; जिसके कारण प्रत्येक गुण अपने निर्मल परिणमन को प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ है, तो सहयोग की आकांक्षा से पर की ओर देखने की वृत्ति और प्रवृत्ति समाप्त हो जाने से तज्जन्य आकुलता-व्याकुलता भी समाप्त हो जाती है।

इसप्रकार वीर्यशक्ति के अनुशीलन के बाद अब प्रभुत्वशक्ति की चर्चा करते हैं।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-२, सूत्र - १९, पृष्ठ - १२९

७. प्रभुत्वशक्ति

प्रभुत्वशक्ति का स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः – अखण्डितप्रताप और स्वतंत्रता से सम्पन्न होना है लक्षण जिसका; वह प्रभुत्वशक्ति है।''

प्रभु माने प्रभावशाली पूर्णत: समर्थ। अनंत महिमावंत, अखण्डित प्रताप से सम्पन्न और पूर्णत: स्वतंत्र पदार्थ, जिसमें रंचमात्र भी दीनता न हो, जिसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं हो; वह पदार्थ प्रभु कहा जाता है।

अपना भगवान आत्मा भी एक ऐसा ही प्रभु पदार्थ है, अनंतप्रभुता से सम्पन्न है, अनंत महिमावंत है, अखण्डित प्रतापवंत है, पूर्णत: स्वतंत्र समर्थ पदार्थ है; क्योंकि वह प्रभुत्वशक्ति से सम्पन्न है। उसमें और उसके असंख्य प्रदेशों में, अनन्त गुणों में और उनकी निर्मलपर्यायों में प्रभुत्वशक्ति का रूप विद्यमान है। इसकारण यह भगवान आत्मा प्रभु है, उसके असंख्य प्रदेश प्रभु हैं, उसके अनंत गुण प्रभु हैं और उनकी अनन्त निर्मलपर्यायें भी प्रभु हैं।

इसप्रकार की अनंत प्रभुता से सम्पन्न भगवान आत्मा तू स्वयं है, मैं स्वयं हूँ, हम सब स्वयं हैं; – ऐसा जानकर हे आत्मन् ! तू अपनी प्रभुता को पहिचान। ऐसा करने से तेरी वर्तमान पर्याय में विद्यमान पामरता समाप्त होगी और प्रभुत्व शक्ति का निर्मल परिणमन होकर तेरी पर्याय में भी प्रभुता प्रगट हो जावेगी।

प्रभुत्वशक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''केवली भगवान कहते हैं कि भाई ! तेरी आत्मवस्तु में एक प्रभुत्व नाम की शक्ति है। इस शक्ति के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद एक त्रिकाली

शुद्ध चिन्मात्र वस्तु का लक्ष्य लेते ही तेरी प्रभुत्वशक्ति अखण्डित प्रतापसहित तत्काल प्रगट होती है। इसप्रकार वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो जाती है। द्रव्य में प्रभुत्व, गुण में प्रभुत्व और पर्याय में प्रभुत्व होता है। तेरी प्रभुत्वशक्ति क्रम से निर्मल-निर्मल ऐसी परिणमती है कि उसका प्रताप किसी से निवारा नहीं जा सकता।

देखो, देव-गुरु आदि पंचपरमेष्ठी भगवंत भी परद्रव्य होने से तेरे द्रव्य, गुण और पर्याय – तीनों में से एक में भी व्याप्त नहीं होते तथा देव-गुरु के प्रति जो विनय-भक्ति आदि का शुभराग होता है, वह भी आत्मा के द्रव्य-गुण में व्याप्त नहीं होता, मात्र एक समय की पर्याय में व्याप्त होता है, सभी पर्यायों में भी व्याप्त नहीं होता।

धर्मी जीव के यह प्रभुत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय –तीनों में व्यापती है। अज्ञानी अपने को दीन अनुभव करते हैं। उससे कहते हैं कि तेरे एक-एक गुण में प्रभुत्वशक्ति भरी है। 'मैं तो अनन्त-अनन्त प्रभुता से भरा चैतन्य महाप्रभु हूँ' – ऐसा भान करके अन्तर में लक्ष्य करते ही पर्याय में प्रभुता उछलती है। साथ में ज्ञानादि अनंतशक्तियाँ भी निर्मलपने उछलती हैं। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है, धर्म है।

प्रश्न : ज्ञानी भी तो अपने को अल्पज्ञ और पामर जानते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि के द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में प्रभुता व्याप्त होने पर भी, जबतक पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान नहीं हुआ, तबतक जितनी अपूर्णदशा है, उतनी पामरता और अल्पज्ञता है। ज्ञानी ऐसा यथार्थ जानता है – यह स्याद्वाद है।

अभी पूर्ण परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई – इस अपेक्षा साधक अपनी पर्याय को पामर जानता है अर्थात् ज्ञानी को अपनी पामर पर्याय का विवेक होता है, परन्तु दीनता नहीं होती।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा को

तृणसमान समझता है। सो यह तो अंतरंग में प्रभुता की प्रतीति सहित पर्याय के विवेक की बात है; क्योंकि वे जानते हैं कि अहो ! कहाँ दिव्य केवलज्ञानदशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञदशा ? इसप्रकार विवेक करके धर्मीजीव द्रव्यस्वभाव के आश्रय से पूर्णदशा प्रगट करने की भावना भाते हैं।

भाई ! यदि अकेली पामरता को ही माने और अंतरंग की प्रभुता को न पहिचाने तो पामरता दूर करके प्रभुता कहाँ से लायेगा ?[१]''

स्वामीजी के उक्त स्पष्टीकरण में एक बात सहज ही स्पष्ट हो गई है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा स्वभाव से प्रभु है, सर्वांग प्रभु है, स्वयं की प्रभुता से सहज सम्पन्न है; तथापि जबतक यह प्रभुता परिपूर्णरूप से पर्याय में प्रगट नहीं हो जाती, तबतक पर्याय में आंशिक पामरता भी विद्यमान रहती ही है। ज्ञानी की ज्ञानपर्याय के सम्यग्ज्ञानरूप हो जाने पर भी जबतक वह केवलज्ञानरूप परिणमित नहीं होती; तबतक उसमें अल्पज्ञतारूप पामरता विद्यमान रहती है। ज्ञानी धर्मात्मा इस बात से अनभिज्ञ नहीं होते। वे इस बात को जानते हुए भी दीन नहीं होते; क्योंकि वे स्वभाव की प्रभुता से भी परिचित होते हैं और उनका अपनापन स्वभाव की प्रभुता में ही होता है, पर्याय की पामरता में नहीं।

पर्याय में विद्यमान पामरता के अभाव का उपाय भी तो स्वभाव के सामर्थ्य का ज्ञान-श्रद्धान और ध्यान ही है।

इसप्रकार इस प्रभुत्वशक्ति के विवेचन में यही बताया गया है कि प्रभुत्वशक्ति के कारण यह भगवान आत्मा स्वयं प्रभु है, इसके असंख्य प्रदेश प्रभु हैं, इसके अनंत गुण प्रभु हैं और उनकी निर्मल पर्यायें भी प्रभु हैं।

सम्प्रभुतासम्पन्न इस भगवान आत्मा के आश्रय से ही वर्तमान पर्याय में विद्यमान पामरता का अभाव होता है।

इसप्रकार प्रभुत्वशक्ति की निरूपण करने के उपरान्त अब विभुत्वशक्ति

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१८५-१८६

की चर्चा करते हैं –

८. विभुत्वशक्ति

विभुत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सर्वभावव्यापैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः – विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक एक भावरूप होती है।''

जीवत्व, चिति, दृशि और ज्ञान आदि सभी भावों अर्थात् शक्तियों में व्याप्त एकभावरूप शक्ति का नाम विभुत्वशक्ति है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति भी विद्यमान है कि जो स्वयं तो सभी भावों (शक्तियों) में व्याप्त है ही; साथ में इसका रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ भी एक-दूसरे में व्याप्त हैं।

शक्तियों के परस्पर भिन्न होने पर भी इस शक्ति के कारण वे शक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त हैं; इसीकारण यह भगवान आत्मा अखण्ड है, अविभक्त है, एक है।

ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य से सम्पन्न सदा जीवित यह चिदात्मा स्वयं प्रभु भी है और विभु भी है। ऐसा जानकर जो अनंत शक्तिशाली भगवान आत्मा अखण्ड-अभेद आत्मा का निर्विकल्प ज्ञान-ध्यान-श्रद्धान करते हैं; उनकी सभी शक्तियाँ उल्लसित होती हुई पूर्णता को प्राप्त होती हैं।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अनंत शक्तियों के वैभव से सम्पन्न है; क्योंकि इसमें विभुत्वशक्ति विद्यमान है और उसका रूप अन्य समस्त शक्तियों तथा उनके निर्मल परिणमन में व्याप्त है।

इस शक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक ऐसे एकभावरूप है। आत्मवस्तु में जो ज्ञान-दर्शन-चिति-जीवत्व-प्रभुत्व आदि अनंत शक्तियाँ हैं, उनको यहाँ भाव कहा है।

द्रव्य, गुण, पर्याय और राग अर्थात् विकारी पर्याय – इसप्रकार भाव शब्द का प्रयोग चार अर्थों में किया जाता है।

इनमें से यहाँ त्रिकाली शक्ति को भाव कहा है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह विभुत्वशक्ति सर्वभावों में व्यापक है; फिर भी अन्य अनंतभावोंरूप नहीं होती, वह तो सदा एकभावरूप ही रहती है। एकभाव में रहकर भी अनंतगुणों में व्यापना आत्मा का विभुत्व है।

यहाँ ज्ञान का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार ज्ञानरूपी एकभाव सर्वभावों में व्यापक है; उसीप्रकार एकभावरूप विभुत्व भी सर्वभावों में, सम्पूर्ण आत्मद्रव्य में व्यापक है।

इसप्रकार विभुत्व स्वभाव द्वारा आत्मा सर्वव्यापक है तथा आत्मा का प्रत्येक गुण भी विभु अर्थात् सर्वव्यापक है।[१]

आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके कारण आत्मा लोकालोक में व्याप्त हो। हाँ! ऐसी शक्ति अवश्य है कि आत्मा अपने में रहकर लोकालोक को सहज जानता है – ऐसा इसका विभुत्वपना है।

अहो ! यह विभुत्वशक्ति अजब-गजब की है। आत्मा तो विभु है ही, 'ज्ञान-दर्शन-चारित्र' आदि अनन्तगुण भी स्वतंत्रपने पृथक्-पृथक् विभु हैं। जैसे अस्तिगुण से सभी गुण अस्तिरूप हैं; वैसे ही विभुत्वगुण भी सभी गुणों में व्यापकर उनको विभुत्वशक्तियुक्त बना देता है।

ऐसी निज विभुत्वशक्ति को जानकर तथा शक्ति और शक्तिवान के भेद का लक्ष्य छोड़ अभेद-अखण्ड एक शक्तिवान द्रव्य पर दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है। यह धर्म करने की रीति है।

शक्तियों का भेद मात्र जानने लायक है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए तो दृष्टि भेद पर से हटाकर अभेद पर ही ले जाना पड़ेगी।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१६२-१६३
२. वही, पृष्ठ - १६३

जो जीव ऐसे अपने विभुरूप अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का विश्वास करके उसमें स्थिर होता है; वह अनंतगुणों की विभूति को प्राप्त होता है।[१]''

प्रत्येक शक्ति के विवेचन में स्वामीजी यह याद दिलाना नहीं भूलते कि – शक्तियों का भिन्न-भिन्न स्वरूप जान लेना यद्यपि आवश्यक है, उपयोगी है; तथापि भेद के लक्ष्य से अनुभूति नहीं होती। अत: इनका स्वरूप जानकर तत्संबंधी भेद विकल्प तोड़कर अनंतशक्तियों का अभेद-अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा ही आश्रय करने योग्य है।

मैं अपने अनन्त गुणों में व्याप्त हूँ; इसलिए विभु हूँ और मेरे में अन्य किसी का प्रवेश नहीं है, मुझमें मेरा प्रभाव है, प्रताप है; इस कारण मैं प्रभु हूँ।

इसप्रकार प्रभु और विभुशक्ति के विवेचन के उपरान्त अब सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं।

९-१०. सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति

उक्त शक्तियों का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयीसर्वदर्शित्वशक्ति:, विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयीसर्वज्ञत्वशक्ति: –

सर्वदर्शित्वशक्ति समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से परिणत आत्मदर्शनमयी है और सर्वज्ञत्वशक्ति समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप से परिणत आत्मज्ञानमयी है।''

दोनों शक्तियों का स्वरूप थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग एक जैसा ही है। यद्यपि दोनों शक्तियाँ मूलत: आत्ममयी हैं; तथापि दोनों में अन्तर है कि सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी होते हुए भी समस्त विश्व के सामान्य-भाव (सत्सामान्य) को देखनेरूप है और सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमयी होते

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१९६

हुए भी समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप है। सर्वदर्शित्व-शक्ति देखनेरूप है और सर्वज्ञत्वशक्ति जाननेरूप है तथा सर्वदर्शित्वशक्ति सामान्य भाव को विषय बनाती है और सर्वज्ञत्वशक्ति विशेष भावों को विषय बनाती है।

अधिकांश लोग चक्षुइन्द्रिय के निमित्त से होनेवाले ज्ञान को देखना और शेष इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले ज्ञान से जानना समझते हैं।

चक्षु इन्द्रिय के संदर्भ में देखने शब्द के विशेष प्रयोग से यह भ्रम प्रचलित हुआ है। जबकि हम ऐसा भी तो कह सकते हैं कि चखकर देखा, सूंघकर देखा, छूकर देखा।

कहने का आशय यह है कि आँख से देखना, चखकर देखना आदि सभी मतिज्ञान के ही भेद हैं, दर्शनगुण के नहीं।

किसी वस्तु को जानने के पहले जो सामान्य अवलोकन होता है, उसे दर्शन कहा जाता है। यह पहले और बाद का भेद भी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के ही होता है, सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान के नहीं; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के स्वपर समस्त वस्तुओं संबंधी दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एकसाथ ही होते हैं।

चूँकि यहाँ दृशि और ज्ञानशक्ति की बात नहीं है, यहाँ तो सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्ति की बात चल रही है; अत: यहाँ पहले और बाद का भेद किए बिना यह कहना ही ठीक है कि सामान्यावलोकन दर्शन है और विशेषावलोकन ज्ञान है। ध्यान रहे कि अवलोकन शब्द अकेले दर्शन का वाचक नहीं; अपितु दर्शन (देखने) और ज्ञान (जानने) दोनों को ही अवलोकन कहा जाता है।

इसीप्रकार प्रकाशन शब्द का उपयोग देखने और जानने – दोनों ही अर्थों में होता है; क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ समानरूप से स्वपरप्रकाशक हैं और दोनों का विषय भी लोकालोक है।

लोकालोक को देखने-जानने के कारण यह आत्मा लोकालोकमय नहीं हो जाता, आत्ममय ही रहता है – यह बताने के लिए ही दोनों के स्वरूप में आत्मदर्शनमयी और आत्मज्ञानमयी पदों का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि दोनों ही शक्तियाँ आत्ममय हैं, लोकालोकमय नहीं।

यद्यपि दृशि और ज्ञानशक्ति में देखने-जानने की बात आ गई थी; तथापि सबको देखने-जानने की बात नहीं आई थी। इसकारण ही यहाँ समस्त लोकालोक को देखने-जाननेरूप परिणमित होने की बात को सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्ति के रूप में कहा जा रहा है।

दृशि और ज्ञान शक्ति में मात्र देखने-जानने की बात थी। किसको देखना -जानना – इस संबंध में वहाँ कुछ भी नहीं कहा गया था। किसको देखना-जानना – इसका स्पष्टीकरण सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्तियों में किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि सभी को देखने-जाननेरूप परिणमित होने की शक्ति भगवान आत्मा में विद्यमान है।

इन शक्तियों के नाम से ही बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ स्वपर सभी को देखने-जानने की बात है; क्योंकि इनके नाम ही सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति हैं।

ध्यान रहे भगवान आत्मा में ये सभी शक्तियाँ वस्तुरूप से हैं; काल्पनिक नहीं। अत: यह कथन निश्चयनय का है, व्यवहारनय का नहीं। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा में स्वपर को देखने-जानने की शक्ति है – यह बात परमसत्य है।

इन शक्तियों का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह जीव है, यह जड़ है, यह गुण है, यह गुणी है, यह भव्य है, यह अभव्य है इत्यादि भेद किए बिना समस्त लोकालोक को सामान्य सत्तारूप से देखनेरूप परिणमन करनेवाली ऐसी आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। लोकालोक को सत्तामात्र सामान्यपने देखना अर्थात् 'पदार्थ है' बस

इतना देखना सर्वदर्शित्वशक्ति है। दर्शन कोई भेद नहीं करता है।

यहाँ जो यह सर्वदर्शित्वशक्ति कही है, वह आत्मदर्शनमयी है।

यहाँ कोई कहता है कि – 'सभी को देखे' ऐसा कहने पर तो अनन्त पदार्थ आ गये; अत: पर को देखता है, ऐसा भी आ गया तो फिर यह सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी किसप्रकार है अर्थात् पूरे लोकालोक को देखे तो उसकी अपेक्षा आई कि नहीं ?[१]

समाधान – अरे भाई ! सर्वदर्शित्वशक्ति जो देखनेरूप परिणमन करती है; वह आत्मदर्शनमयी परिणाम है। जरा सूक्ष्म बात है, विश्व को देखने के लिए विश्व के प्रति उपयोग नहीं जोड़ना पड़ता। सहज ही समस्त विश्व को देख लेता है।[२]

सम्पूर्ण विश्व अर्थात् अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें – इसतरह सम्पूर्ण लोकालोक को सामान्यपने महासत्ता को ग्रहण करनेरूप परिणमित आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। इस शक्ति और शक्तिवान का भेद न करके त्रिकाली अभेद आत्मद्रव्य की दृष्टि करते ही शक्ति का पर्याय में परिणमन होने से है उसे आत्मदर्शनमयी कहा है।[३]

वैसे तो दृशिशक्ति में यह सर्वदर्शित्वशक्ति गर्भित है; परन्तु दृशिशक्ति में सर्वदर्शिपने की बात नहीं की, इसलिए यहाँ सर्वदर्शित्वशक्ति अलग से दर्शाई है।[४]

सर्वदर्शित्व का जो परिणमन हुआ वह आत्मदर्शनमय है, परदर्शनमय नहीं है; पर के लक्ष से भी नहीं हुआ है। इसमें कितनों को कोई फर्क ही नहीं लगता, परन्तु इसमें तो पूर्व-पश्चिम का अन्तर है।[५]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -१९७
२. वही, पृष्ठ -१९७
३. वही, पृष्ठ - १९७-१९८
४. वही, पृष्ठ -१९८
५. वही, पृष्ठ - १९८

इसमें अकेली शक्ति की बात नहीं है, परन्तु आत्मज्ञानमय परिणमित हुई शक्ति की बात है। आत्मा को जाननेरूप परिणमित हो – ऐसी सर्वज्ञत्वशक्ति है। वह पर को जानती है या नहीं – यहाँ यह प्रश्न नहीं है, यहाँ तो पर को जानने के प्रति वह सावधान नहीं, पर में तन्मय नहीं, पर में तन्मय होकर पर को जानती नहीं – ऐसी बात है। पर को जानना कहना – यह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। जिसमें पर लोकालोक झलके ऐसी अपनी पर्याय अपने में तन्मय होकर जानती है।[१]

भगवान लोकालोक को जानते ही नहीं – ऐसा नहीं है; परन्तु भगवान का उपयोग वास्तव में अन्तर्मुख स्वरूपप्रत्यक्ष और स्वरूपनिष्ठ है; वे लोकालोक में तन्मय नहीं, लोकालोक में जुड़कर उपयुक्त नहीं है; परन्तु निजानंदरसलीन है।[२]

अतः सर्वज्ञशक्तित्व के पूर्णभाव से परिणमित होने पर जो केवलज्ञान हुआ; वह आत्मज्ञानमय है, पर ज्ञानमय नहीं। गंभीर बात है भाई![३]''

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण से यह बात हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है कि स्व-पर सभी पदार्थों और उनके सभी गुण तथा उनकी अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक होने वालीं अनंतानंत पर्यायों को बिना किसी पर के सहयोग के एकसाथ देखने-जानने की सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है; क्योंकि सभी जीवों में सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं।

भगवान आत्मा में ये सभी शक्तियाँ निश्चय से हैं, व्यवहार से नहीं। पर के जानने को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को उक्त शक्तियों के स्वरूप पर गइराई से विचार अवश्य करना चाहिए।

इसप्रकार सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२०४
२. वही, पृष्ठ -२०५
३. वही, पृष्ठ -२०५

अब स्वच्छत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

११. स्वच्छत्वशक्ति

इस ग्यारहवीं स्वच्छत्वशक्ति का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है –

''नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोग-लक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः –

अमूर्तिक प्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक अर्थात् अनेकाकार उपयोग है लक्षण जिसका, वह स्वच्छत्वशक्ति है।''

जिसप्रकार पौद्गलिक अचेतन दर्पण स्वभावतः ही स्वच्छ होता है, उसके सामने जो भी पौद्गलिक (मूर्तिक) पदार्थ आते हैं; वे सभी पदार्थ बिना किसी भेदभाव के एकसाथ उसमें प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, झलक जाते हैं। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी स्वभाव से अत्यन्त स्वच्छ है, निर्मल है और इसमें भी सभी पदार्थ एकसाथ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, झलक जाते हैं, देख लिये जाते हैं, जान लिये जाते हैं।

ध्यान रहे पौद्गलिक दर्पण में तो मात्र मूर्तिक पुद्गल ही झलकते हैं; किन्तु इस भगवान आत्मा में मूर्तिक पदार्थों के साथ-साथ अमूर्तिक जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये सभी पदार्थ, इनके गुण तथा उनकी समस्त भूत-भावी और वर्तमान पर्यायें भी प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।

एक बात और भी है कि दर्पण में तो वही मूर्तिक पदार्थ झलकते हैं; जो उसके सामने आते हैं; परन्तु भगवान आत्मा के स्वच्छ स्वभाव में तो समीपवर्ती, दूरवर्ती, भूतकालीन, वर्तमान एवं भावी तथा सूक्ष्म और स्थूल सभी पदार्थ एकसाथ एक जैसे स्पष्ट झलक जाते हैं।

दर्पण में तो समीपवर्ती पदार्थ स्पष्ट और दूरवर्ती पदार्थ अस्पष्ट झलकते हैं; किन्तु आत्मा में तो समीपवर्ती-दूरवर्ती, स्थूल-सूक्ष्म भूतकालीन एवं

भावी सभी पदार्थ वर्तमानवत ही स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं।

अत: यहाँ दर्पण का उदाहरण मात्र पदार्थों के प्रतिबिम्बित होने तक ही सीमित रखना चाहिए।

भगवान आत्मा में पदार्थों के झलकने का जो अद्भुत स्वच्छ स्वभाव है, उसी का नाम स्वच्छत्वशक्ति है।

यदि दर्पण स्वच्छ है तो सामने आने वाले मूर्तिक पदार्थ एकदम साफ-साफ दिखाई देंगे। यदि पदार्थ उसमें स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहे हैं तो पदार्थ विकृत नहीं हैं, अपितु दर्पण अस्वच्छ है या कम स्वच्छ है; क्योंकि दर्पण में पदार्थों का कुछ भी नहीं आया; दर्पण में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब दर्पण का ही परिणमन है। अत: अस्पष्ट दिखने वाले पदार्थों को स्पष्ट देखने के लिए पदार्थों में कुछ नहीं करना है; अपितु दर्पण को ही स्वच्छ करना होगा।

इसीप्रकार आत्मा के स्वच्छ स्वभाव में झलकने वाले ज्ञेय यदि अस्पष्ट प्रतीत हों तो उनमें कुछ नहीं करना है; क्योंकि उनके दिखनेरूप परिणमन, उनका नहीं; आत्मा के ज्ञानस्वभाव का या स्वच्छस्वभाव का ही कम स्वच्छ या अस्वच्छ परिणमन है। यदि स्वच्छत्वशक्ति पूर्ण निर्मलतारूप परिणमन करे तो पदार्थ पूर्णत: स्पष्ट ही प्रतिभासित होंगे।

दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सर्वदर्शित्वशक्ति और सर्वज्ञत्वशक्ति के साथ-साथ यह स्वच्छत्वशक्ति और आगे की आने वाली प्रकाशशक्ति – ये सभी शक्तियाँ आत्मा के देखने-जाननेरूप स्वभाव से ही संबंधित हैं।

दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति में सामान्यरूप देखने-जानने की बात कही गई है तो सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति में सभी को देखने-जानने की बात कही गई है।

सभी पदार्थों में देखने-जाननेरूप कार्य में आत्मा को सभी ज्ञेयों के पास जाना पड़े – ऐसा नहीं है; क्योंकि इस भगवान आत्मा के स्वच्छ

स्वभाव में समस्त लोकालोक सहजभाव से दिखाई देता है, जानने में आ जाता है। आत्मा के इस सहज निर्मल स्वभाव का नाम ही स्वच्छत्वशक्ति है।

इस भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव में मात्र परपदार्थ ही नहीं झलकते; अपने आत्मा का अनुभव भी होता है। अपना आत्मा अनुभव में आवे – ऐसा भी आत्मा का स्वभाव ही है।

आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही प्रकाशशक्ति है। प्रकाशशक्ति की चर्चा विस्तार से यथास्थान की जायेगी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त छह शक्तियाँ आत्मा के देखने-जाननेरूप स्वभाव से ही संबंध रखती हैं।

इस स्वच्छत्वशक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''जिसप्रकार दर्पण की स्वच्छता से उसमें मुखमण्डल आदि प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से आत्मा के उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।[१]

यहाँ लोकालोक का आकार कहा, उसमें जड़ तथा चेतन सभी पदार्थ आ गये। पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जानने में आते हैं; परन्तु वे आत्मा के अमूर्तिक प्रदेशों में प्रवेश नहीं करते। आत्मा सर्व पदार्थों को पर की अपेक्षा बिना ही स्व उपयोग में जान ले – ऐसा ही उसकी स्वच्छत्वशक्ति का स्वभाव है।[२]

यदि सामने नीम का वृक्ष है तो क्या ज्ञान में नीम का आकार आता है ?

नीम नहीं आता; क्योंकि नीम तो जड़ है, स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला मूर्तिक पदार्थ है; परन्तु उस मूर्तिक पदार्थ संबंधी ज्ञान तो आत्मा में स्वयं की योग्यता से परिणमित होता है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २१३

२. वही, पृष्ठ -२१३

३. वही, पृष्ठ -२१५

समस्त लोकालोक को जाननेरूप जो मेचकता (अनेकपना) है, वह ज्ञान की स्वच्छता को प्रसिद्ध करती है। अहा ! ज्ञान में समस्त लोकालोक का ज्ञान न हो तो ज्ञान की स्वच्छता कैसी ? तथा वह ज्ञान दिव्य भी कैसे हो सकता है ?[१]

जो स्व-पर संबंधी विशेष ज्ञान होता है, उसे आकार कहते हैं। अर्थ-विकल्प को ज्ञानाकार कहते हैं।[२]

स्व-पर को भिन्न-भिन्न प्रकाशित करनेवाली ज्ञान की परिणति को यहाँ आकार कहा जा रहा है। ज्ञेयाकारों के जाननपने से ज्ञान का विशेषरूप से जो परिणमन हुआ, उसे यहाँ आकार कहा जा रहा है। विश्व के समस्त ज्ञेयाकारों के जाननेरूप से ज्ञान का विशेष परिणमन होना ही वास्तव में उपयोग की स्वच्छता है तथा वही वास्तव में जीव की स्वच्छत्वशक्ति का लक्षण है।[३]

तेरी स्वच्छता में लोकालोक ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि मानो उसमें प्रविष्ट हो गया है; परन्तु वास्तव में लोकालोक कभी आत्मा के उपयोग में प्रवेश नहीं करता। लोकालोक तो बाहर ही है; परन्तु आत्मा का स्वच्छ उपयोग ही उसके प्रतिभासरूप से परिणमित हुआ है। अहा ! वास्तव में लोकालोक नहीं, बल्कि आत्मा की स्वच्छता ही ज्ञात होती है। ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है और वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है।[४]

जिसप्रकार दर्पण में घट-पट आदि प्रकाशित होते हैं, दर्पण में दिखनेवाले घट-पट वास्तव में घट अथवा पट नहीं है; वह तो दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है। उसीप्रकार अमूर्तिक भगवान आत्मा असंख्यात अमूर्तिक

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२१६
२. वही, पृष्ठ -२१६
३. वही, पृष्ठ - २१६
४. वही, पृष्ठ -२१८

चैतन्यप्रदेशोंवाला है। उसमें लोकालोक का जो आकार प्रतिभासित होता है; वह वास्तव में लोकालोक नहीं है, वह तो स्वयं की स्वच्छत्वशक्ति का परिणमन है।

अहो ! लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला भगवान आत्मा कोई अद्भुत दर्पण है। वह स्वयं में स्व को प्रकाशित करता है तथा पर को प्रकाशित करता है।

भाई ! जरा स्थिर होकर और धीर होकर तू स्वयं के चैतन्यदर्पण में अन्तर्मुख देखे तो उसमें शुद्धस्वरूप दिखता है तथा साथ में लोकालोक भी जानने में आ जाता है।[१]

यह स्वच्छत्वशक्ति द्रव्य के अनन्तभावों में व्यापक है; जिससे द्रव्य स्वच्छ, गुण स्वच्छ तथा स्वाभिमुख होनेवाली पर्याय भी स्वच्छ है, निर्मल है।

भाई ! तेरी स्वच्छत्वशक्ति ऐसी है कि जिसप्रकार द्रव्यस्वभाव में विकार समाता नहीं है और द्रव्यस्वभाव में अभेदरूप से परिणमन करने पर प्रगट पर्याय में भी नहीं समाता है; उसीप्रकार आत्मा के स्वच्छ उपयोग में विकार का कण भी नहीं समाता है। अहो ! ऐसी अद्भुत स्वच्छत्वशक्ति है।[२]''

उक्त सम्पूर्ण स्पष्टीकरण से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जिसप्रकार दर्पण में कितने ही पदार्थ क्यों न झलके, उस पर उनका बोझा नहीं पड़ता; इनके झलकने से उसमें किसी भी प्रकार की विकृति नहीं होती।

उसीप्रकार इस भगवान आत्मा के स्वच्छत्वस्वभाव में सम्पूर्ण लोकालोक झलकें तो आत्मा पर कुछ बोझा नहीं पड़ता, कुछ विकृति नहीं आती; क्योंकि वे पदार्थ उसके जानने में तो आते हैं, पर उसमें प्रवेश नहीं करते, उसके पास भी नहीं फटकते। न तो परपदार्थ आत्मा में आते हैं और न आत्मा ही उन्हें जानने के लिए उनके पास जाता है। न तो उन ज्ञेय पदार्थों

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २१६
२. वही, पृष्ठ -२२०

के कारण आत्मा की स्वाधीनता पर ही कुछ फर्क पड़ता है और आत्मा के जानने के कारण उन ज्ञेय पदार्थों की स्वतंत्रता ही बाधित होती है।

जब इस स्वच्छत्वशक्ति का पूर्ण निर्मल परिणमन होता है; तब सारा लोकालोक आत्मा में झलकता है और जब अल्प निर्मलता होती है, तब पदार्थ कुछ अस्पष्ट झलकते हैं; पर झलकते तो हैं ही।

इसप्रकार यह स्वच्छत्वशक्ति आत्मा के उस निर्मल स्वभाव का नाम है कि जिसमें लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है – ऐसा होने पर भी वह निर्भार ही रहता है, स्वाधीन ही रहता है; लोकालोक के झलकने से उसकी सुख-शान्ति में कोई बाधा नहीं आती।

इस स्वच्छत्वशक्ति का रूप सभी गुणों में है; इसकारण सभी गुण स्वच्छ हैं। ज्ञान स्वच्छ है, श्रद्धा स्वच्छ है, चारित्र स्वच्छ है, सुख स्वच्छ है। अरे भाई ! सभी गुणों के साथ-साथ यह भगवान आत्मा भी स्वच्छ है। जब यह स्वच्छत्वशक्ति पर्याय में परिणमित होती है तो इस शक्ति का रूप सभी अविकारी पर्यायों में होने से वे भी स्वच्छतारूप परिणमन करती हैं।

ज्ञेयों के कारण ज्ञान रंचमात्र भी विकृत नहीं होता – यह सब इस स्वच्छत्वशक्ति का ही प्रताप है। द्वादशांग के पाठी इन्द्रादि जैसे लोग स्तुति करें तथा कोई हजारों गालियाँ देवें – दोनों बातें ज्ञान के ज्ञेय बने, फिर भी स्तुति करनेवालों के प्रति राग न हो, गालियाँ देनेवालों के प्रति द्वेष न हो – ऐसी वीतरागता भी तो चारित्रगुण में स्वच्छत्वशक्ति का रूप में होने से ही हुई है।

इस स्वच्छत्वशक्ति का स्वरूप ख्याल में आवे तो कमाल हो जावे; पर के जानने से ज्ञान मलिन हो जायेगा, मेचक हो जावेगा, अनेकाकार हो जावेगा – इसप्रकार की आकुलता ही नहीं होगी। इसीकारण पर के जानने को मिथ्यात्व कहना भी सहज संभव न रहेगा।

स्वच्छत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब प्रकाशशक्ति की चर्चा करते हैं –

१२. प्रकाशशक्ति

इस बारहवीं प्रकाशशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः।

जो स्वयंप्रकाशमान है तथा विशद, स्पष्ट और निर्मल स्वसंवेदनमय स्वानुभव से युक्त है; वह प्रकाशशक्ति है।''

११ वीं स्वच्छत्वशक्ति में इस बात पर वजन दिया गया है कि यह आत्मा लोकालोक को जाने अथवा लोकालोक इसके ज्ञान में झलके – ऐसा इसका स्वभाव है। अब इस १२ वीं प्रकाशशक्ति में यह कहा जा रहा है कि न केवल लोकालोक को, अपितु स्वयं को स्पष्टरूप से जाने अर्थात् आत्मा का अनुभव करे – ऐसी भी एक शक्ति आत्मा में है, जिसका नाम है प्रकाशशक्ति।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि लोकालोक में अपना आत्मा भी तो आ गया; अतः स्वच्छत्वशक्ति के कारण वह भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव में, स्वच्छस्वभाव में झलक जायेगा, जान लिया जायेगा। उसके लिए अलग से इस प्रकाशशक्ति की क्या आवश्यकता है ?

अरे भाई ! यह प्रकाशशक्ति स्वसंवेदनमयी है, स्वच्छत्वशक्ति स्वसंवेदनमयी नहीं है। पर पदार्थ तो मात्र आत्मा में देखे-जाने ही जाते हैं; किन्तु अपने भगवान आत्मा का अनुभव किया जाता है। वह अनुभव स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति का ही कार्य है।

इस शक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इसमें दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली यह कि आत्मा का प्रकाशस्वभाव स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है, उसे पर की कुछ अपेक्षा नहीं है तथा दूसरी यह कि वह स्पष्ट संवेदनमयी है। स्वानुभव में आत्मा प्रत्यक्ष, स्पष्ट जानने में आये – ऐसा आत्मा का प्रकाशस्वभाव है।

अहा ! जैसे दीपक स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है, उस दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु स्वयं से ही प्रकाशमान है। स्वसंवेदन में स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित कर रहा है, उसे प्रकाशित करने के लिए, जानने के लिए राग की, व्यवहार की, निमित्त की अपेक्षा नहीं है।[१]

आत्मा में जिसप्रकार ज्ञान, दर्शन आदि हैं; उसीप्रकार एक प्रकाशशक्ति भी है। स्वसंवेदन में आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाना ही उसका कार्य है, सम्यग्दर्शन होने पर मति-श्रुतज्ञान में स्वसंवेदन द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष हो जाय, प्रत्यक्ष अनुभव में आये – यह ही इस शक्ति का कार्य है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अरूपी आत्मा जानने में कैसे आता है तो कहते हैं कि स्वसंवेदन में आत्मा प्रत्यक्ष जानने में आये – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। भाई ! परोक्ष रहना आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु आत्मा इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता, वह तो स्वसंवेदन (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है, स्वानुभव में ज्ञात होता है।[२]

इस प्रकाशशक्ति में ऐसी अचिन्त्य दिव्य सामर्थ्य है कि किसी निमित्त की अपेक्षा बिना ही वह स्वयं ही स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष कर देती है। अहा ! ऐसी दिव्य शक्ति सम्पन्न निज आत्मा को अन्तर्मुख होकर देखें तो द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाय।[३]

अनन्त गुण-स्वभावों में प्रकाशशक्ति व्यापक है; जिससे ज्ञान प्रत्यक्ष, दर्शन प्रत्यक्ष, सुख प्रत्यक्ष, वीर्य प्रत्यक्ष – इसप्रकार प्रत्येक शक्ति प्रत्यक्ष हो जाय, ऐसा ही इसका स्वरूप है।[४]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२२१
२. वही, पृष्ठ -२२१-२२२
३. वही, पृष्ठ - २२४
४. वही, पृष्ठ -२२६

इस बारहवीं प्रकाशशक्ति में गजब की बात की है। स्वयं का ज्ञानानन्द-स्वभाव है, उसका स्वयं प्रत्यक्ष संवेदन होता है। अरे, अनंतगुणों का प्रत्यक्ष वेदन होय, ऐसी प्रकाशशक्ति की सामर्थ्य की अचिन्त्य महिमा है। क्या कहें ? जितना अन्तर में भासित होता है, उतना भाषा में नहीं आता; क्योंकि भाषा का परिणमन स्वतंत्र है तथा कहने की शक्ति मर्यादित है।[१]

इसमें 'स्वयं' और 'विशद' इन दो शब्दों का खासा वजन है। आत्मा किसी की अपेक्षा से रहित स्वयं प्रकाशमान है और विशद अर्थात् स्पष्ट, प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होकर जानने में आता है।[२]

इस प्रकाशशक्ति का अन्य अनन्तशक्तियों में रूप है, जिससे ज्ञान, श्रद्धान, आनन्द इत्यादि प्रत्यक्ष होवें – ऐसा इसका स्वरूप है।[३]

यहाँ कोई कहता है कि मति-श्रुतज्ञान को आप प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में 'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्र में आरम्भ के दो ज्ञान अर्थात् मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं – ऐसा कहा है तो उन्हें प्रत्यक्ष कहना कैसे संभव है ?

तत्त्वार्थसूत्र में मति-श्रुतज्ञान को जो परोक्ष कहा है, वह तो पर के जानने की अपेक्षा से कहा है, स्वयं को जानने की अपेक्षा से तो मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष हैं, यह बात इसमें गर्भित है।[४]

भाई ! गुप्त रहना आत्मा का स्वरूप नहीं है, परन्तु जब तुझे इस बात का विश्वास आयेगा, तभी आत्मा प्रत्यक्ष होगा।[५]

अहा ! यदि तुझे भव के ऐसे दुःखों से मुक्त होना है तो अनन्तशक्तिवाला निज आत्मद्रव्य में दृष्टि लगा दे। शक्ति और शक्तिवान – ऐसे भेद का भी

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २२६
२. वही, पृष्ठ -२२८
३. वही, पृष्ठ - २२९
४. वही, पृष्ठ - २३०
५. वही, पृष्ठ - २३१

लक्ष छोड़कर त्रिकाली द्रव्य को देख, जिससे तुम्हारी ज्ञानपर्याय में आत्मा प्रत्यक्ष हो जावेगा। स्वसंवेदन में आत्मा प्रत्यक्ष हो, ऐसा ही इसका प्रकाशस्वभाव है।[1]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं से स्वयं के अनुभव में आता है। उस शक्ति का नाम ही प्रकाशशक्ति है।

इस शक्ति की श्रद्धा और ज्ञान होने से आत्मानुभव के लिए पर के सहयोग की आकांक्षा से उत्पन्न होनेवाली आकुलता का अभाव होकर निराकुल शान्ति की प्राप्ति होती है।

१३. असंकुचितविकासत्वशक्ति

इस तेरहवीं असंकुचितविकासत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकासत्वशक्तिः।

असंकुचितविकासत्वशक्ति क्षेत्र और काल से अमर्यादित चिद्विलासात्मक (चैतन्य के विलासस्वरूप) है।''

अनंत शक्तियों से सम्पन्न इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा बिना किसी संकोच के पूर्णरूप से विकसित होता है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा का प्रत्येक गुण पर्याय में निर्मलता के साथ-साथ पूर्णता को भी प्राप्त होता है। ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप परिणमित होता है, श्रद्धागुण क्षायिकसम्यक्त्वरूप परिणमित होता है।

यह शक्ति क्षेत्र और काल से अबाधित है और चैतन्य के विलासरूप है। तात्पर्य यह है कि इस आत्मा के चैतन्य के विलास में क्षेत्र और काल

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२३१

संबंधी कोई संकोच नहीं है, सीमा नहीं है; मर्यादा नहीं है।

इस शक्ति का रूप सभी गुणों में होने से वे भी असंकुचितविकासत्व को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं। उन्हें अपने अविच्छिन्न विकास के लिए क्षेत्र व काल संबंधी किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता, बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि उनमें असंकुचितविकासत्वशक्ति का रूप है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ असंकुचितपने में क्षेत्र और काल को ही क्यों लिया; द्रव्य और भाव को क्यों छोड़ दिया ? वस्तु तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय है। क्षेत्र और काल के साथ-साथ द्रव्य और भाव को भी लिया जाना चाहिए।

अरे, भाई ! कुछ भी नहीं छोड़ा है। जिस आत्मा की शक्तियों की बात चल रही है, वह आत्मा द्रव्य ही तो है और जिन अनन्त शक्तियों की बात चल रही है, वे भाव हैं। अत: द्रव्य और भाव तो शामिल हैं ही। क्षेत्र और काल नहीं आये थे; अत: उनकी बात की है।

गुणों के समूह का नाम द्रव्य है और उन गुणों की संख्या में तो कोई विकास होता नहीं है; उनके परिणमन में ही विकास की संभावना रहती है; क्योंकि परिणमन अभी द्रव्यस्वभाव या गुणस्वभाव के अनुरूप नहीं है। जैसा ज्ञानानन्दस्वभावी द्रव्य हैं और जैसीं सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व आदि शक्तियाँ हैं; उनका पर्याय में वैसा ही पूर्णत: खिल उठना, परिपूर्ण विकास हो जाना ही शक्तियों का विकास है, गुणों का विकास है और इनके समुदाय रूप द्रव्य का विकास है।

यह तो आप जानते ही है कि प्रदेशों को क्षेत्र, गुणों और शक्तियों को भाव और पर्यायों को काल कहा जाता है। इसप्रकार पर्यायों में पूर्ण विकास होना ही गुणों (भाव) का विकास है, द्रव्य का विकास है।

इसीप्रकार इस असंख्यातप्रदेशी आत्मा के असंख्यातप्रदेश ही आत्मा

का क्षेत्र हैं, आत्मा में रहनेवाले अनंत गुणों का क्षेत्र हैं, अनंत शक्तियों का क्षेत्र है। ये असंख्यात प्रदेश संसार अवस्था में देहप्रमाण आकार में और सिद्धदशा में किंचित्न्यून अन्तिमदेहप्रमाण आकार में रहते हैं तथा केवलीसमुद्घात के काल में एक समय ऐसा भी आता है, जब ये असंख्यात प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं; लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आत्मा के एक-एक प्रदेश स्थित हो जाते हैं। इसप्रकार यह क्षेत्र संबंधी असंकुचित-विकास हुआ।

केवलज्ञानादिरूप विकास काल संबंधी विकास है और लोकाकाश प्रमाण प्रदेशों का फैलाव क्षेत्र संबंधी विकास है। इसीलिए कहा गया है कि यह आत्मा क्षेत्र व काल संबंधी विकास की बाधाओं से रहित है, असंकुचित विकास वाला है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि यदि असंकुचितविकासत्वशक्ति के कारण क्षेत्र का असीमित विकास हो सकता है, अबाधित विकास हो सकता है तो फिर तो आत्मा को भी अलोकाकाश में चले जाना चाहिए, आत्मा के प्रदेशों को भी अलोकाकाश में चले जाना चाहिए।

शास्त्रों में कहा गया है कि अलोकाकाश में धर्मद्रव्य नहीं है; इसकारण यह आत्मा अलोकाकाश में नहीं गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि आत्मा में अलोकाकाश में जाने की शक्ति तो है, पर वहाँ धर्मद्रव्यरूप निमित्त का अभाव होने से आत्मा वहाँ नहीं जा पाया। ऐसी स्थिति में क्षेत्र की अपेक्षा असंकुचित विकास कहाँ रहा, असीमित विकास कहाँ रहा ?

अरे भाई ! असंकुचितविकास का अर्थ स्वभाव का उल्लंघन नहीं है। आत्मा का स्वभाव अर्थात् उपादानगत योग्यता लोक में व्याप्त होने की ही है, लोकाग्र तक जाने की ही है तथा वह लोकाकाश में फैल गया और लोकाग्र में पहुँच गया – यही उसका स्वभावानुसार असंकुचितविकास है, अपनी सीमा में असीमित विकास है।

इसीप्रकार परमात्मप्रकाश में वृक्ष पर चढ़ी हुई वेल का उदाहरण देकर समझाया गया है कि केवलज्ञान इससे अनन्त गुणें लोकालोक होते तो उन्हें भी जान लेता। यह कथन भी केवलज्ञान की महिमा बताने के लिए किया गया उपचरित कथन ही समझना चाहिए; क्योंकि इसका अर्थ तो यह हुआ कि केवलज्ञान ज्ञानगुण की पूर्णता को प्राप्त परिपूर्ण निर्मल पर्याय नहीं है। ज्ञेयों की कमी के कारण ज्ञान का विकास रुक गया।

अरे भाई ! ज्ञेयों की कमी के कारण ज्ञान का विकास अवरुद्ध नहीं होता। वस्तुत: बात यह है कि सर्वज्ञत्वशक्ति में भी लोकालोक को ही जानने की शक्ति है; इसलिए वह केवलज्ञान भी ज्ञानशक्ति का या सर्वज्ञत्वशक्ति का असंकुचित विकास ही है, अपनी सीमा में असीमित विकास ही है।

पर्याय में पूर्णता को प्राप्त होना ही असंकुचित विकास है, असीमित विकास है, अबाधित विकास है।

ऐसा तो हो नहीं सकता कि धर्मद्रव्य के अभाव की बाधा के कारण आत्मा अलोकाकाश में नहीं जा पाया और अनंत लोकालोक के अभाव की बाधा के कारण ज्ञान अपूर्ण विकसित रह गया। धर्मद्रव्य संबंधी पहला कथन तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया गया कथन है और दूसरा कथन केवलज्ञान की महिमा बताने के लिए किया गया उपचरित कथन है।

वस्तुस्थिति तो यही है कि आत्मा का स्वभाव ही लोकाग्र तक जाना या केवलीसमुद्घात की स्थिति में सम्पूर्ण लोक में फैल जाना है और इस स्वभाव में क्षेत्र और काल की कोई बाधा नहीं होना ही असंकुचितविकासत्व शक्ति का कार्य है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि जब यह विकास अपनी सीमा में ही होता है तो उसे असीमित विकास क्यों कहा जाता है ?

अपनी सीमा में होनेवाला विकास भी तो अनंत है; अत: असीमित कहा और पर में प्रवेश नहीं करता – इसकारण 'अपनी सीमा में है' – ऐसा

कहा गया। अरे भाई ! अनंत आनन्द, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत वीर्य – क्या यह असीमित विकास नहीं है ?

प्रश्न : असंकुचित विकास का अर्थ तो यही है न कि हम जितना चाहें उतना विकास कर लें ?

उत्तर : नहीं, भाई ! तेरी चाह के अनुसार नहीं, अपितु वस्तु के स्वभाव में जितना विकास संभव है, उतना विकास करना ही असंकुचित विकास है; क्योंकि वह भी अनंत है, असीमित है; अत: असंकुचित भी है।

चाह तो असंभव की भी हो सकती है, पर विकास तो जो संभव है, वही होगा। दूसरी बात यह है कि चाह तो विकार है, उसके अनुसर कार्य होना शक्ति का कार्य कैसे हो सकता है ?

हम जितना चाहें उतना ज्ञान हो जाने का नाम केवलज्ञान नहीं है; अपितु लोकालोक के परिपूर्ण ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। इसीप्रकार हम जितना चाहें उतना आनन्द या चाहे जैसे आनन्द की बात नहीं है, अपितु परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की बात है। जिसमें चाह ही न रहे – ऐसा आनन्द, चाह के अभाव में उत्पन्न होनेवाले आनन्द की बात है।

अरे भाई ! चाह तो गुलामी का प्रतीक है, जिसे हमने आजादी समझ लिया है। हमारी इच्छा के अनुसार कार्य हम कर सके तो हमें आजादी लगती है; पर यह तो इच्छा की गुलामी ही हुई न?

इच्छा के अनुसार विकास का नाम असंकुचितविकासत्वशक्ति नहीं है; अपित वस्तु के स्वभावानुसार पूर्ण विकास का नाम असंकुचितविकासत्व शक्ति है।

अपने स्वभाव और सीमा में परिपूर्ण विकसित होने के लिए तुझे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि तुझमें एक असंकुचितविकासत्व नाम की शक्ति है; जिसके कारण तू स्वयं में परिपूर्ण विकास कर सकता है।

इस शक्ति के सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"ज्ञानस्वरूपी अनन्तगुणसमुद्र आत्मा में जिसप्रकार ज्ञानादि शक्तियाँ हैं; उसीप्रकार उनमें असंकुचितविकासत्व नाम की भी एक शक्ति है; जिसका स्वभाव चैतन्य में संकोच के बिना पूर्ण विकसित होना है। तभी तो यह आत्मा पूर्ण विकसित और पूर्ण विलसित होता है। आत्मा का ऐसा स्वभाव इसके अनन्त गुणों में व्यापक है, जिससे इसकी प्रत्येक शक्ति-गुण संकोच बिना पूर्ण विकासरूप खिल जाती है। इसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव असंकुचितविकासमय है।[१]

आत्मा की ज्ञानशक्ति में इस असंकुचितविकासत्वशक्ति का रूप है। ज्ञानशक्ति में असंकुचितविकासत्वशक्ति नहीं है; परन्तु उसमें असंकुचित-विकासत्वशक्ति का रूप है, जिससे ज्ञानशक्ति में संकोच बिना पूर्ण विकास होता है और तीनकाल तथा तीनलोक की पर्यायों को संकोच बिना एक समय में जानती है। चैतन्य का पूर्ण विकास होने पर जानने में कोई मर्यादा नहीं होती कि इतने काल को ही जाने। तीनकाल सहित लोकालोक को मर्यादा बिना एक समय में प्रत्यक्ष जाने – ऐसा अपरिमित पूर्ण अनन्त शक्ति का विकास केवली भगवान के होता है।[२]

ज्ञान में संकोच रहित पूर्ण विकास होता है – ऐसा असंकुचित-विकासत्वशक्ति का रूप है, दर्शन में भी संकोच नहीं रहता और विकास हो जाता है, उसका ऐसा ही स्वरूप है, जिससे असंकोचविकासरूप जो दर्शन वह सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को स्वयं के विकास से ही देखता है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वभावी है, उसमें भी असंकुचितविकासत्व शक्ति का रूप है, जिसके द्वारा आनन्दस्वभाव संकोच बिना पूर्णानन्दस्वरूप में परिणमन करता है तथा जीव में अकषायस्वरूप चारित्र नाम का एक गुण

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२३२
२. वही, पृष्ठ - २३२-२३३

है, उसमें भी इस शक्ति का रूप है, जिससे चारित्र की पूर्ण रमणता-स्थिरता होकर पूर्ण अकषायरूप चारित्र प्रगट होता है।[१]

आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष होकर परिपूर्ण विकसित होता है – ऐसा असंकोचविकासस्वभाव है; परन्तु वह पर्याय में पूर्ण विकासरूप कब होता है? त्रिकाली, प्रत्यक्ष परिपूर्ण एक ज्ञायकभाव का आश्रय करके परिणमे; तब उसकी पर्याय में पूर्ण विकास होता है।[२]

अहा ! प्रभु तुझमें अनन्त शक्तियाँ हैं; वे सभी संकोच बिना विकास पावें – ऐसा प्रत्येक शक्ति का स्वभाव है। जीवत्वशक्ति में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता ऐसे चार भावप्राण हैं, उसका पर्याय में संकोच बिना विस्तार हो – ऐसा जीवत्वशक्ति का स्वभाव है। स्वशक्ति का स्पर्श करके परिणमन करता हुआ ही आत्मा विकास पाता है।[३]

अरे भाई ! यह संकोचरूप अल्पज्ञ पर्याय तुम्हारा स्वभाव नहीं है। तुझमें तो सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व आदि शक्तियाँ पड़ी हैं तथा उनकी पूर्णविकासरूप सर्वज्ञदशा और सर्वदर्शीपना प्रगट होवे – ऐसा आत्मा का असंकोचविकासस्वभाव है; अत: यह अल्पज्ञदशा और राग की दशा जो हेय है; उसकी प्रतीति छोड़ दे। मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं रागी हूँ – ऐसी प्रतीति छोड़ दे, यह तो मिथ्या प्रतीति है।[४]

संकोच बिना अपरिमित विकासरूप से परिणमे – ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव है।[५]

अरे भाई ! तू अल्पज्ञ रहे, अल्पदर्शी रहे, अल्पवीर्यवान, अल्प आनन्दवान रहे – ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; पूर्णानन्द प्रभु, पूर्ण ज्ञानानन्द

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२३३
२. वही, पृष्ठ -२३४
३. वही, पृष्ठ - २३४
४. वही, पृष्ठ -२३५
५. वही, पृष्ठ -२३५-२३६

का दरिया है। ऐसा भेदज्ञान करके अवलोकन से सर्वज्ञता, सर्वदर्शित्व आदि अनन्तशक्तियों में संकोच बिना पूर्ण विकास हो – ऐसे निजस्वभाव की प्रतीति होती है। यह बात समझ लो तो समस्त ही भाव समझ में आ जाय – ऐसी बात है।

यह असंकुचितविकासत्वशक्ति द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल व्यापक है और स्वसन्मुखता द्वारा उसका स्वीकार करने से पर्याय में भी व्यापक हो जाती है। त्रिकाली द्रव्य असंकोचविकासरूप, गुण असंकोचविकासरूप और उसरूप परिणत पर्याय भी असंकोचविस्ताररूप। गजब बात है भाई![1]

ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ असंकुचितविकासत्व को प्राप्त होवें – ऐसा आत्मा का स्वभाव है और वह स्वभाव स्वसन्मुखतारूप अन्तःपुरुषार्थ द्वारा सिद्ध होता है। यही मार्ग है, इसके सिवाय अन्य सब व्यर्थ है।[2]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि अपने स्वभाव की सीमा में असीमित विकास होना, असंकुचितविकास होना ही असंकुचितविकासत्वशक्ति का कार्य है। इस शक्ति का रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियों का अपने-अपने स्वभावानुसार अपनी-अपनी सीमा में असीमित विकास हो सकता है और यह विकास अनन्त शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा के आश्रय से होता है, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से होता है।

इसप्रकार असंकुचितविकासत्वशक्ति का समग्र अनुशीलन करने के उपरान्त अब अकार्यकारणत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं।

१४. अकार्यकारणत्वशक्ति

इस चौदहवीं अकार्यकारणत्वशक्ति की परिभाषा आत्मख्याति में

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२३६
२. वही, पृष्ठ - २३७

इसप्रकार दी गई है–

''अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्व-शक्तिः।

इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा न तो अन्य से किया जाता है और न अन्य को करता ही है ?''

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, कारण नहीं है, कार्य नहीं है;– यह सभी द्रव्यों के सन्दर्भ में जैनदर्शन का सामान्य कथन है। इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर यहाँ अपने आत्मा पर घटित किया जा रहा है।

अनन्त शक्तियों के संग्रहालय इस भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है। द्रव्य और गुण तो अनादि-अनंत होते हैं; इसकारण वे कार्य ही नहीं हैं; अतः उनके सन्दर्भ में तो किसी परद्रव्य के कार्य होने का प्रश्न खड़ा नहीं होता। कार्य तो परिणमन को कहा जाता है, पर्याय को कहा जाता है।

इस भगवान आत्मा का परिणमन भी किसी परद्रव्य का कार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में होनेवाला परिणमन पर के कारण नहीं होता।

इसीप्रकार परद्रव्यों के द्रव्य-गुण भी त्रिकाली होने से कार्य नहीं होते; उनका परिणमन ही उनका कार्य है। उनके परिणमन का कारण यह आत्मा नहीं है; इसलिए यह किसी का कारण भी नहीं है।

इसप्रकार न तो यह भगवान आत्मा किसी परद्रव्य का कार्य है और न किसी परद्रव्य का कारण है। किसी परद्रव्य का कार्य या कारण न बने – इस भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अकार्यकारणत्व-शक्ति है।

परकर्तृत्व के व्यामोह में मोहित लोगों के गले यह बात आसानी से नहीं उतरती; क्योंकि जिसने परद्रव्यों में होनेवाले बहुत से कार्यों का कारण

स्वयं को मान रखा हो, वह व्यक्ति यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि मैंने आजतक पर में कुछ किया ही नहीं।

इसीप्रकार स्वयं के भले के लिए दूसरों की ओर देखनेवालों को यह बात कैसी स्वीकृत हो सकती है कि अपना कार्य मुझे ही करना होगा, उसमें अन्य किसी का कोई भी सहयोग संभव नहीं है।

न तो अज्ञानी आत्मा पर के कर्तृत्व के अभिमान को छोड़ सकता है और न पर के सहयोग की आकांक्षा से भी विराम ले सकता है।

अरे भाई ! न तो तेरे माथे पर में कुछ करने का बोझा ही है और न अपने कल्याण के लिए पर की ओर देखने की व्याकुलता करना ही आवश्यक है।

यह शक्ति अनन्त स्वाधीनता की सूचक और निर्भार रहने का अमोघ उपाय है। यदि एक बार यह बात चित्त की गहराई में उतर जाये तो पर में कुछ करने की अनंत आकुलता और पर मुझमें कुछ कर न दें – इसप्रकार का भय उसी समय समाप्त हो सकता है।

अरे भाई ! न तू किसी का कारण है और न तू किसी का कार्य है। इस बात को गहराई से चित्त में उतार।

इसका स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"जो पर को नहीं करती तथा पर के द्वारा नहीं की जाती – ऐसी एकद्रव्य-स्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति है अर्थात् जो अन्य का कार्य नही है तथा अन्य के कार्य का कारण भी नहीं है – ऐसा जिस द्रव्य का स्वरूप है, वह स्वरूप उस द्रव्य की अकार्यकारणत्वशक्ति है।[1]

परद्रव्य के साथ कार्यकारणभाव से रहित आत्मा का यह अलौकिक अकार्यकारण स्वभाव है।[2]

जिसप्रकार द्रव्य-गुण किसी के कार्य अथवा किसी के कारण नहीं है,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २३८
२. वही, पृष्ठ -२३८

उसीप्रकार पर्याय भी किसी का कार्य अथवा किसी का कारण नहीं है। जो यह अकार्यकारणत्वशक्ति है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त हो जाती है।[१]

द्रव्य अकार्यकारणस्वभावमय, गुण अकार्यकारणस्वभावमय तथा पर्याय भी अकार्यकारणस्वभावमय है। अहो ! जिसप्रकार द्रव्य-गुण अन्य के द्वारा नहीं किए जाते, उसीप्रकार पर्याय भी अन्य के द्वारा नहीं की जाती – ऐसा ही वस्तु का अलौकिक स्वभाव है।[२]

अरे भाई ! यदि अपना कार्य 'पर' करे तो पराधीन होने से हम स्वयं का ही हित नहीं कर सकेंगे।

तथा यदि हम 'पर' का कार्य करें तो हमारा अपना कार्य कौन करेगा ? अत : भाई ! निजकार्य का कारण निज में ही है, 'पर' के साथ निज का कार्यकारण है ही नहीं – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।[३]

भाई ! जो यह अकार्यकारणत्वशक्ति है, वह द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल व्याप्त ही है; त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि करने पर पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है। अहाहा..। प्रत्येक गुण की परिणति 'पर' का कारण नहीं है तथा पर का कार्य नहीं है – ऐसी यह अकार्यकारणत्वशक्ति है।[४]

अकार्यकारणत्वशक्ति की व्याख्या में जो 'एकद्रव्यरूप' ऐसा शब्द है, उससे कई लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो मात्र द्रव्य की बात है; क्योंकि पर्याय तो नई-नई उत्पन्न होती है; अत: उसमें तो पर का कार्य-कारणपना होता ही है।

उससे कहते हैं कि अरे भाई ! तुम्हारी यह मान्यता सही नहीं है; क्योंकि द्रव्य की अकार्यकारणत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २३६
२. वही, पृष्ठ -२३६
३. वही, पृष्ठ -२३६
४. वही, पृष्ठ -२३६

जिसप्रकार द्रव्य अन्य के द्वारा नहीं किया जाता, गुण अन्य के द्वारा नही किये जाते; उसीप्रकार उसकी प्रत्येक पर्याय भी पर के द्वारा नहीं की जाती है।[१]

ज्ञान में, दर्शन में, आनन्द में, चारित्र में, वीर्य में – इसप्रकार प्रत्येक गुण में अकार्यकारणत्व स्वभाव है। गुण की प्रगटता में पर का कारण-कार्यपना किंचित् मात्र भी नहीं है।[२]

सभी अज्ञानी जीव अनादिकाल से पर में स्वयं का कार्य-कारणपना मानकर स्वकार्य के लिए, पर के आश्रित होकर पर में ही प्रवर्तन करते हैं, रमते हैं; परन्तु यह तो संसार में रखड़ने का, दु:ख का पंथ है बापू !

अत: पर के बिना मेरा काम नहीं चलता है तथा पर का काम 'मैं कर दूँगा' ये बात ही छोड़ दो। भाई ! यह भ्रम छोड़कर पर से हटकर स्व में सावधान होओ और पर का काम कभी भी तू करे, ऐसा तेरा स्वरूप ही नहीं है।

अहो ! आत्मा का अकार्यकारणस्वभाव कहकर आचार्यदेव ने पर से भेदज्ञान कराकर स्वाधीन मार्ग बताया है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह भगवान आत्मा पूर्णत: स्वाधीन है; न तो इसे पर में कुछ करना है और न स्वयं के कार्य लिए पर के भरोसे ही रहना है; क्योंकि इसमें अनन्त शक्तियों के साथ-साथ एक ऐसी भी शक्ति है कि जिसके कारण यह आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण ही है। किसी का कार्य व किसी का कारण नहीं होना ही अकार्य-कारणत्वशक्ति का स्वभाव है, कार्य है।

इसप्रकार अकार्यकारणत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं–

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २४३

२. वही, पृष्ठ -२४४

३. वही, पृष्ठ -२४४

१५. परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति

इस पन्द्रहवीं परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति की परिभाषा आत्मख्याति में इसप्रकार दी गई है –

"परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपापरिणम्य-परिणामकत्वशक्ति:–

परनिमित्तिक ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और स्वनिमित्तिक ज्ञानाकारों के ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।"

देखो, पहले अकार्यकारणत्वशक्ति में यह बताया गया था कि आत्मा न तो पर का कार्य है और न पर का कारण। अब इस परिणम्य-परिणामकत्व-शक्ति में यह बताया जा रहा है कि पर का कार्य या कारण नहीं होने पर भी यह आत्मा पर को जानता है और पर के द्वारा जाना भी जाता है। न केवल पर को जानता है और पर के द्वारा जाना जाता है; अपितु स्वयं को भी जानता है और स्वयं के द्वारा जाना जाता है। इसप्रकार इस आत्मा का स्वभाव स्व और पर के जानने एवं स्व और पर के द्वारा जानने में आने का है।

आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।

वस्तुत: ये दो शक्तियाँ हैं – एक परिणम्यशक्ति और दूसरी परिणामकत्व-शक्ति। परिणम्य शक्ति का कार्य है स्व-पर को जानना और परिणामकत्वशक्ति का कार्य है स्व-पर के द्वारा जानने में आना।

परिणम्यशक्ति को प्रमाणशक्ति और परिणामकत्वशक्ति को प्रमेयत्व-शक्ति भी कहा जाता है। उक्त दोनों शक्तियों को मिलाकर यहाँ परिणम्य-परिणामकत्व नाम की एक शक्ति कही है।

आत्मख्याति में प्राप्त इसकी परिभाषा में समागत ग्रहण और ग्राहण शब्दों का अर्थ जानना और जानने में आना समझना चाहिए।

इसप्रकार इस आत्मा में स्व-पर को जानने की और स्व-पर के ज्ञान का ज्ञेय बनने की शक्ति स्वभावत: ही है।

इसका स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''परज्ञेयों को ग्रहण करने के स्वभावरूप जो शक्ति है, वह प्रमाण नाम की परिणम्य शक्ति है और ज्ञानाकारों के ग्रहण कराने के स्वभावरूप जो शक्ति है, वह प्रमेय नाम की परिणामकत्वशक्ति है।

आत्मा में प्रमाण नाम की एक शक्ति है और प्रमेय नाम की भी एक शक्ति है। प्रमाण परिणम्यशक्ति है और प्रमेय परिणामकत्वशक्ति है। ये दोनों मिलकर एक परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

परिणम्य अर्थात् परज्ञेयों द्वारा आत्मा परिणमित होता है अथवा परज्ञेय आत्मा के ज्ञान को परिणमित करवाते हैं – ऐसा इसका अर्थ नहीं है; बल्कि सामने जैसा परज्ञेय है, वैसा ज्ञान का सहज परिणमन स्वयं के स्वभाव से होता है – ऐसा आत्मा का परिणम्य स्वभाव है। स्वभाव से ही पर को जाननेरूप परिणमित होनेवाली प्रमाणशक्ति है। इसे ही परिणम्यशक्ति भी कहते हैं।

तथा 'परिणामकत्व' अर्थात् सामने स्थित अन्य जीव के ज्ञान को यह आत्मा परिणमाता है – ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञान में ज्ञेयपने से झलकने का आत्मा का परिणामकत्व स्वभाव है।

अहा ! आत्मा पर को जाने और पर के ज्ञान में स्वयं ज्ञात हो – ऐसे दोनों स्वभाव उसमें एकसाथ रहते हैं। उनको यहाँ परिणम्य-पारिणामकत्व शक्ति कहा है।[१]

आत्मा पर का कर्ता हो और पर के द्वारा आत्मा का कार्य हो – ऐसा तो आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु अनन्त ज्ञेयपदार्थों के ज्ञेयाकारों को विशेषपने ग्रहण करने के स्वभावरूप आत्मा में प्रमाण नाम की परिणम्यशक्ति है। इसीप्रकार पर के प्रमाण में प्रमेय बनने की अर्थात् स्वयं के ज्ञानाकारों को ग्रहण कराने के स्वभावरूप आत्मा में प्रमेयत्व नाम की (पारिणामकत्व)

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२४५-२४६

शक्ति है। इसमें स्व और पर दोनों वस्तुओं को सिद्ध किया है।[१]

कोई ऐसा कहता है कि आत्मा पर को जानता है, परन्तु स्व को नहीं जानता है; उसकी यह बात झूठी सिद्ध हो गई; क्योंकि आत्मा में स्व-पर को जाननेरूप यह प्रमाणशक्ति है। तथा कोई ऐसा कहता है कि आत्मा स्व को जानता है, परन्तु पर को नहीं जानता है तो उसकी यह बात भी झूठी है। उसको आत्मा में स्व-पर को जाननेरूप प्रमाणशक्ति की खबर नहीं है।

तथा आत्मा में एक प्रमेय नाम की भी शक्ति है, उसका कार्य क्या है ? तो कहते हैं कि पर के प्रमाणज्ञान में स्वयं के ज्ञेयाकारों को ग्रहण कराने का, अर्पण कराने का उसका स्वभाव है। इसप्रकार प्रमाण-प्रमेय दोनों मिलाकर यह एक परिणमम्य-परिणामकत्व शक्ति यहाँ आचार्यदेव ने कही है।

पर की रचना करके, उसे परिणमन कराये ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; परन्तु पर का ज्ञाता तथा पर का ज्ञेय बनना, ऐसा आत्मा का यह परिणम्य-परिणामकत्व स्वभाव है। बहुत सूक्ष्म बात है भाई ![२]

तुम्हारी एक-एक पर्याय में स्व-पर का ज्ञान करने की और स्व-पर का ज्ञेय होने की अद्भुत शक्ति है।[३]

अनन्त शक्तियों में आत्मा की एक ऐसी शक्ति भी है कि जिससे आत्मा स्वयं स्व-पर का ज्ञाता होता है और स्व-पर का ज्ञेय भी होता है।[४]

यहाँ तो इतनी बात है कि पर ज्ञेयाकार स्वयं के ज्ञान में निमित्तमात्र हैं तथा स्वयं के ज्ञानाकार पर के ज्ञान में निमित्तमात्र हैं, यह ही आत्मा का परिणम्य-परिणामकत्व स्वभाव है।

भाई ! वीतराग सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि मेरे ज्ञान में तुम ज्ञेय तरीके

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - २४६
२. वही, पृष्ठ -२४६-२४७
३. वही, पृष्ठ -२४८
४. वही, पृष्ठ - २४८

ज्ञात होने लायक हो; परन्तु तुम मेरे कुछ नहीं हो तथा मैं भी परद्रव्यस्वरूप केवलज्ञानी जीव के ज्ञान में प्रमेय होने लायक हूँ; परन्तु उनका मैं कुछ नहीं हूँ – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है भाई !

कई लोग स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं; परन्तु स्त्री अर्धांगिनी नहीं है, वह तो तुम्हारे ज्ञान का ज्ञेय है। उस ज्ञेय का ज्ञान करनेवाली जो ज्ञान की परिणति है, वह तेरी है; क्योंकि स्वपर को जानने का आत्मा का स्वभाव है। आत्मा परज्ञेय का कार्य करे अथवा परज्ञेय स्वयं का हो जाय – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है।[१]''

स्वामीजी के उक्त कथनों में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि आत्मा स्व और पर दोनों को ही जानता है और स्व और पर दोनों के द्वारा ही जानने में आता है।

जो लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानता; उन्हें स्वामीजी के उक्त कथनों पर और इस परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति के स्वरूप का गंभीरता से विचार करना चाहिए।

मैं स्वयं को जानूँ और पर को भी जानूँ; इसीप्रकार स्वयं के द्वारा जाना जाऊँ और पर के द्वारा भी जाना जाऊँ – इसप्रकार इसमें चार बिन्दु हो गये।

पहला स्वयं को जानना, दूसरा पर को जानना तीसरा स्वयं के द्वारा जानने में आना और चौथा पर के द्वारा जानने में आना। इन चारों प्रकार की योग्यता का नाम ही परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।

यहाँ एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस शक्ति का स्वरूप जानने से लाभ क्या हैं ?

मैं स्वयं को जानने की शक्ति का धारक हूँ और मुझमें स्वयं के जानने में आने की भी शक्ति है। इसप्रकार मैं ही मेरा ज्ञाता हूँ और मैं ही मेरा ज्ञेय हूँ। जाननेवाला भी मैं हूँ और जानने में आनेवाला भी मैं हूँ – ऐसा ज्ञान होने पर

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२५०-२५१

मेरा आत्मा तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उसे मैं कैसे जान सकता हूँ, वह मेरे जानने में कैसे आ सकता है ? इसप्रकार का अनुत्साह का भाव समाप्त हो जाता है और स्वयं के आत्मा को स्वयं ही जानने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है, इसप्रकार का पुरुषार्थप्रेरक भाव उत्पन्न होता है।

कहा भी है –

जब मैं स्वयं ही ज्ञेय हूँ, जब मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ।
जब मैं स्वयं ही ध्येय हूँ, जब मैं स्वयं ही ध्यान हूँ॥
जब मैं स्वयं आराध्य हूँ, जब में स्वयं आराधना।
जब मैं स्वयं ही साध्य हूँ, जब मैं स्वयं साधना॥
जब जानना पहिचानना निज साधना आराधना।
ही बोधि है तो सुलभ ही है बोधि की आराधना॥[1]

पर को जानने की शक्ति का भान होने से और यह मेरा सहज स्वभाव है – ऐसी प्रतीति होने से 'पर को जानकर मैंने कोई अपराध किया है' – इसप्रकार का अपराध बोध समाप्त होता है। पर का जानना बंध का कारण नहीं हो सकता;क्योंकि वह ही मेरा सहज स्वभाव है। यदि स्वभाव ही बंध का कारण होगा तो फिर मुक्ति का कारण कौन होगा ? बंध के कारण तो दर्शनमोहजन्य मिथ्यात्व और चारित्रमोहजन्य कषाय भाव हैं – ऐसा विश्वास हो जाता है। पर के जानने को बंध का कारण मानने की महान भूल से बच जाता है।

परजीव मुझे जानते हैं, जान सकते हैं – ऐसी शक्ति का भान होने पर गुप्तता का भाव समाप्त हो जाता है। अज्ञानी निरन्तर इस प्रयत्न में रहता है कि कोई मुझे जान न ले। उसे अपनी गुप्तता भंग होने का भय सदा ही सताता है। पर ज्ञानी जानते हैं कि कोई मुझे जान लेगा तो उससे मुझे क्या हानि हो सकती है ? मेरा सुख-दु:ख तो पूर्णत: स्वयंकृत ही है, उसमें तो पर

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्लकृत बारह भावना : बोधिदुर्लभ भावना

का कोई हस्तक्षेप है ही नहीं। परजीवों के जानने में आना तो मेरा सहज स्वभाव है; इसमें किसी भी प्रकार की आकुलता करने से क्या लाभ है ?

जब हम एकेन्द्रियादि पर्यायों में रहे; तब यदि परजीव हमें जान भी न पाते तो फिर वे हमारी दया कैसे पालते ? अत: मैं उनके जानने में आऊँ – इससे हानि तो कुछ है ही नहीं, लाभ ही लाभ है।

यदि मैं पर को नहीं जानूँगा तो उनकी दया कैसे पालूँगा और यदि पर जीव मुझे नहीं जानेंगे तो वे भी मुझसे जीव के समान व्यवहार कैसे करेंगे ?

अरे भाई ! जीवदया का प्रतिपादन करनेवाला चरणानुयोग पूर्णत: इसी पर को जानने और पर के द्वारा जानने में आने के आधार पर खड़ा है। इससे इन्कार करने पर चरणानुयोग का महल ध्वस्त हो जावेगा।

यदि हम अपने को ही जाने, पर को नहीं जाने तो देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि जाने बिना भक्ति कैसी ?

यदि पर को ही जाने, अपने को नहीं जाने तो आत्मध्यान नहीं हो सकता, ज्ञान बिना ध्यान किसका ?

यदि हम परके द्वारा नहीं जाने जावे तो गुरु हमें देशना कैसे देंगे अर्थात् देशनालब्धि संभव नहीं होगी। इसीप्रकार यदि हम स्वयं के ज्ञेय न बने तो करणलब्धि संभव नहीं होगी, आत्मानुभूति संभव नहीं होगी।

दूसरों के जानने में आने से बचना संभव नहीं है – यह ज्ञान होने पर गुप्त रहकर पाप करने की भावना समाप्त हो जाती है और यह आत्मा बहुत से पापों से सहज ही बच जाता है।

परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति के सम्यक् अनुशीलन में उक्त सभी समस्याओं का समुचित समाधान है।

कुछ लोग ऐसा भी कह सकते हैं कि भाई ! अभी तो पंचमकाल है; अभी ऐसी शक्ति कैसे हो सकती है ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! द्रव्यशक्तियाँ किसी काल की अपेक्षा नहीं

रखती; वे तो त्रिकाल होती हैं। हम सभी में आज भी ऐसी शक्ति है कि हम स्वयं को जाने, पर को जाने तथा स्वयं के जानने में आवे और पर के भी जानने में आवें।

ये शक्तियाँ त्रिकाल अनंत स्वतंत्रता की सूचक हैं। इनके होने में क्षेत्र-काल की कोई बाधा नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि जब आत्मा पर में कुछ कर ही नहीं सकता तो इन शक्तियों के नाम में परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति अर्थात् परिणमन करना और परिणमन कराना – इसप्रकार के शब्दों का प्रयोग क्यों किया ?

इसका समाधान यही है कि यहाँ जाननेरूप परिणमन और जानने मेंआने रूप परिणमन की बात है, करने-करानेरूप परिणमन की बात नहीं। जानना और जानने में आना भी तो परिणमन है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि आत्मा में इसप्रकार की शक्ति स्वभावत: ही है कि वह स्वयं को जाने, पर को जाने तथा स्वयं के जानने में आवे और पर के जानने में आवें – इसप्रकार की शक्ति का नाम ही परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति है।

परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

१६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतरूपात्यागोपादान शून्यत्वशक्ति:–

जो न तो कम है और न अधिक ही है – ऐसे सुनिश्चित स्वरूप में रहने रूप है स्वरूप जिसका, वह त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है।''

यह भगवान आत्मा स्वयं में परिपूर्ण तत्त्व है, इसमें न तो कोई कमी है

और न कुछ अधिकता ही है। यदि कमी होती तो ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता और अधिकता होती तो उसका त्याग करना भी अनिवार्य हो जाता।

ग्रहण और त्याग क्रमश: कमी और अधिकता के सूचक हैं। यदि हमें कुछ ग्रहण करने का भाव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने स्वभाव में कुछ न्यूनता का अनुभव करते हैं। इसीप्रकार त्यागने के भाव के साथ भी यह प्रतीति कार्य करती है कि हममें कुछ अधिकता है, जिसे छोड़ना आवश्यक है। त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे त्यागा जाय और ऐसी कोई कमी भी नहीं है कि बाहर से उसकी पूर्ति करनी पड़ी। भगवान आत्मा के इस परिपूर्ण स्वभाव का नाम ही त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है।

इस शक्ति के स्वरूप को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव से भरपूर है। वह पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। यह आत्मा का त्यागोपादानशून्यत्वगुण नामक स्वभाव है। निज त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर परिणमन करने पर त्यागोपादानशून्यत्वगुण का परिणमन भी प्रगट हो जाता है, जिससे प्रगट पर्याय में परद्रव्य का, परभाव का, ग्रहण-त्याग नहीं होता।

यहाँ प्रगट शुद्ध पर्याय को घट-बढ़ रहित बताया जा रहा है, अशुद्ध पर्याय को नहीं। स्वयं में प्रगट होनेवाली यह पर्याय पूर्ण शुद्ध हो या अपूर्ण शुद्ध हो, वह पूर्ण द्रव्य को ही सिद्ध करती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भी पूर्ण द्रव्य को सिद्ध करती है; अत: उस पर्याय को भी पूर्ण कहा जाता है।[१]

प्रत्येक गुण की पर्याय में त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का रूप है, जिससे ज्ञान की पर्याय परज्ञेय के ग्रहण-त्याग से शून्य है। आनन्द की पर्याय आकुलता के ग्रहण-त्याग से शून्य है।[२]"

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२५८
२. वही, पृष्ठ -२५८

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि इस भगवान आत्मा ने न तो आजतक किसी परपदार्थ का ग्रहण ही किया है और न किसी को छोड़ा ही है। छोड़ना तो ग्रहणपूर्वक ही होता है; जब ग्रहण ही नहीं किया तो फिर छोड़े भी किसे ?

प्रश्न : हम प्रतिदिन ही कुछ न कुछ ग्रहण करते हैं और कुछ न कुछ छोड़ते भी हैं। शास्त्रों में भी आता है कि चक्रवर्ती ने चौरासी लाख हाथी छोड़े, अठारह करोड़ घोड़े छोड़े, छह खण्ड की विभूति छोड़ी, छ्यानवे हजार पत्नियाँ छोड़ीं; फिर भी आप कहते हो कि आज तक किसी ने कुछ भी नहीं छोड़ा। तथा हम सभी आहारादि का ग्रहण करते ही हैं और उपवासादि में भोजनादि छोड़ते भी हैं। यदि आत्मा ने आज तक कुछ भी ग्रहण नहीं किया और न कुछ छोड़ा है तो फिर यह सब क्या है ?

उत्तर : अरे भाई ! जब आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि जिससे किसी को ग्रहण करे या छोड़े। उसमें ऐसी कोई कमी ही नहीं है कि वह उसकी पूर्ति के लिए किसी को ग्रहण करें तथा अपने स्वरूप के अतिरिक्त उसके पास कुछ है ही नहीं; तो छोड़े भी क्या ?

अब रही ग्रहण करने और छोड़ने के व्यवहार की बात; सो भाई ! चाहे लौकिक कथन हों, चाहिए शास्त्रों में समागत व्यवहार कथन हों; वे सभी कथन उपचरित ही समझने चाहिए।

हाँ, यह बात अवश्य है कि अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि मैंने ग्रहण किया, त्याग किया; कदाचित् ज्ञानियों के भी कमजोरी के कारण ग्रहण-त्याग के विकल्प आ सकते हैं; तथापि उन्होंने उक्त मान्यता और राग का ही ग्रहण किया है। त्याग भी उक्त मान्यता और रागभाव का ही होता है।

स्वामीजी तो यहाँ तक कहते हैं कि मिथ्यात्व और रागभाव का भी ग्रहण-त्याग कहना उपचरित कथन है। परपदार्थों के ग्रहण-त्याग की बात उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय का कथन है और उल्टी मान्यता और

रागभाव के ग्रहण-त्याग का कथन उपचरित-सद्भूतव्यवहार का कथन है।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति का कथन निश्चयनयाश्रित होने से परमार्थ है, सत्यार्थ है और ग्रहण-त्याग की चर्चा व्यवहाराश्रित होने से असत्यार्थ है, अभूतार्थ है।

समयसार परमागम की मूल गाथा में कहा गया है –

तम्हा दु जो विसुद्दो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं॥४०७॥

इसलिए यह विशुद्धात्मा जीव और अजीव परद्रव्यों में से कुछ भी ग्रहण नहीं करते और न कुछ छोड़ते ही हैं।

इसका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

इसलिए यह शुद्धातमा परजीव और अजीव से।
कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता॥४०७॥

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह भगवान आत्मा परद्रव्य और परभावों के ग्रहण-त्याग से शून्य है, रहित है। आत्मा के इसप्रकार के त्रिकाली स्वभाव का नाम ही त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है।

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब अगुरुलघुत्व-शक्ति की चर्चा करते हैं –

१७. अगुरुलघुत्वशक्ति

अगुरुलघुत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है–

''षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्ट-गुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः –

अगुरुलघुत्वशक्ति षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि रूप से परिणमित स्वरूप प्रतिष्ठित्व का कारणरूप विशेष गुणात्मक है।''

न केवल आत्मा में अपितु प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक पर्याय में षट्गुणी वृद्धि और षट्गुणी हानि निरन्तर हुआ करती है। गजब की बात तो यह है कि यह वृद्धि और हानि एक ही वस्तु में एक साथ ही होती है।

१. अनंतगुणवृद्धि २. असंख्यगुणवृद्धि ३. संख्यगुणवृद्धि ४. संख्यभागवृद्धि ५. असंख्यभागवृद्धि और ६. अनन्तभागवृद्धि – इसप्रकार ये छह प्रकार की वृद्धियाँ हैं।

इसीप्रकार १. अनंतगुणहानि २. असंख्यगुणहानि ३. संख्यगुणहानि ४. संख्यभागहानि ५. असंख्यभागहानि और ६. अनंतभागहानि – ये छहप्रकार की हानियाँ हैं।

इसप्रकार छह वृद्धि और छह हानि कुल मिलाकर बारह प्रकार की वृद्धि-हानि निरन्तर प्रत्येक आत्मा में, उनके गुणों और उनकी पर्यायों में होती रहती है; क्योंकि उनमें अगुरुलघुत्वशक्ति का रूप है, उनमें अगुरुलघुत्व -शक्ति व्याप्त है।

यह बात केवलज्ञानगम्य है, क्षयोपशयम ज्ञान में तो मात्र आगम से ही जानी जाती है; अतः इसके बारे में कुछ विशेष कहना संभव नहीं है। बस, इतना समझ लेना कि आत्मा में एक इसप्रकार की भी शक्ति है।

इस सन्दर्भ में विशेष जानने की भावना हो तो गोम्मटसारादि करणानुयोग के ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए।

उक्त अगुरुलघुत्वशक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"षट्गुणवृद्धि, षट्गुणहानि और एक-एक समय में षट्गुणवृद्धि-हानि होवे – ऐसा जीव का कोई अचिन्त्य अगुरुलघुत्वस्वभाव है।

अगुरुलघुत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है। अगुरुलघुत्व-स्वभाव अनंतगुणों में व्यापक है। अगुरुलघुत्व गुण दूसरे अनंतगुणों में है, ऐसा नहीं है; परन्तु अन्य अनन्त गुणों में अगुरुलघुत्वगुण का रूप है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में भी अगुरुलघुत्वगुण का रूप है। आत्मा में

जो यह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान आदि पर्यायें होती हैं, उन सभी में षट्गुणहानिवृद्धि होवे – ऐसा अगुरुलघुत्वस्वभाव है। यह केवलीगम्य है।[१]

केवलज्ञान की पर्याय में भी एक समय में षट्गुणवृद्धि-हानि होती है। केवलज्ञान तो जैसे का तैसा रहता है। तीन काल, तीन लोक सहित लोकालोक को जानता है। षट्गुणवृद्धिहानि होने पर भी उसमें कोई कमोवेशी नहीं होती। अहा ! ऐसा ही कोई अगुरुलघुत्वस्वभाव है, जिसे भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है और परमागम में बताया है। यह बात किसी तर्क से, युक्ति से समझ में नहीं आ सकती। अत: इसे आगमप्रमाण से मानना चाहिए।[२]

एकसमय में, एकसमय की पर्याय में छहप्रकार की वृद्धि और छहप्रकार की हानि – ऐसे बारह बोल एक साथ लागू होते हैं। प्रत्येक गुण की, प्रत्येक समय की, प्रत्येक पर्याय में षट्गुणवृद्धिहानि होती है। एकसमय में षट्गुणवृद्धि और दूसरे समय में षट्गुणहानि हो – ऐसा नहीं है। प्रत्येक पर्याय में बारह बोल एकसाथ लागू होते हैं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने एकसमय में षट्गुणवृद्धिहानि प्रत्येक पर्याय में देखी है।[३]

यह आत्मद्रव्य षट्गुणस्थानपतित वृद्धि-हानिरूप से परिणमित होता है; फिर भी उसकी स्वरूपप्रतिष्ठा के कारणरूप यह शक्ति विशिष्टगुणस्वरूप है। इसका अर्थ यह है कि भगवान आत्मा अनंतगुण निधानप्रभु सदा अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है, टिका रहता है, वह अपने स्वरूप से च्युत होकर कभी जड़रूप नहीं होता, उसका कोई गुण अन्यगुणरूप नहीं होता तथा उसके अनंतगुण द्रव्य से निकलकर अलग-अलग नहीं हो जाते; उसीप्रकार द्रव्य की, आत्मा की कोई पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं हो जाती।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२६२

२. वही, पृष्ठ -२६३

३. वही, पृष्ठ -२६४

वह अपने स्वरूप में ही टिकी रहती है।

अहो ! स्वरूप में प्रतिष्ठित रहनेरूप आत्मा का यह कोई अलौकिक स्वभाव है। स्वरूप घटता नहीं है, बढ़ता नहीं है; स्वरूप का कोई अंश (गुण) कभी छूटता नही है, अन्यरूप नहीं होता है और नया गुण उसमें नहीं आता है। ऐसा अगुरुलघुत्वस्वभावी भगवान आत्मा है, उसे समझकर दृष्टिगत करने पर पर्याय में निर्मलता ही निर्मलता प्रगट होती है। यही धर्म है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यद्यपि यह आत्मा पर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता न उन्हें त्यागता ही है; तथापि उसके भीतर षट्गुणी वृद्धि और हानि निरन्तर हुआ करती है। षट्गुणी वृद्धि-हानि होने पर भी उसका पर से कोई सम्बन्ध नहीं है, तत्संबंधी ग्रहण-त्याग भी नहीं है।

प्रश्न : जब आत्मा में वृद्धि और हानि होती है तो फिर ग्रहण-त्याग भी हो ही गया।

उत्तर : नहीं भाई ! यह आत्मा की अन्तर में होनेवाली केवलज्ञानगम्य प्रक्रिया है; इसका पर के ग्रहण और त्याग से कोई संबंध नहीं है।

इसप्रकार अगुरुलघुत्वशक्ति की चर्चा के उपरान्त अब उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं–

१८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति

इस अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

''क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः–

क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्तिरूप वर्तना है लक्षण जिसका, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है।''

प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है तथा सत् द्रव्य का लक्षण है,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ-२६५

जो उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है। महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के निम्नांकित सूत्रों से यह बात सहजता से स्पष्ट हो जाती है –

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। सत्द्रव्यलक्षणम्। गुणपर्ययवद् द्रव्यम्– सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। ऐसा सत् द्रव्य का लक्षण है और द्रव्य गुण और पर्यायवाला होता है।"

क्रमवर्तीरूप पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप हैं और अक्रमवर्तीरूप गुण ध्रौव्यरूप होते हैं।

भगवान आत्मा भी एक द्रव्य है; अत: वह भी गुण-पर्यायवाला है तथा उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व से संयुक्त है।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि अनन्त शक्तियों से सम्पन्न भगवान आत्मा में एक ऐसी भी शक्ति है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा स्वयं ही उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से सहित है। उक्त शक्ति का नाम ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति है।

तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा को स्वयं का अस्तित्व धारण करने के लिए, स्वयं को कायम रखने के लिए पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। न तो ध्रुव अस्तित्व को टिकाये रखने में पर के सहयोग की आवश्यकता है और न स्वयं में प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद-व्ययरूप परिवर्तन करने के लिए ही पर के सहयोग की अपेक्षा है; क्योंकि यह भगवान आत्मा इस शक्ति के कारण स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व सम्पन्न है।

उक्त शक्ति के स्वरूप को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"क्रमवृत्तिरूप अर्थात् एक के बाद एक वर्तनेरूप पर्याय है और अक्रमवर्तीरूप सभी गुण एक साथ त्रिकाल मौजूद हैं। पर्यायें एक के बाद एक क्रमश: ऊर्ध्वप्रवाहरूप से क्रमबद्ध उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवर्तीरूप गुण ध्रुवत्वरूप है। इसप्रकार समस्त द्रव्य क्रम-अक्रमवृत्ति द्वारा उत्पादव्यय-

ध्रुवत्वस्वभाववाला है।[१]

यह क्रम और अक्रमरूप वर्तने का स्वभाव आत्मा की एक-एक शक्ति में लागू होता है; क्योंकि क्रमवर्तीरूप, अक्रमवर्तीरूप वर्तना जिसका लक्षण है – ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति आत्मा की एक-एक शक्ति में व्याप्त है।[२]

द्रव्य के समस्त गुणों का ऐसा स्वभाव है कि वे गुण गुणरूप से और ध्रौव्य रहने पर भी क्रमवर्ती पर्यायों में परिणमते हैं।

सुनो तो सही बापू ! तेरे आत्मद्रव्य की एक-एक शक्ति अनन्त गुणों में व्यापक है। एक-एक शक्ति अनंत गुणों में निमित्त है। एक-एक शक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय – तीनों में व्यापती है। एक-एक शक्ति ध्रौव्य उपादान है और उसकी पर्याय क्षणिक उपादान है – उसमें अक्रमरूप से रहनेवाला ध्रुव उपादान है और क्रम से वर्तना क्षणिक उपादान है।[३]''

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि यह उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति एक प्रकार से अस्तित्व गुण का ही रूपान्तर है। यहाँ शक्ति के प्रकरण में इसे स्थान देने का एकमात्र यही कारण है कि आचार्यदेव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि नित्य कायम रहकर भी निरन्तर बदलते रहना और निरन्तर बदलते रहकर भी नित्य कायम रहना आत्मा का सहजस्वभाव है; इसमें पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

इस उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब परिणाम-शक्ति की चर्चा करते हैं –

१९. परिणामशक्ति

इस उन्नीसवीं परिणामशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२६६
२. वही, पृष्ठ -२६७
३. वही, पृष्ठ -२६७

''द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकारित्व-मात्रमयी परिणामशक्तिः –

द्रव्य के स्वभावभूत उत्पादव्ययध्रौव्य से आलिंगित सदृश और विसदृश एक रूप वाली अस्तित्वमयी परिणामशक्ति है।''

उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व द्रव्य के स्वभाव हैं। इनमें ध्रुवत्वभाव सदृश परिणाम है, सदा एक जैसा रहनेवाला परिणाम है तथा उत्पाद-व्यय विसदृश परिणाम है; क्योंकि वे दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक का स्वभाव उत्पन्न होनेरूप है और दूसरे का स्वभाव नाश होनेरूप है; इसकारण वे परस्पर विरुद्धस्वभाववाले हैं, विसदृशस्वभाववाले हैं।

उत्पाद-व्यय विसदृश व ध्रौव्य सदृशस्वभाववाला होने पर भी तीनों एक ही हैं; क्योंकि अस्तित्व तीनों का एक रूप में ही है। तीनों का नाम ही परिणाम है।

कुछ लोग परिणमन को ही परिणाम या भाव समझते हैं; किन्तु परिणाम व भाव शब्द परिणमित होनेवाले उत्पाद-व्यय के लिए भी प्रयुक्त होता है और अपरिणामी ध्रुव के लिए भी प्रयुक्त होता है।

परिणमित होकर भी ध्रुव रहना और ध्रुव रहकर भी परिणमित होना ही परिणामशक्ति का कार्य है अथवा परिणामशक्ति है।

कुछ लोग उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति और परिणामशक्ति में भेद नहीं कर पाते हैं। इन दोनों में भेद करना आसान भी नहीं है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति को क्रमाक्रमवृत्तवृत्ति लक्षणवाली कहा गया है और परिणामशक्ति को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से आलिंगित सदृश-विसदृश परिणामों की एकरूपतारूप कहा गया है।

दोनों शक्तियों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व तो है ही। इस कारण भेद समझने में कठिनाई होती है; परन्तु एक शक्ति में क्रमवर्ती पर्यायें और अक्रमवर्ती गुणों वाले उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से संयुक्त द्रव्यस्वभाव की चर्चा है तो दूसरी

शक्ति में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में विद्यमान सदृशता-विसदृशता की एकरूपता की चर्चा है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति का कार्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त होना मात्र है और परिणामशक्ति का कार्य परस्पर विरुद्ध-अविरुद्ध परिणामों का टिका रहना और परिणमित होते रहना है।

ध्रुवरूप परिणाम तो अपरिणामी ही है, वह सदा अपरिणामी ही रहे – यह भी परिणामशक्ति का कार्य है और निरन्तर बदलनेवाले उत्पाद-व्ययरूप परिणाम अपने सुनिश्चितक्रमानुसार बदलते रहें, एक समय को भी बदले बिना न रहें – यह भी परिणामशक्ति का कार्य है।

ध्रुवरूप में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होना और उत्पाद-व्ययरूप में निरन्तर परिणमित होते रहना आत्मवस्तु का मूलस्वरूप है। आत्मवस्तु के इसी मूलस्वरूप का नाम परिणामशक्ति है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति में **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** और **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** तत्त्वार्थसूत्र के इन दोनों सूत्रों को समाहित कर लिया गया है।

परिणामशक्ति में ध्रुव भावों का कायम रहना और अध्रुव (परिवर्तनशील) भावों का परिणमित होते रहना सुनिश्चित किया गया है।

इसप्रकार इन दोनों में मूलभूत अन्तर है।

उक्त शक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"आत्मा द्रव्य है तथा उसके स्वभाव ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद हैं। ध्रौव्य-नित्य टिकनापना और क्षण-क्षण में होनेवाले उत्पाद-व्यय होना भी द्रव्य के स्वभाव से ही हैं, पर से नहीं। पर के कारण से तो आत्मा के परिणाम होते ही नहीं हैं।

द्रव्य की जो सत्ता (अस्तित्व) है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की भिन्न-भिन्न सत्ता नहीं है; बल्कि तीनों

मिलकर एक सत्ता है। तीनों से अभिन्न एक, अस्तित्वमात्रमयी परिणाम अपेक्षा से वह विसदृश है। अहा ! ऐसे सदृश-विसदृशरूप एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है।[१]

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा द्रव्य है और एकसमय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का आलिंगन करता है। यदि द्रव्य न हो तो परिणाम किसमें होगा ? और यदि उत्पाद-व्यय न हों तो परिणाम किसप्रकार उत्पन्न होगा ? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों के एकसाथ हुए बिना परिणामशक्ति बन ही नहीं सकती। इसीलिए तो कहा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से अभिन्न एक अस्तित्वमयी परिणामशक्ति है।[२]

उसमें जो ध्रुव है वह सदृश एकरूप है और उत्पाद-व्यय विसदृश है। उत्पाद-व्यय एक समान नही हैं, परस्पर विरुद्ध हैं; अत: उन्हें विसदृश कहा है। धवल में तीनों को विरुद्ध और अविरुद्ध कहा है।[३]

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति और उन्नीसवीं परिणामशक्ति दोनों एक ही हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। क्रमवर्ती और अक्रमवर्तीरूप वर्तना जिसका लक्षण है – ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशक्ति कही है। अब इस परिणामशक्ति में यह कहते हैं कि ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय से आलिंगित सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसी एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है – इसप्रकार दोनों में अन्तर है।[४]

ध्रौव्य त्रिकाल एकरूप है; अत: वह सदृश और पर्याय उत्पाद-व्ययरूप भाव-अभावरूप ऐसी दो प्रकार की है; अत: वह विसदृश है। अहो ! ऐसे सदृश-विसदृशरूप एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है।

यहाँ कोई पूछता है कि जो परिणाम होता है, वह गुण में से होता है या

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२७९
२. वही, पृष्ठ -२७९-२८०
३. वही, पृष्ठ -२८०-२८१
४. वही, पृष्ठ - २८१-२८२

ध्रौव्य में से ?

चिद्विलास में इसका समाधान किया है कि ध्रौव्य परिणमित होता है, गुण नहीं। परिणमनशक्ति द्रव्य में है।

इस संबंध में चिद्विलास में निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया है।

कोई प्रश्न करता है कि गुण द्वार से जो परिणति उत्पन्न हुई है, वह गुण की अथवा द्रव्य की। यदि गुण की हो तो गुण तो अनन्त हैं, जिससे परिणति भी अनंत होना चाहिए और परिणति द्रव्य की हो तो उसे गुण की परिणति क्यों कहते हो ?

उसका समाधान – यह परिणमनशक्ति द्रव्य में है और द्रव्य गुणों का पुन्ज है। वह अपने गुणरूप से स्वयमेव परिणमता है, जिससे गुणमय परिणमन को गुणपर्याय कहते हैं, जिसे द्रव्य की परिणति, गुण की परिणति – ऐसा तो कहते हैं; परन्तु वह परिणमनशक्ति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं। इसका प्रमाण तत्त्वार्थसूत्र में दिया है–

द्रव्याश्रया निर्गुणागुणाः द्रव्य के आश्रय से तो गुण रहते हैं, पर गुण के आश्रय से गुण नहीं। **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** अर्थात् गुण-पर्यायवाला द्रव्य है, ऐसा भी कहा है। पर्यायवाला द्रव्य को कहा है, गुण को नहीं; परिणमन शक्ति द्रव्य से है। द्रव्य गुणलक्षण से परिणमित होता है, जिससे क्रम अक्रमस्वभाव द्रव्य का कहा है तथा वहाँ भी क्रमवर्ती पर्याय एवं अक्रमवर्ती गुणों के समुदाय को आत्मा कहा है।[१]

जब द्रव्य का परिणमन होता है, तब सभी गुणों का परिणमन एकसाथ होता है; परन्तु यहाँ द्रव्य द्रवित होता है – ऐसा कहकर भेद की वासना मिटाकर द्रव्यदृष्टि कराई गयी है। जिसप्रकार पानी में तरंग उठती है; उसीप्रकार द्रव्यरूप वस्तु में तरंग उठती है। गुण द्रवित होता है, पर्याय द्रवित होती है – ऐसा कहना भेद का कथन है। वास्तव में आनन्द की जो परिणति उत्पन्न

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२८२-२८३

होती है, वह आनन्द गुण में से नहीं, द्रव्य में से उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शनरूप निर्मल श्रद्धान की जो परिणति उत्पन्न होती है, वह श्रद्धागुण में से नहीं; परन्तु द्रव्य में से उत्पन्न होती है। श्रद्धागुण सम्यग्दर्शनरूप हुआ है – यह तो भेद का कथन है। परमार्थ से त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा ही सम्यग्दर्शनरूप में परिणत होता है। इसप्रकार गुण परिणमित होते हैं – ऐसा अर्थ न लेकर द्रव्य परिणमित होता है – ऐसा अर्थ करना परमार्थ है।[१]

द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् – इसप्रकार ये तीनों सत् कहलाते हैं; परन्तु वास्तव में तीन सत् नहीं हैं। तीनों मिलकर एक सत् हैं। सत् द्रव्य का लक्षण है। अहाहा ! ध्रौव्य, व्यय, उत्पाद से आलिंगित सत् द्रव्य का लक्षण है। इसप्रकार जगत के सभी द्रव्य सत् हैं; अत: सभी द्रव्यों का कायम रहकर बदलना अपने-अपने स्वभाव से ही होता है। किसी के कारण से किसी का बदलाव है ही नहीं।[२]''

स्वामीजी के उक्त कथन में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे चिद्विलास का उद्धरण देकर यह स्पष्ट करते हैं कि परिणमन द्रव्य में होता है, गुणों में नहीं। गुण द्रव्य के ही अंश हैं; इसकारण द्रव्य में होनेवाला परिणमन गुणों में भी होता है; तथापि परिणामशक्ति द्रव्य में है और उसके कारण ही द्रव्य में परिणमन होता है।

प्रश्न : अन्य गुणों में परिणामशक्ति का रूप होने से वे भी परिणमनशील कहे जा सकते हैं ?

उत्तर : क्यों नहीं ? अवश्य कहे जा सकते हैं; पर ध्यान में रखने की बात यह है कि अन्य गुणों में परिणामशक्ति का रूप है, परिणामशक्ति नहीं; क्योंकि एक गुण दूसरे गुण में नहीं रहता; सभी गुण द्रव्य में रहते हैं, द्रव्याश्रयी होते हैं, निर्गुण होते हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२८४

२. वही, पृष्ठ -२८५-२८६

अन्य गुणों में परिणामशक्ति न होने से परिणमन को गुणों का नहीं कहकर द्रव्य का कहा जाता है। फिर भी उनमें परिणामशक्ति का रूप होने से वे भी परिणमनशील ही हैं।

परिणामशक्ति के स्वरूप को जानने का पहला लाभ तो यह है कि हमारा मूल ध्रुवस्वभाव इसी शक्ति के कारण पूर्ण सुरक्षित है। वह अनादि से जैसा है, अनन्त काल तक वैसा ही रहेगा; न तो उसका नाश ही हो सकता है और न उसमें कोई बदलाव ही होता है।

दूसरे हममें होनेवाले सुनिश्चित परिवर्तन के लिए भी हमें पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस परिणामशक्ति के कारण मूल स्वभाव अर्थात् स्वभाव की ध्रुवता सहज ही कायम रहती है और पर्यायों में परिवर्तन भी सहज ही हुआ करता है।

प्रश्न : जब इस परिणामशक्ति का कार्य स्वयं के परिणमन के साथ-साथ ध्रुवस्वभाव को अस्खलित रखना भी है तो फिर लोग अकेले परिणमन की बात क्यों करते हैं ?

उत्तर : क्योंकि मूलस्वभाव में परिवर्तन की आशंका तो बहुत कम होती है, कम लोगों को होती है; किन्तु पर्याय में होनेवाले परिणमन के लिए पर की ओर देखनेवाले बहुत हैं। परिणमन की चर्चा अधिकतम होने का मूल कारण यही है।

प्रश्न : कहीं-कहीं इस शक्ति को परिणमनशक्ति भी तो कह दिया गया है। इसका असली नाम क्या है – परिणामशक्ति या परिणमनशक्ति ?

उत्तर : यद्यपि इस शक्ति का असली नाम तो परिणामशक्ति ही है; क्योंकि परिणमन के साथ-साथ अपरिणमित स्वभाव का कायम रखना भी इसका कार्य है; तथापि परिणमन की मुख्यता से कहीं-कहीं परिणमनशक्ति भी कह दिया जाता है।

इसी आत्मख्याति में एक कलश (छन्द) आया है, जिसमें इस शक्ति

के स्वरूप पर सार्थक प्रकाश डाला गया है। वह कलश इसप्रकार है –

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता॥६५॥

इसप्रकार जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हो जाने पर जीव अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्त्ता होता है।

इसका पद्यानुवाद इसप्रकार है –

(हरिगीत)

आत्मा में है स्वाभाविक परिणमन की शक्ति जब।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्त्ता स्वयं के परिणमन का।
अर सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का॥६५॥

प्रश्न : उक्त प्रकरण में तो रागादि विकारी भावों का भी कर्त्ता भगवान आत्मा को बताया गया है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि शक्तियों में निर्मल परिणमन को ही शामिल करना, विकारी को नहीं।

इसका क्या कारण है ?

उत्तर : आत्मा में शक्ति तो विकारी-अविकारी सम्पूर्ण परिणमन की ही है; किन्तु यहाँ अकेली शक्तियों की चर्चा न होकर उछलती हुई शक्तियों की चर्चा है। उछलने का अर्थ ही निर्मल पर्याय किया गया है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि इस परिणामशक्ति के कारण यह भगवान आत्मा अपने ध्रुव स्वभाव में स्थिर और उत्पाद-व्यय स्वभाव में निरन्तर बदलता रहता है।

इसप्रकार परिणामशक्ति की चर्चा के करने के उपरान्त अब अमूर्तत्व-शक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२०. अमूर्तत्वशक्ति

इस बीसवीं अमूर्तत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''कर्मबंधव्यपगतव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका-अमूर्तत्वशक्तिः–

यह अमूर्तत्वशक्ति कर्मबंध के अभाव से व्यक्त सहज स्पर्शादिशून्य आत्मप्रदेशात्मक है।''

उक्त अमूर्तत्वशक्ति के कारण भगवान आत्मा रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अमूर्त पदार्थ है। यह देह स्पर्शादिमय होने से मूर्त है और भगवान आत्मा अमूर्त है; अतः आत्मा देहादि से भिन्न ही है। आत्मद्रव्य के सभी गुणों और पर्यायों में अमूर्तत्वशक्ति का रूप होने से सभी गुण और पर्यायें भी अमूर्त हैं।

द्रव्यसंग्रहादि ग्रंथों में कर्मबंध से युक्त संसार अवस्था में आत्मा को व्यवहारनय से मूर्त भी कहा गया है, किन्तु वस्तुतः वह अमूर्त ही है।

अमूर्तत्वशक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''ज्ञानलक्षण से लक्षित भगवान आत्मा में एक अमूर्तत्व नाम की शक्ति है, जो इन्द्रियग्राही नहीं है, जो अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जानने में अनुभव में आती है, भगवान आत्मा का अमूर्तत्वस्वभाव है। कर्मबन्ध के अभाव से उसका व्यक्तरूप में परिणमन होता है। जब समस्त कर्मो का अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट होती है, तब साक्षात् पूर्ण अमूर्तपना व्यक्त होता है और चौथे गुणस्थान में जितना कर्मबंध का अभाव है, उतना इस अमूर्तत्वशक्ति का परिणमन होता है।[1]

ज्ञानस्वरूपी आत्मा सदा अमूर्त ही है। अमूर्तत्व उसका स्वभाव है और गुण-पर्याय में व्याप्त है, जिससे उसके गुण अमूर्त और पर्याय भी अमूर्त

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२८९

है। अरे भाई ! ज्ञानमात्र भाव में मूर्तपने का प्रवेश नहीं है, उसमें कर्म के संबंध और देह के संबंध की बात ही नहीं है। अहा ! अशरीरी चैतन्यबिम्ब बिनमूरत चिनमूरत प्रभु को मूर्त देह के संबंध से पहचानना तो कलंक है, मिथ्याभाव है। अरे भाई ! अपनी अनन्त चैतन्यशक्ति में भगवान आत्मा ने मूर्तपने को, देह को, कर्म को और रागादि विकार को कभी ग्रहण किया ही नहीं, यह तो सदा ही अमूर्तपने से शोभित हो रहा है।

अभी भी शुद्धनय से देखने पर आत्मा कर्मबंध रहित अबद्ध-अस्पृष्ट और राग के संबंध रहित है। धर्मी जीव अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने आत्मा को कर्म के संबंध से रहित अमूर्त अनुभव करता है। अहाहा ! त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा त्रिकाल अमूर्त है और उसकी दृष्टि में जो निर्मल पर्याय प्रगटी, वह भी अमूर्त है। देह, कर्म और वर्णादि भावों से रहित है; तथापि आत्मा कर्मसंबंधवाला है, देहवाला है, मूर्त है, विकारी है – ऐसा ही अनुभव करता है, वह आत्मा और अनात्मा के विवेकरहित मिथ्यादृष्टि है।

परन्तु शास्त्रों में जीव को मूर्त भी तो कहा है ?

हाँ कहा है; संसारदशा में जीव का मूर्त कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, उसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से उसे मूर्त कहा गया है तो भी निश्चय से आत्मा का सदा ही अमूर्त स्वभाव है और उपयोग गुण द्वारा जो समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न है – ऐसे जीव को वर्णादिरूप मूर्तपना जरा भी नहीं है।[1]

चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा सदा ही अमूर्त है और शरीर तो मूर्त ही है; दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। ऐसे लक्षणभेद द्वारा दोनों की भिन्नता जानकर हे भाई ! तू मूर्त शरीर का पड़ौसी हो जा। जिसप्रकार सिद्ध प्रभु अमूर्त हैं; उसीप्रकार तुम भी अमूर्त हो; अत: मूर्त शरीर की क्रिया से भिन्न ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप को जानो। यह इन्द्रियादि अमूर्त पदार्थ तेरे कोई नहीं हैं; अत:

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२६०-२६१

वहाँ से लक्ष्य हटाकर उपयोग को स्वस्वरूप में जोड़ दो।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि अमूर्तत्वशक्ति के कारण ही यह भगवान आत्मा मूर्तिक पुद्गल शरीरादि से भिन्न ही है।

इसप्रकार अमूर्तत्वशक्ति का अनुशीलन करने के उपरान्त अब अकर्तृत्व -शक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२१-२२ अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति

इस इक्कीसवीं अकर्तृत्वशक्ति और बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः–

ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से रहित होनेरूप अकर्तृत्वशक्ति है।

इसीप्रकार ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी परिणामों के अनुभव से, भोक्तृत्व से रहित होनेरूप अभोक्तृत्वशक्ति है।''

दोनों शक्तियों के उक्त स्वरूप पर दृष्टिपात करने से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि दोनों के स्वरूप में **करणोपरम** और **अनुभवोपरम** के अलावा कोई अन्तर नहीं है। अभोक्तृत्वशक्ति की परिभाषा में अकर्तृत्वशक्ति की परिभाषा से **करणोपरम** पद को निकाल कर उसके स्थान पर **अनुभवोपरम** पद रख दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानभाव से भिन्न कर्मोदय से होनेवाले रागादि विकारी भावों के कर्तृत्व से रहित अकर्तृत्वशक्ति है और उन्हीं के भोक्तृत्व से रहित

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२९१-२९२

अभोक्तृत्वशक्ति है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अकर्तृत्वशक्ति के कारण आत्मा रागादि का अकर्ता है और अभोक्तृत्वशक्ति के कारण रागादि का अभोक्ता है।

परिणामशक्ति में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वरूप परिणमन का जो विश्लेषण हुआ है, उससे कोई यह न समझ ले कि आत्मा रागादि विकारी भावों का भी कर्ता-भोक्ता होगा; इस बात को ध्यान में रखकर तत्काल उसके बाद इन अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व शक्तियों की चर्चा की गई है।

उक्त शक्तियों के स्वरूप को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''देखो ! कर्म के निमित्त से अथवा कर्म के आश्रय से जो रागादि परिणाम होते हैं, उनका कर्ता आत्मा नहीं है। कर्मों के आश्रय से जो रागादि परिणाम होते हैं, वे सभी ज्ञातृत्व से भिन्न हैं, अनात्मपरिणाम हैं। भगवान आत्मा उनका कर्ता नहीं है। अहो ! समकिती को स्वरूप के निर्मल ज्ञान-श्रद्धान के साथ समस्त रागादि का अकर्तृत्वपना भी प्रगट होता है; जिससे ज्ञानी जीव रागादि का कर्ता नहीं होता – ऐसा आत्मा का अकर्तास्वभाव है।

अहा ! आत्मा में अकर्तृत्वरूप एक गुण है। कर्म के निमित्त के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के विकारी भावों को आत्मा नहीं करता, परन्तु उनको करने की निवृत्तिरूप परिणमित होना इस अकर्तृत्व गुण का कार्य है। अहा ! जो कार्य सिद्ध परमात्मा का नहीं है, वह भगवान आत्मा का भी कार्य नहीं है – ऐसा ही आत्मा का अकर्तृत्व स्वभाव है।

यद्यपि अस्थिरता के काल में ज्ञानी-धर्मात्मा को भी यथासंभव शुभाशुभभाव होते हैं, पर उसका श्रद्धान-ज्ञान तो यह है कि यह विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप ज्ञायक प्रभु हूँ और उसमें ठहरना ही मेरा कर्तव्य है। इसप्रकार पर्याय में ज्ञानी को दया-दान आदि राग के परिणाम हैं; परन्तु उसे उनका कर्तृत्व नहीं है। ज्ञानी को ज्ञान के साथ रागादि अकर्तापना नियम से प्रगट होता ही है।

अनन्त गुणों के निधान प्रभु आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो कर्म को करे और भोगे। तुझे अज्ञानदृष्टि में कर्म का कर्तापना भासता है। स्वभाव दृष्टिवन्त को तो आत्मा अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है। राग करना आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।[१]

राग के अकर्तापने से परिणमन करना आत्मा का सहज अकर्तास्वभाव है, राग के कर्तापने से परिणमे – ऐसी आत्मा में कोई शक्ति नहीं है।[२]

प्रश्न : परन्तु प्रवचनसार में तो नयों के अधिकार में उसे राग का कर्ता कहा है ?

उत्तर : हाँ, ज्ञानी को जितना राग है, उतना उसका वह ज्ञान अपेक्षा से कर्ता भी है। राग का परिणाम करने योग्य नहीं है। ज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि से राग की प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि उसे कमजोरीवश जितना राग है, उतने राग का उसे कर्ता भी कहा है।

प्रवचनसार में ज्ञानप्रधान शैली से कथन है और यहाँ दृष्टि के विषय की अपेक्षा से बात है; इसलिए यहाँ ज्ञानी को राग से निवृत्तस्वरूप बताया है तथा कर्तृत्वनय से उसे चारित्रमोह के उदयजन्य राग का कर्त्ता भी समझना चाहिए।

प्रवचनसार में तो ज्ञानी को राग का भोक्ता भी कहा है। ज्ञानी को भूमिकानुसार होनेवाले दुःख का वेदन भी होता है।[३]

देखो ! यहाँ यह कहते हैं कि आहार, पानी एवं स्त्री इत्यादि का भोक्ता तो आत्मा है ही नहीं; ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न समस्त विकारीभावों का भी भोक्ता भी आत्मा नहीं है। ज्ञानी को भोग की आसक्ति का परिणाम होता है; परन्तु उस परिणाम के भोगने से ज्ञानी निवृत्तस्वरूप है। हर्ष-शोक, साता-

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -२९३-२९४
२. वही, पृष्ठ -२९४
३. वही, पृष्ठ -३०२

असाता के जो परिणाम हैं, वे ज्ञानी के ज्ञाता परिणाम से जुदे ही हैं। ज्ञानी उनमें तन्मय नहीं होता है। अत: वह उनका भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है।

देखो! ज्ञानभाव के साथ यह अभोक्तृत्वस्वभाव का परिणमन। ज्ञानी की पर्याय में हर्ष-शोक आदि विद्यमान होने पर भी उसको उनका अभोक्तापन है। अहो ! यह तो स्वभावदृष्टि की कोई अद्भुत बात है। यह बात स्वभावसन्मुख हुए बिना समझ में नहीं आती।[१]

आत्मा जड़ को भोगे तो जड़ हो जाय, राग को तन्मयता से भोगे तो बहिरात्मा हो जाये; अत: ज्ञानी पुरुष निजस्वभाव से निसृत अपने ज्ञानानन्द निर्मलभाव को ही भोगते हैं और यही शोभास्पद है।[२]

देखो, भरतचक्रवर्ती क्षायिक समकिती थे। उनका छह खण्ड का राज्य था, छियानवे हजार रानियाँ थीं। उनको भोगने की आसक्ति का परिणाम भी उन्हें था; तथापि उस काल में वे ज्ञाता-दृष्टा परिणाम के ही भोक्ता थे। उन्हें विकार का विषैला स्वाद नहीं आता था।अरे भाई ! ज्ञाता-दृष्टारूप परिणाम स्वयं विकार के अभोक्तृत्वस्वरूप है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण से यह बात हाथ पर रखे आंवले के समान स्पष्ट हो जाती है कि अनंत शक्तियों से सम्पन्न भगवान आत्मा न तो रागादिभावों का कर्ता ही है और न भोक्ता ही है। भगवान आत्मा में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि जिससे आत्मा रागादि का कर्त्ता-भोक्ता हो; पर ऐसी शक्तियाँ अवश्य हैं कि जिनके कारण आत्मा न तो रागादि का कर्ता ही होता है और न भोक्ता ही और उन्हीं शक्तियों का नाम अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वशक्ति है।

अब रहा प्रश्न यह कि संसार अवस्था में आत्मा में रागादि होते तो हैं और प्रवचनसार में कर्तानय-भोक्तानय से आत्मा को उसका कर्ता-भोक्ता

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -३०५

२. वही, पृष्ठ -३०७

३. वही, पृष्ठ -३०७-३०८

भी कहा है।

इस बात का स्पष्टीकरण भी स्वामीजी के उद्धरणों से हो ही गया है। यह उछलती हुई शक्तियों का प्रकरण है; अत: इसमें निर्मल पर्यायों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व तक की ही बात है; क्योंकि रागादिभावों का होना शक्ति का नहीं, कमजोरी का कार्य है।

इसप्रकार अकर्तृत्वशक्ति और अभोक्तृत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब निष्क्रियत्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

२३. निष्क्रियत्वशक्ति

इस तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

''सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपानिष्क्रियत्वशक्ति:–

निष्क्रियत्वशक्ति समस्त कर्मों के उपरम (अभाव) से प्रवर्तित होनेवाली आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप है।''

इन शक्तियों के विवेचन में त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का स्वरूप क्रमश: स्पष्ट होता जा रहा है। जीवत्वशक्ति में जीव के लक्ष्यभूत त्रिकाल जीवन; चिति, दृशि, ज्ञान, सर्वदर्शित्व, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश, परिणम्य-परिणामकत्व शक्तियों में आत्मा का लक्षण दर्शन-ज्ञानस्वभाव; सुखशक्ति में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के साथ-साथ सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् आचरण; वीर्यशक्ति में स्वरूप की रचना करनेवाला आत्मा का अनंतवीर्य; प्रभुत्वशक्ति में प्रभुता; विभुत्वशक्ति में आन्तरिक वैभव; असंकुचितविकासत्वशक्ति में अमर्यादित विकास; अकार्यकारणत्वशक्ति में पर के साथ कार्य-कारणभाव का अभाव; त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति में आत्मा में पर के ग्रहण-त्याग का अभाव; अगुरुलघुत्वशक्ति में षट्गुणीवृद्धि-हानि; उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति और परिणामशक्ति में आत्मा में निरन्तर

होनेवाले उत्पाद-व्यय और कभी न बदलनेवाली ध्रौव्यरूपता; अमूर्तत्व-शक्ति में आत्मा का अमूर्तिकपना और अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व शक्तियों में रागादिभावों का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व बताकर अब इस निष्क्रियत्वशक्ति में आत्मा के प्रदेशों की अकंपता बता रहे हैं।

अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व शक्तियों में मोहनीय कर्मोदयजन्य रागादि भावों के करने से उपरम (विराम-अभाव) और भोगने के उपरम (विराम-अभाव) की बात कही थी तो अब यहाँ निष्क्रियत्वशक्ति में सम्पूर्ण कर्मों के उपरम (विराम-अभाव) से होनेवाली आत्मप्रदेशों की अकंपदशा की बात कर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा कर्मोदयजन्य आत्मप्रदेशों के कंपनरूप योगों से भी रहित है, अकंपस्वभावी है, निष्क्रिय है।

यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ न तो क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप गति से है और न काल से कालान्तररूप परिणमन से ही है; यहाँ तो आत्मा के प्रदेशों में होनेवाले कंपन का नाम ही क्रिया है। भगवान आत्मा ऐसी क्रिया से रहित है; अत: निष्क्रिय है, निष्क्रियत्वशक्ति से सम्पन्न है।

अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वशक्ति में आत्मा को रागादिविभाव के अभाव स्वरूप अमल बताया था और निष्क्रियत्वशक्ति में आत्मप्रदेशों की चंचलता के अभावरूप अचल वताया जा रहा है।

यह भगवान आत्मा अमल भी है और अचल भी है। पर्याय में घातिकर्मों के अभाव से पूर्ण अमलता प्रगट होती है और अघातिकर्मों के अभाव से अचलता प्रगट होती है। अरहंत भगवान पूर्णत: अमल हैं, पर अचल नहीं; किन्तु सिद्ध भगवान अमल भी हैं और अचल भी।

यह तो पर्याय में प्रगट अमलता और अचलता की बात है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा का स्वभाव त्रिकाल अमल और अचल है।

जिसप्रकार की अकंपदशा सिद्ध भगवान में प्रगट हुई है; उसीप्रकार की अचलता आत्मा के स्वभाव में सदा विद्यमान है; क्योंकि उसमें निष्क्रियत्वशक्ति है। निष्क्रियत्वशक्ति का कार्य ही यह है कि वह आत्मा को सदा अचल रखे।

इस निष्क्रियत्वशक्ति का रूप आत्मा के अन्य सभी गुणों में होने से वे सभी गुण भी स्वभाव से सदा अचल हैं और जब यह भगवान आत्मा अनन्तशक्तियों के अखण्डपिण्ड निज भगवान आत्मा का आश्रय करता है, ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान करता है; तब वह निष्क्रियत्वशक्ति पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है और भगवान आत्मा पर्याय में भी निष्क्रिय हो जाता है, अकंप हो जाता है, अचल हो जाता है। पर्यायसंबंधी अचलता सिद्धदशा में प्रगट होती है।

स्वामीजी अनेक युक्तियों और आगमप्रमाणों का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि इस अकंपदशा का अंश चौथे गुणस्थान में भी प्रगट हो जाता है। यद्यपि पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है; तथापि आरंभ चतुर्थगुणस्थान में ही हो जाता है।

स्वामीजी का कथन मूलत: इसप्रकार है –

''पहले अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व शक्ति का वर्णन किया है, वहाँ ऐसा कहा है कि समस्त कर्मों के द्वारा किये गये एवं ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के करने और भोगने के अभावस्वरूप अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वशक्ति है।

यहाँ इस निष्क्रियत्वशक्ति के वर्णन में कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव तो स्थिर-अकंप-निष्क्रियत्व है। प्रदेशों का कंपन तो कर्मनिमित्त से हुआ औदयिकभाव है, वह स्वभावभाव नहीं है। स्वरूप के आश्रय से सर्वकर्मों का अभाव होने पर चैतन्यप्रभु पूर्ण स्थिर-अक्रिय होता है और वह अक्रियत्व आत्मा का स्वभाव है तथा उसकी पर्याय में प्रगटता होती है। समकिती धर्मी को भी इस स्वभाव की एकदेश व्यक्तता होती है। धर्मी को दृष्टि में

कर्मनिमित्त के संबंधरहित एक अकंप चिदानन्दस्वभाव ही वर्तता है और उसमें कर्मकृत कंपन सहित सभी भावों का दृष्टि-अपेक्षा अभाव है।

यद्यपि साक्षात् अकंपनदशा तो चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होती है; तथापि चौथे गुणस्थान के क्षायिक समकिती जीव को भी निष्क्रियत्वशक्ति का अंश व्यक्त होता है।

आस्रव-अधिकार में १७६ वीं गाथा के भावार्थ में यह बात आयी है। वास्तव में तो जब अपना पूर्णानन्दस्वरूप त्रिकाली द्रव्य प्रतीति और अनुभव में आता है; तब प्रत्येक चतुर्थगुणस्थानवर्ती समकिती की पर्याय में एकदेश निष्पंदतारूप परिणमन होता है अर्थात् निष्क्रियत्वशक्ति का अंश पर्याय में व्यक्त होता है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने भी 'सर्वगुणांश ते सम्यक्त्व' – इसप्रकार सम्यग्दर्शन की व्याख्या की है अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर अविनाभावीरूप से सभी गुणों का अंश प्रगट होता है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पण्डितश्री टोडरमलजी कहते हैं कि 'इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट होते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में वे सर्वथा प्रगट होते हैं।' देखो ! ऐसा नहीं कहा कि – ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुणों का एक अंश प्रगट होता है; परन्तु चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानादि समस्त गुणों का एकदेश प्रगट होना बताया है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर आत्मा के ज्ञानादि सर्व गुणों का एक अंश व्यक्तरूप से पर्याय में परिणमित होता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

आत्मा की एक-एक शक्ति में अनन्त सामर्थ्य है। एक-एक शक्ति में अनन्त शक्तियों का रूप है, जिससे निष्क्रियत्वशक्ति द्रव्य-गुण में त्रिकाल व्यापक है। त्रिकाली द्रव्य का भान होने पर निष्क्रियत्वशक्ति पर्याय में भी व्यापक होती है – इसप्रकार निष्क्रियत्वशक्ति का अयोगपनारूप अंश चौथे गुणस्थान के समकिती को पर्याय में प्रगट होता है।[1]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -३०९-३१०

अकर्तृत्वशक्ति में समस्त कर्मकृत परिणामों के करण के उपरम की बात की थी। जिसप्रकार विकारी भाव कर्मकृत परिणाम हैं तथा उनके कारण के उपरमस्वरूप अकर्तृत्वशक्ति है; उसीप्रकार अकंपस्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति की विकृत अवस्था कंपनरूप परिणाम है। वह कर्मकृतदशा है। वास्तव में सर्वकर्म के अभाव से प्रवर्तित होनेवाली अकंपतारूप निष्क्रियत्वशक्ति आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है।[१]

यहाँ कहते हैं कि निष्क्रियत्वशक्ति के परिणमन में जितनी अकंपता हुई है, वह आत्मद्रव्य की पर्याय है तथा कर्म के निमित्त से होनेवाली जितनी कंपदशा है, उसका अकंपदशा में अभाव है।[२]

भगवान ! तुझमें अनन्त गुण भरे हैं, उनमें एक अकंपन गुण है। इस अकंपनगुण का अनन्त गुणों में रूप है; अत: सभी गुण अकंपनस्वरूप हैं। कोई भी गुण कम्पित नहीं होता।

शास्त्र में एक जगह यह बात आती है कि जो योग का कंपन है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त नहीं है; क्योंकि कंपन में यदि धर्मास्तिकाय को निमित्त मानें तो अकंपन में अधर्मास्तिकाय को निमित्त मानना पड़ेगा; परन्तु ऐसा है नहीं; अत: कंपन में धर्मास्तिकाय निमित्त नहीं है। धर्मास्तिकाय गति में निमित्त है और कंपन तो कर्मकृत औपाधिक भाव है। यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई ! कोई प्रबल पुरुषार्थी जीव ही इसे पाता है।[३]

कंपनरहित अकंपस्वभावी निष्क्रिय प्रभु आत्मा है तथा सर्वकर्मों का नाश होने पर आत्मा का अकंपस्वभाव साक्षात् प्रगट होता है। सिद्धदशा में वह सादि-अनन्त, अविचल-स्थिर रहता है। हे भाई ! अपने त्रिकाली एक निष्क्रिय ज्ञानस्वभाव को देख, जिससे तेरी अनन्त शक्तियों का निर्मल

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३१४
२. वही, पृष्ठ - ३१४
३. वही, पृष्ठ - ३१७-३१८

परिणमन होकर, पर्याय में कंपदशा छूटकर तुझे सादि-अनन्त अकंपरूप पूर्ण सिद्धदशा प्रगट होगी।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा स्वभाव से रागादि भावों का अकर्ता-अभोक्ता होने के साथ प्रदेशों के परिस्पन्दन (कंपन) से भी रहित है; अमल है, अचल है और आत्मा का आश्रय होने पर इसकी यह अमलता और अचलता पर्याय में भी व्याप्त हो जाती है।

इसप्रकार निष्क्रियत्वशक्ति का अनुशीलन करने के उपरान्त अब नियत-प्रदेशत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२४. नियतप्रदेशत्वशक्ति

इस चौबीसवीं नियतप्रदेशत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणा-वस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्व-शक्तिः–

अनादिकाल से संसार अवस्था में संकोच-विस्तार से लक्षित और सिद्ध अवस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून परिमाण तथा लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के समान असंख्यात प्रदेशवाला आत्मा का अवयव है लक्षण जिसका, वह नियतप्रदेशत्वशक्ति है।''

तात्पर्य यह है कि असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं; उतने ही असंख्यात प्रदेश इस भगवान आत्मा में हैं। संसार अवस्था में वे प्रदेश देहप्रमाण रहते हैं। जितनी देह हो, उतने ही आकार में आत्मा के प्रदेश समा जाते हैं। छोटी देह में संकुचित हो जाते हैं और बड़ी देह में फैल

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३१८

जाते हैं; पर रहते हैं देहप्रमाण ही तथा उनकी जो असंख्यात संख्या है, उसमें कोई कमी-वेशी नहीं होती। सिद्ध अवस्था में देह छूट जाने पर अन्तिम देह के आकार में रहते हैं, पर अन्तिम देह से कुछ न्यून (कम) आकार में रहते हैं।

आत्मा में जितने प्रदेश हैं, सदा उतने ही रहते हैं कम-अधिक नहीं होते; विभिन्न आकारों में रहने पर भी वे सदा नियत ही हैं, जितने थे उतने ही रहते हैं।

आत्मा के असंख्यप्रदेशों का उक्त कथनानुसार आकार रहना ही नियतप्रदेशत्वशक्ति का कार्य है।

इस शक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा में अनन्त शक्तियाँ अक्रम से त्रिकाल हैं; उनमें एक नियत-प्रदेशत्वशक्ति भी त्रिकाल है अर्थात् आत्मा के क्षेत्र में असंख्य प्रदेश नियत हैं।[१]

जो प्रदेशों की संख्या है, वह त्रिकाल नियत है, उसमें घट-बढ़ नहीं होती है; अत: वे असंख्य प्रदेश त्रिकाल नियत हैं।[२]

आत्मा में जो असंकुचितविकासत्वशक्ति है, वह अलग है और यह संकोचविस्तार से लक्षित जो नियतप्रदेशत्वशक्ति है, वह अलग है।

असंकुचितविकासत्वशक्ति का स्वरूप तो ऐसा है कि जिसमें संकोच का अभाव है, ऐसा पर्याय में गुण का जो असीमित विस्तार होता है, वह असंकुचितविकासत्वशक्ति है।[३]

जिसमें संकोच नहीं, परिमितता नहीं – ज्ञानादि में ऐसा पूर्ण विकास होना असंकुचितविकासत्वशक्ति है।[४]

अनादि संसार से जीव के प्रदेशों का संकोच-विस्तार हो रहा है। निगोद

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३२०
२. वही, पृष्ठ - ३२०
३. वही, पृष्ठ - ३२२
४. वही, पृष्ठ - ३२२

की दशा में जीव के प्रदेशों का संकोच होता है; तथापि प्रदेशों की संख्या कम नहीं होती और एक हजार योजन के मच्छ के शरीर में रहनेवाले जीव के प्रदेशों का विस्तार होता है तो भी प्रदेशों की संख्या बढ़ती नहीं है। जीव के प्रदेशों की संख्या तो तीनों काल इतनी की इतनी असंख्य ही रहती है।[१]

संसारदशा में जीवों के प्रदेश संकुचित और विस्तृत होते हैं। सर्व प्रदेशों की अवगाहना छोटी हो जाती है, पर प्रदेशों की संख्या यथावत् रहती है और प्रदेश भी जितने हैं, उतने ही रहते हैं; पर वे परस्पर संकुचित होकर अवगाहना पाते हैं। अरे ! यह बात एक सर्वज्ञकथित मार्ग के अलावा अन्य कहीं नहीं है भाई ![२]

आत्मा के असंख्य प्रदेशों को यहाँ नियत कहा है। नियत प्रदेश निश्चय है – इसका अर्थ यह है कि जो प्रदेश हैं, वे नियत संख्यावाले अर्थात् उनकी असंख्यातरूप संख्या निश्चित है। उनका स्थान भी निश्चित है। भले ही संकोचविस्तार हो; पर प्रदेशों की संख्या नियत ही है।[३]

प्रवचनसार की ९१ वीं गाथा में लिखा है कि असंख्यातप्रदेशस्वरूप तिर्यक्प्रचय है। इसमें एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का अभाव है अर्थात् कोई प्रदेश किसी अन्य प्रदेश से मिलता नहीं है। ऐसा होने से ही असंख्य प्रदेश सिद्ध होते हैं। असंख्य प्रदेशरूप क्षेत्र की जो यह आकृति है; उसे ही व्यंजन पर्याय कहते हैं। वह व्यंजनपर्याय संसारदशा में संकोच-विस्ताररूप होती है और सिद्धों में अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून आकार में अवस्थित रहती है।

अहा ! आत्मा के असंख्य प्रदेश अनन्तगुणों में सर्वत्र व्यापक हैं। उसमें भी ऐसा नहीं है कि गुण का अमुक अंश अमुक प्रदेश में और अमुक अंश अन्य प्रदेश में होता है। हे भाई ! जो कुछ है, वह सर्वस्व तेरे नियत असंख्य

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३२४
२. वही, पृष्ठ - ३२५
३. वही, पृष्ठ - ३२६

प्रदेश में ही है। तेरे असंख्य प्रदेशों से बाहर तेरा कुछ नहीं है; अत: परद्रव्य से विराम पाकर अनन्तगुणस्वभावमय एक द्रव्य को ही देख, जिससे तुझे ज्ञान, सुख और शान्ति प्राप्त होगी।[१]''

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण से यह सुनिश्चित होता है कि भगवान आत्मा में एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण प्रत्येक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं और सदा इतने ही रहते हैं कम-बढ़ नहीं होते। चाहे वह हाथी के शरीर में रहे, चाहे चींटी के शरीर में; प्रत्येक स्थिति में प्रदेश कम-अधिक नहीं होते, अपितु संकोच-विस्तार की शक्ति के कारण वे संकुचित और विस्तृत हो जाते हैं।

प्रदेशों की संख्या को सुनिश्चित रखनेवाली इस नियतप्रदेशत्वशक्ति के स्वरूप में संसार-अवस्था में जो संकोच-विस्तार की बात आई है; उससे किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इसका असंकुचितविकासत्वशक्ति से कोई संबंध होगा; क्योंकि असंकुचितविकासत्वशक्ति सभी गुणों में असीमित विकास से संबंध रखती है और यहाँ संसार-अवस्था में प्रदेशों के संकोच-विस्तार की बात है।

नियतप्रदेशत्वशक्ति के विवेचन के उपरान्त अब स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२५. स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति

इस पच्चीसवीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है –

''सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति: –

सभी शरीरों में एकरूप रहनेवाली स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।''

यह भगवान आत्मा अपने धर्मों में ही व्याप्त होता है, शरीरादि में नहीं;

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३२६

क्योंकि इसमें स्वधर्मव्यापकत्व नाम की एक शक्ति है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसके कारण यह आत्मा स्वधर्मों में ही व्यापक होता है।

यद्यपि यह आत्मा अनादिकाल से अबतक अनंत शरीरों में रहा है; तथापि यह उनमें कभी भी व्याप्त नहीं हुआ; शरीररूप न होकर सदा ज्ञानानन्दस्वभावी ही रहा है।

इस शक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''निगोद से निकलकर चरमशरीरपर्यन्त जीव अनन्त शरीर धारण करता है; परन्तु इन सभी शरीरों में भगवान आत्मा तो अपना एकस्वरूपात्मक एक ज्ञायकमात्र ही रहता है। ऐसा इसका स्वधर्मव्यापकत्व स्वभाव है।

अहा ! संसारपरिभ्रमण करता हुआ जीव मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच के अनन्त शरीर धारण करता है। उन-उन शरीर के आकार बराबर व्यंजनपर्याय हुई; फिर भी आत्मा इन शरीरों में व्यापक नही है; क्योंकि शरीर व्याप्य और भगवान आत्मा व्यापक – ऐसा नहीं है। आत्मा का स्वरूप सदा एक ज्ञायक है। शरीर और राग में व्याप्त होना आत्मा का स्वरूप नहीं है।

अपने अनन्त गुणों और निर्मल पर्यायों में व्याप्त होना आत्मा का स्वधर्मव्यापकत्वगुण है। यहाँ निर्मलपर्याय की बात है, मलिन की नहीं; क्योंकि मलिनपर्याय में आत्मा व्यापक नहीं है। भाई ! आत्मा जड़ में, शरीर में तो व्यापक है ही नहीं; पर राग में, विकार में भी व्यापक नहीं है। अनादि संसार से इस जीव को राग तो अनेकप्रकार का हुआ; परन्तु उसमें भगवान आत्मा व्यापक-तन्मय नहीं हुआ। आत्मा रागमय नहीं होता, वह त्रिकाल एकस्वरूपात्मक ही रहता है।

जिसप्रकार एक दीपक अनेक कमरों में ले जाते हैं, तब भी वह दीपक अपने प्रकाशरूप ही रहता है, कमरेरूप नहीं होता; उसीप्रकार अनन्त शरीरों में और असंख्यात प्रकार के राग में फिरने पर भी यह चैतन्य प्रभु आत्मा

त्रिकाल निज चैतन्य के प्रकाशरूप-एकस्वरूप ज्ञायकस्वरूप ही है। जिसप्रकार दीपक कमरे में नहीं व्यापता; उसीप्रकार चैतन्यदीपक आत्मा शरीर में या राग में नहीं व्यापता।[१]

यह जीव चाहे एक हजार योजन लंबाईवाले शरीर में जाये या फिर असंख्यातवें भागप्रमाण शरीर में जाये, अपने स्वरूप में ही व्याप्त होता है; उन शरीरों में नहीं तथा राग में भी आत्मा कभी व्यापक नहीं होता।[२]

अन्दर अनन्तगुणमय एकस्वरूपात्मक जीवन है; उसका स्वीकार करने से पर्याय में निर्मल परिणमनरूप परिणमन होता है अर्थात् एकस्वरूपात्मक द्रव्य का पर्याय में परिणमन होता है। अहा ! आत्मा की ऐसी स्वधर्मव्यापकत्व -शक्ति है। अपने धर्मों में, अपने गुणों और अपने पर्यायों में आत्मा व्यापक है; परन्तु देह और मलिनपर्याय में व्यापक नहीं है। ऐसा होने पर शुभराग या शुभयोग से धर्म होता है – यह बात ही कहाँ रही ?[३]''

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह भगवान आत्मा इस स्वधर्म-व्यापकत्वशक्ति के कारण अपने अनंत गुणों में, धर्मों में, शक्तियों और निर्मलपर्यायों में तो व्यापता है; पर शरीरों और रागादि विकारी परिणामों में व्याप्त नहीं होता। रागादि होते हुए भी, शरीरों में रहता हुआ भी उसमें व्याप्त नहीं होता, स्वसीमा में ही रहता है।

इसप्रकार स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२६. साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति

इस छब्बीसवीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३३०-३३१
२. वही, पृष्ठ - ३३१
३. वही, पृष्ठ - ३३३

''स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः –

स्व और पर – दोनों में परस्पर समान, असमान और समानासमान – ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारण करनेरूप यह साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति है।''

सामान्य गुणों को साधारण धर्म कहते हैं और विशेष गुणों को असाधारण धर्म कहते हैं और जिन धर्मों में सामान्यपना और विशेषपना – दोनों विशेषतायें प्राप्त हों; उन धर्मों को साधारणासाधारण धर्म कहते हैं।

सभी द्रव्यों में पाये जाने के कारण अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि गुण या धर्म साधारण धर्म हैं। आत्मा से भिन्न पुद्गलादि पदार्थों में नहीं पाये जाने और केवल आत्मा में ही पाये जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुखादि असाधारण धर्म हैं तथा मात्र पुद्गल में पाये जानेवाला अमूर्तत्व पुद्गल का असाधारण धर्म और आत्मा, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल द्रव्यों में पाये जाने के कारण वह साधारण धर्म भी है; इसप्रकार अमूर्तत्व साधारणासाधारण धर्म है।

अस्तित्वादि साधारण, ज्ञानादि असाधारण और अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ होने से यह आत्मा साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति से सम्पन्न है।

अस्तित्वादि गुण सभी द्रव्यों में पाये जाने के कारण साधारण, अकेले आत्मा में पाये जाने के कारण ज्ञानादि गुण असाधारण तथा सभी द्रव्यों में न पाये जाने और पाँच द्रव्यों में पाये जाने के कारण अमूर्तत्व साधारणा-साधारण गुण है।

इसप्रकार इस भगवान आत्मा में साधारण-असाधारण-साधारणा-साधारणत्वशक्ति है।

स्वामीजी इस शक्ति के स्वरूप को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा में अनन्त धर्म हैं। उनमें जो स्व-पर के समान धर्म हैं, वे साधारण हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि धर्म साधारण हैं; क्योंकि वे जिसप्रकार आत्मा में हैं; उसीप्रकार आत्मा के अलावा अन्य द्रव्यों में भी हैं। इसप्रकार एकसाथ रहनेवाले समान-साधारणधर्म अनन्त हैं।

तथा जो धर्म मात्र आत्मा में ही होते हैं, वे आत्मा के विशेष धर्म होने से असमान-असाधारण धर्म हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मा के असाधारण धर्म हैं; क्योंकि वे एक आत्मा में ही हैं। आत्मा के अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं हैं। ऐसे असाधारण धर्म भी अनन्त हैं।

उनमें ज्ञान स्व-पर को जाननेवाला धर्म होने से आत्मा का असाधारण लक्षण है। भगवान आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होता है। यद्यपि सत् द्रव्य का लक्षण है तो भी वह आत्मा का लक्षण नहीं है, क्योंकि सत् साधारण धर्म होने से उसके द्वारा स्व-पर की भिन्नता नहीं की जा सकती अर्थात् सत् से आत्मा का अन्य द्रव्यों से भिन्नस्वरूप लक्षित नहीं होता है।

तथा आत्मा में कुछ धर्म ऐसे हैं, जो परद्रव्य के साथ समान हैं तथा कुछ परद्रव्य के साथ असमान हैं – ऐसे धर्म साधारणासाधारण धर्म हैं। आत्मा के अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म हैं; क्योंकि अमूर्तत्वादि धर्म, अधर्म आकाशादि में हैं; पर वे पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। आकाशादि की अपेक्षा जीव का अमूर्तत्व धर्म साधारण है और पुद्गल की अपेक्षा जीव का वह धर्म असाधारण है; अत: अमूर्तत्व गुण जीव का साधारणासाधारण धर्म है। अमूर्तत्व द्वारा भी आत्मा पर से भिन्न लक्षित नहीं होता; क्योंकि उसका धर्म, अधर्म, आकाशादि द्रव्यों के साथ साधारणपना है। अमूर्तत्व द्वारा पुद्गलद्रव्य से असाधारणपना ज्ञात होता है; परन्तु आकाशादि द्रव्यों के साथ उसका साधारणपना होने से उस अमर्तूत्व द्वारा आकाशादि द्रव्यों से भिन्न आत्मा का लक्ष नहीं हो सकता है।

इसप्रकार अस्तित्वादि साधारण धर्म; ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि

असाधारण धर्म और अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म – इसप्रकार तीन प्रकार के धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ होने से उसका साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्व स्वभाव है। आत्मा सत्, चित् व अमूर्तिक है – ऐसा कहने से ऊपर के तीनों प्रकार के धर्म उसमें आ जाते हैं।

प्रवचनसार में कहा है कि आत्मा में जो चैतन्यगुण है, वह एक अपेक्षा से सामान्यगुण है; क्योंकि अपने में जिसप्रकार चैतन्यगुण है; उसीप्रकार अन्य अनन्त आत्माओं में भी चैतन्यगुण है। इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुण जिसप्रकार स्वद्रव्य में हैं; उसीप्रकार अन्य अनन्त आत्माओं में भी हैं; उस अपेक्षा से वे साधारण धर्म हैं; परन्तु इस जीव के ज्ञान, दर्शन चैतन्य आदि धर्म उस-उस जीव के ही विशेष धर्मरूप हैं। इसप्रकार जीव में असाधारणपना भी है तथा अपने ज्ञान द्वारा अन्य जीवों से भिन्न अनुभव में आता है।[१]

स्व का ज्ञान अन्य जीव में नहीं है। दूसरे जीव का ज्ञान स्व में नहीं है। इसप्रकार स्व की परजीवों से भिन्नता होने से स्वसन्मुख होते ही अपने ज्ञान द्वारा अन्य सभी जीवों से भिन्न अपना आत्मा अपने संवेदन में आता है। ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान ही धर्म है। भाई ! तेरा ज्ञानलक्षण एक ऐसा असाधारण धर्म है कि वह परद्रव्यों और परभावों से भिन्नरूप और अपने-अपने अनन्त धर्मों-गुणों से एकत्वरूप आत्मा का अनुभव करता है। अत: हे जीव ! प्रसन्न हो जा और ज्ञानलक्षण से स्वद्रव्य को लक्षित कर।[२]

भाई ! 'आत्मा है' – इसप्रकार अस्तित्वगुणमात्र से आत्मा को खोजने जाओगे तो आत्मा हाथ नहीं आयेगा; क्योंकि अस्तित्व तो सभी द्रव्यों का स्वभाव है।

तथा 'आत्मा अमूर्त है' – इसप्रकार अमूर्तपने से आत्मा को खोजने

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३३६-३३७
२. वही, पृष्ठ - ३३७-३३८

जाओगे तो भी वह हाथ नहीं आवेगा; क्योंकि अमूर्तपना आकाशादि द्रव्यों का भी स्वभाव है।

तथा दया, दान, व्रत आदि अनेकप्रकार के शुभव्यवहार से आत्मा को खोजने जाओगे तो भी तुम्हें उसकी प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि वह शुभराग आत्मा का स्वरूपभूत नहीं है। राग और ज्ञानस्वभाव बिल्कुल भिन्न चीजें हैं।

'जो ज्ञान है वह आत्मा है' – इसप्रकार ज्ञानलक्षण से खोजने पर, पर से और विकार से भिन्न अपने अनन्त स्वभावों से एकमेक – ऐसा भगवान आत्मा प्राप्त होता है। यही सम्यग्दर्शन और आत्मोपलब्धि का उपाय है।

समान, असमान और समानासमान – इसप्रकार तीन प्रकार के धर्मों का धारक भगवान आत्मा है। ऐसे निजस्वरूप को जानकर, पर से और विकार से भेदज्ञान करके अन्तर्दृष्टि द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करना धर्म है और यही कर्तव्य है।[1]''

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि इस भगवान आत्मा में अस्तित्वादि सामान्य गुण, ज्ञानादि विशेष गुण तथा अमूर्तत्वादि सामान्य-विशेष गुण एकसाथ ही रहते हैं। इनका एकसाथ रहने की सामर्थ्य का नाम ही साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति है।

इसप्रकार साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति का निरूपण करने के उपरान्त अब अनन्तधर्मत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

२७. अनन्तधर्मत्वशक्ति

इस सत्ताईसवीं अनन्तधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्व-शक्तिः –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३३९

परस्पर भिन्न लक्षणों वाले अनंत स्वभावों से भावित – ऐसा एक भाव है लक्षण जिसका – ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति है।''

साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणशक्ति से यह बात तो स्पष्ट हो गई थी कि भगवान आत्मा में साधारण, असाधारण और साधारण-असाधारण – ये तीनप्रकार के धर्म (गुण) पाये जाते हैं; पर यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि वे धर्म हैं कितने ? अर्थात् इस एक आत्मा में कितने धर्मों को धारण करने की शक्ति है ?

अत: अनन्तधर्मत्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में अनंत धर्मों को धारण करने की शक्ति है। विभिन्न लक्षणों के धारक, विभिन्न अनन्तगुणों को धारण करने की शक्ति का नाम ही अनंत-धर्मत्वशक्ति है।

इस शक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ 'अनन्तधर्मत्वशक्ति' शब्द में 'धर्म' शब्द से गुण-स्वभाव की बात है। नित्य-अनित्य आदि जो अपेक्षित धर्म हैं। उनकी यहाँ बात नहीं है।[१]

एक गुण से दूसरा गुण विलक्षण है। ज्ञान का लक्षण जानना, दर्शन का लक्षण देखना (अवलोकन करना) वीर्य का लक्षण स्वरूप की रचना करना, आनन्द का लक्षण परम आल्हाद का अनुभव होना, अस्तित्व का लक्षण त्रिकाल सत्‌रूप से रहना – इसप्रकार सभी अनंत शक्तियाँ विलक्षणस्वभाव -वाली हैं। किसी गुण का लक्षण किसी गुण में नहीं आता, उसमें मिलता नहीं। यदि मिल जाय तो अनन्त स्वभाव-गुण सिद्ध ही न हों। ऐसे अनन्त स्वभावों से भावित एकसाथ जिसका लक्षण है – ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति जीव में है। अनन्त धर्म विलक्षण होने पर भी एकभावरूप से रहते हैं – उनका ऐसा रहना ही भगवान आत्मा का अनंतधर्मत्व स्वभाव है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३४०
२. वही, पृष्ठ - ३४०-३४१

युक्ति, आगम और अनुभव से भगवान आत्मा और उसके अनन्त धर्मों का यथार्थ निर्णय होता है; परन्तु जो स्वसन्मुख होकर आत्मवस्तु का निर्णय नहीं करता, उसको अनन्त धर्मों का निर्णय नहीं होता। उसके लिए अनन्त शक्तिमय आत्मा त्रिकाल विद्यमान होने पर भी नहीं होने के बराबर ही है; क्योंकि उसकी शक्तियाँ उल्लसित नहीं होतीं, ज्ञान उल्लसित नहीं होता, आनन्द उल्लसित नहीं होता। 'मैं तो अनन्तधर्ममय एकभावरूप ज्ञायकमात्र आत्मा हूँ'– ऐसा निर्णय करके जहाँ अन्तर्मुख हुआ कि वहाँ अन्त:पुरुषार्थ की जागृतिपूर्वक शक्तियाँ पर्याय में उल्लसित होती हैं और उनका एकसाथ, एकरस स्वानुभव में, वेदन में आता है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है और यही मार्ग है।[1]''

इस अनंतधर्मत्वशक्ति में यही बताया गया है कि इस भगवान आत्मा में भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनन्त गुण एकसाथ रहते हैं। आत्मा में इन अनन्त गुणों के एक साथ रहने की शक्ति का नाम ही अनंतधर्मत्वशक्ति है।

अनंतधर्मत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब विरुद्धधर्मत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं–

२८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति

इस अट्ठाईसवीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इस-प्रकार स्पष्ट किया गया है –

''तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्ति: –

तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है, उस शक्ति का नाम विरुद्धधर्मत्वशक्ति है।''

अनंतधर्मत्वशक्ति के अनुशीलन में यह तो स्पष्ट हो गया था कि भिन्न-भिन्न लक्षण वाले अनंत धर्म आत्मा में रहते हैं; पर यह बात स्पष्ट नहीं हो

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३४१-३४२

पाई थी कि क्या परस्पर विरुद्धस्वभाववाले धर्म भी एकसाथ एक आत्मा में रह सकते हैं। यह विरुद्धधर्मत्वशक्ति यह बताती है कि आत्मा में न केवल अनन्त धर्म हैं; किन्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनंतधर्मयुगल भी आत्मा में एकसाथ रहते हैं।

प्रश्न : विभिन्न लक्षणों वाले अनंत धर्मों की बात तो अनंतधर्मत्वशक्ति में आ ही गई थी; अब इस शक्ति में विरुद्धधर्मत्वशक्ति की बात करके क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर : अरे भाई ! विभिन्न लक्षण से तात्पर्य तो भिन्न-भिन्न लक्षणवाले हैं। यह जरूरी नहीं है कि अलग-अलग लक्षण परस्पर विरुद्ध भी हों ही। ज्ञान, दर्शन, सुख आदि भिन्न-भिन्न लक्षण वाले गुण हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व विरुद्धधर्मत्व हैं। इस भगवान आत्मा में भिन्न-भिन्न लक्षणवाले ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुणों को धारण करने की भी शक्ति है और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों को धारण करने की भी शक्ति है।

विभिन्न लक्षणों वाले अनंतगुणों को धारण करना अनंतधर्मत्वशक्ति का कार्य है और परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत धर्मयुगलों को धारण करना विरुद्धधर्मत्वशक्ति का कार्य है।

इस विरुद्धधर्मत्वशक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''देखो ! समयसार में तत्, अतत् आदि चौदह बोल कहे गये हैं। वहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञायकस्वभावी आत्मा निजज्ञायकस्वभाव से तत् है और परज्ञेय उसमें नहीं हैं; अत: ज्ञेयस्वरूप से वही आत्मा अतत् है।

अहाहा ! अपने में जो ज्ञानादिभाव हैं; उनसे आत्मा में तत्पना है; परन्तु आत्मा में जो भाव नहीं हैं, उनसे अतत्पना है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी तत् है; क्योंकि आत्मा ज्ञान से तद्रूपमय है; पर आत्मा रागादि से, ज्ञेयों से

अतत् है; क्योंकि उसको रागादि से, परज्ञेय से अतद्रूपमयता है।

अहा ! इसप्रकार तत्पना और अतत्पना – ऐसे दोनों विरुद्ध धर्म एकसाथ जिसमें रहते हैं – ऐसा आत्मा का विरुद्धधर्मत्वस्वभाव है।[१]

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से तत् और पररूप से अतत् है – ऐसे तत्-अतत् धर्म वस्तु में एकसाथ रहते हैं – ऐसी वस्तु की विरुद्धधर्मत्वशक्ति है।[२]

ज्ञान स्वयं से है, ज्ञेयरूप से नहीं – इसप्रकार जो है, वही नहीं है – ऐसा विरोध लगता है; परन्तु ये विरुद्ध धर्म एकसाथ अविरोधरूप से वस्तु में रहते हैं – ऐसी आत्मा की विरुद्धधर्मत्वशक्ति है।[३]

वस्तु अपना काम करे और पर का भी काम करे – ऐसे विरुद्धधर्मवाली नहीं है, बल्कि अपना काम करे और पर का काम नहीं करे – ऐसे विरोधी धर्म से वस्तु यथास्थित सिद्ध होती है और यही अनेकान्त है।[४]''

इस विरुद्धधर्मत्वशक्ति में मात्र यही बताया गया है कि इस भगवान आत्मा में न केवल विभिन्न लक्षणवाले गुण एकसाथ रहते हैं; अपितु यह भी स्पष्ट किया गया है कि परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनंत धर्म भी एकसाथ ही रहते हैं।

इसप्रकार विरुद्धधर्मत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति की चर्चा करते हैं –

२९-३०. तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति

इन उन्तीसवीं और तीसवीं तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्व-

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३४८
२. वही, पृष्ठ - ३४८
३. वही, पृष्ठ - ३४९
४. वही, पृष्ठ - ३५१

शक्तिः।

तद्भवनरूप तत्त्वशक्ति और अतद्भवनरूप अतत्त्वशक्ति है।''

२५ वीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति में यह बताया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने सभी धर्मों (गुणों) में व्याप्त है। उसके बाद २६ वीं शक्ति में यह बताया गया कि जिन धर्मों में आत्मा व्याप्त है; उन धर्मों में कुछ धर्म साधारण, कुछ धर्म असाधारण और कुछ साधारणासाधारण हैं। फिर २७ वीं अनंतधर्मत्वशक्ति में यह बताया गया है कि वे साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण धर्म अनंत हैं। उसके बाद २८ वीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति में कहा गया है कि उन अनंत धर्मों में कुछ धर्म परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों को धारण करने की शक्ति इस भगवान आत्मा में है, जिसका नाम है विरुद्धधर्मत्वशक्ति।

अब आगे की कुछ शक्तियाँ इन परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मों से ही संबाधित हैं।

इन विरुद्ध धर्मों में तत् और अतत् धर्मों की चर्चा करते हुए इन तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति में यह बताया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में जो भी धर्म हैं; उन सभी के होनेरूप तत्त्वशक्ति है और उनसे भिन्न पदार्थों और उन पदार्थों के धर्मो रूप नहीं होने की शक्ति का नाम अतत्त्वशक्ति है।

ये तत्त्व और अतत्त्व शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। इसके भी आगे आनेवाली एकत्व-अनेकत्व और भाव-अभाव आदि शक्तियाँ भी परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ हैं। इसप्रकार परस्पर विरुद्धधर्मत्वशक्ति के उपरान्त इन तत्त्व-अतत्त्व आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रतिपादन प्रसंगोचित ही है। इन परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रतिपादन में एक क्रमिक विकास है। गहराई से देखने पर वह सहज ही ख्याल में आता है।

होना शब्द अपरिणामी द्रव्य और उसके परिणमन – इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। होने शब्द के दो रूप होते हैं – पहला है 'है' और दूसरा

है 'होता है'। आत्मा है, अनंत गुण हैं – इसे भी होना कहते हैं और यह आत्मा सदा ही परिणमित होता है– इसे भी होना कहते हैं।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा तत्त्वशक्ति के कारण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय है और निरन्तर परिणमित भी होता है तथा अतत्त्वशक्ति के कारण न तो परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप से है ही और न उनरूप, उनकी पर्यायोंरूप परिणमित ही होता है।

इसप्रकार स्वयं की अनन्तशक्तियोंरूप होना तत्त्वशक्ति का कार्य है और पररूप नहीं होना अतत्त्वशक्ति का कार्य है।

जो जिस रूप है, उसका उसीरूप होना, रहना, परिणमित होना तत्त्व-शक्ति का कार्य है और जो जिस रूप नहीं है, उसका उसीरूप नहीं होना, उस रूप नहीं परिणमना अतत्त्वशक्ति का कार्य है।

अग्नि गर्म है, गर्म होती है, गर्म रहती है; क्योंकि उसका गर्म होना स्वभाव है तथा अग्नि ठण्डी नहीं है, क्योंकि ठण्डा नहीं होना भी उसका स्वभाव है।

इसीप्रकार आत्मा जिन ज्ञानादि गुणों रूप है। उन ज्ञानादि गुणों रूप होना उसका स्वभाव है और वह जिन रूपादि गुणों रूप नहीं है, उन रूपादि रूप नहीं होना भी उसका स्वभाव ही है।

इसप्रकार तत्त्वशक्ति के कारण आत्मा ज्ञानादि गुणों रूप और उनके निर्मल परिणमन रूप है और अतत्त्वशक्ति के कारण रूपादि और रागादिरूप नहीं है।

इन शक्तियों का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"यह तत्त्वशक्ति ध्रुव त्रिकाल है; पर उसका परिणमन हुए बिना इस शक्ति की प्रतीति कैसे हो सकती है ? अतीन्द्रिय आनन्दरूप से परिणमना, ज्ञातारूप से परिणमना, अकषाय वीतरागभावरूप से परिणमना तद्रूपभवन

-मय तत्त्वशक्ति है।[१]

अपने स्वरूप में, एक चैतन्यरूप में तद्रूप परिणमन का नाम तत्त्वशक्ति है। उसमें राग का अभाव है; क्योंकि चैतन्य में राग का अंश नहीं है।[२]

रागरूप न होना; पुण्यभावरूप न होना; परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप न होना – ऐसी अतत्त्व नाम की जीव में शक्ति है। जिसप्रकार अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से रहने, निर्मल रहने रूप तत्त्वशक्ति है; उसीप्रकार रागरूप न होना एवं पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होना भी आत्मा का स्वभाव है और यही अतत्त्वशक्ति है।[३]

भगवान आत्मा में विकार हो – ऐसा कोई गुण नहीं है; बल्कि आत्मा विकाररूप नहीं होता – ऐसा आत्मा का अतत्त्वस्वभाव-गुण है।[४]

आत्मा रागरूप न हो जाये, शरीररूप न हो जाये – ऐसी आत्मा में अतत्त्वशक्ति त्रिकाल है।[५]

देखो ! पहले कहा था कि आनन्दरूप से परिणमनस्वभाववाली आत्मा की तत्त्वशक्ति है। यहाँ कहते हैं कि रागरूप और जड़रूप परिणमन नहीं करने के स्वभाववाली आत्मा की अतत्त्वशक्ति है। आत्मा शरीररूप नहीं होता – यह तो ठीक ही है; पर यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय में जो रागादिरूप परिणमन है; आत्मा उसरूप भी नहीं होता है – ऐसी अतत्त्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है।

शुद्ध चैतन्यरूप से परिणमन होना – ऐसी आत्मा की तत्त्वशक्ति है और रागरूप नहीं होना – ऐसी आत्मा की अतत्त्वशक्ति है। ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है।[६]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३५६
२. वही, पृष्ठ - ३५७
३. वही, पृष्ठ - ३६२
४. वही, पृष्ठ - ३६२
५. वही, पृष्ठ - ३६२
६. वही, पृष्ठ - ३६३

आत्मा अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है, यह उसकी तत्त्वशक्ति है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा नास्तिरूप है, यह उसकी अतत्त्वशक्ति है। ये दोनों शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। स्वरूप से होना और पररूप से नहीं होना – ऐसी जीव में एक विरुद्धधर्मत्वशक्ति त्रिकाल है। इस शक्ति के कारण परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म एकसाथ द्रव्य में अविरोध से रहते हैं और द्रव्य को सुस्थित-प्रस्थापित करते हैं। इस तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति के परिणमन में वीतरागता का वेदन होता है; राग के अभावरूप और वीतरागभाव से सद्भावरूप परिणमन होता है; इसी का नाम धर्म है। यह समझे बिना व्रत-तपादि सभी व्यर्थ हैं।

अहा ! यह जीव स्व-स्वरूप, एक ज्ञायकभावरूप का अवलम्बन लेकर परिणमन करे – ऐसी आत्मा की तत्त्वशक्ति और विकाररूप परिणमन न करे – ऐसी अतत्त्वशक्ति भगवान आत्मा में है; उसकी यथार्थ पहचान कर स्वावलंबन करना ही हितरूप है, लाभरूप है।[१]''

इसप्रकार इन तत्त्व-अतत्त्वशक्तियों में यही बताया गया है कि यह भगवान आत्मा जैसा है, जिन गुणोंरूप है और उनके निर्मल परिणमनरूप जैसा है; उस भगवान आत्मा का वैसा रहना, उन गुणोंरूप रहना, उनके निर्मल परिणमनरूप परिणमना और पररूप न होना सहज स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि स्व चतुष्टयरूप रहना और परचतुष्टयरूप नहीं होना इस आत्मा का सहज स्वभाव है और आत्मा के इस सहज स्वभाव का नाम ही तत्त्वशक्ति व अतत्त्वशक्ति है। स्व की अस्ति तत्त्वशक्ति का और पर की नास्ति अतत्त्वशक्ति का कार्य है।

इन शक्तियों के ज्ञान-श्रद्धान से स्वरूप में रहने की चिन्ता और पररूप न हो जाने का भय समाप्त हो जाता है।

ध्यान रखने की विशेष बात यह है कि आरंभ में आनेवाली दृशि,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३६७

ज्ञान, सुख, वीर्य आदि शक्तियाँ गुणरूप शक्तियाँ हैं और ये तत्त्व-अतत्त्व, एक-अनेक आदि शक्तियाँ धर्मरूप शक्तियाँ हैं।

परिशिष्ट के आरम्भिक अंश में ज्ञानमात्र आत्मा में अनेकान्तपना सिद्ध करते हुए जिन १४ भंगों की चर्चा की गई है; उन भंगों में चर्चित तत्-अतत्, एक-अनेक आदि धर्म ही यहाँ तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व आदि शक्तियों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

वहाँ जो अनेकान्त की चर्चा गई है, उसमें अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है। पहली अनंत गुणों के समुदाय के रूप में और दूसरे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों के रूप में।

उसी को आधार बनाकर यहाँ पहले गुणरूप शक्तियों की चर्चा की गई और बाद में धर्मरूप शक्तियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आत्मख्याति के आधार पर अनेकान्त का स्वरूप परमभावप्रकाशक नयचक्र में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाव वाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं।.....जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है – इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है – एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ सम्भव हैं तथा अन्त का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अत: जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिए। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा – अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त

है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायेगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा – परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं; सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मो के साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं। यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है, शक्ति आदि नामों से भी उसे अभिहित किया जाता है; तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे – नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं।

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते है; किन्तु जिनमें विरोध-सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं। अत: अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक युगल (जोड़े) पाये जाते हैं, अत: वस्तु केवल अनेक धर्मों (गुणों) का ही पिण्ड नहीं है; किन्तु परस्पर विरोधी दिखनेवाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है। उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मो को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।[१]''

प्रश्न : क्या शक्तियाँ गुण और धर्मरूप ही होती हैं ?

१. डॉ. भारिल्ल : परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ -२५७-२५८

उत्तर : गुण और धर्मों के अतिरिक्त कुछ शक्तियाँ स्वभाव रूप भी होती हैं। त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियाँ स्वभावरूप हैं।

प्रश्न : त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियाँ स्वभावरूप क्यों हैं ?

उत्तर : क्योंकि त्यागोपादानशून्यत्व जैसी शक्तियों की न तो पर्यायें होती हैं और उन उनका कोई प्रतिपक्षी होता है। जिन शक्तियों की पर्यायें होती हैं और जिनका प्रतिपक्षी नहीं होता; वे गुणरूप शक्तियाँ हैं और जिनकी पर्यायें तो नहीं होती, पर प्रतिपक्षी अवश्य होता है, वे धर्मरूप शक्तियाँ हैं।

जिनकी न पर्यायें हों और न प्रतिपक्षी ही हों; वे स्वभावशक्तियाँ हैं। इस त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति की न तो पर्यायें होती हैं और न कोई प्रतिपक्षी ही होता है; इसकारण वे स्वभावरूप शक्तियाँ हैं।

इनमें बस बात इतनी ही है कि भगवान आत्मा का ऐसा स्वभाव ही है कि वह न तो किसी के कुछ ग्रहण ही करता है और किसी का त्याग ही करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शक्तियों में गुण, धर्म और स्वभाव – सभी को समाहित कर लिया गया है।

प्रश्न : इसप्रकार की शक्तियाँ आत्मा में ही पाई जाती हैं या अन्य द्रव्यों में भी ?

उत्तर : जो शक्तियाँ सामान्य गुणों, धर्मों और स्वभावोंरूप हैं; वे तो सभी द्रव्यों में पाई जाती हैं; पर जो शक्तियाँ विशेष गुणों, धर्मों और स्वभावोंरूप होती हैं; वे मात्र आत्मा में ही पाई जाती हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व, तत्त्व-अतत्त्व, भाव-अभाव आदि शक्तियाँ सामान्य होने से सभी द्रव्यों में पाई जाती हैं और ज्ञान, सुख आदि शक्तियाँ आत्मा के विशेष गुणरूप होने से आत्मा में ही होती हैं।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो फिर आत्मख्याति में इन्हें आत्मा की शक्तियों के रूप में क्यों प्रस्तुत किया गया है ?

उत्तर : आत्मख्याति टीका आत्मा की ख्याति करनेवाली, आत्मा की प्रसिद्धि करनेवाली टीका है; इसकारण इसमें सम्पूर्ण कथन आत्मा की ही अपेक्षा किया गया है।

इसप्रकार तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति काअनुशीलन करने के उपरान्त अब एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

३१-३२. एकत्वशक्ति और अनेकत्वशक्ति

इन इकतीस और बत्तीसवीं एकत्व और अनेकत्वशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। एक-द्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः।

अनेक पर्यायों में व्यापक और एकद्रव्यमयपने को प्राप्त एकत्वशक्ति है और एक द्रव्य से व्याप्त (व्यापने योग्य)अनेक पर्यायोंमय अनेकत्वशक्ति है।''

इस भगवान आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी अनेक पर्यायों में व्याप्त होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। आत्मा के इसप्रकार के स्वभाव का नाम ही एकत्वशक्ति है।

इसीप्रकार इसमें एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह भगवान आत्मा स्वयंरूप एक द्रव्य में व्याप्त रहने पर भी अनेक पर्यायरूप से परिणमित हो जाता है। आत्मा के इसप्रकार के सामर्थ्य का नाम अनेकत्वशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा एक रहकर भी अनेक पर्यायोंरूप परिणमित होने की शक्ति से सम्पन्न है तथा अनेक पर्यायोंरूप परिणमित होते हुए भी इसकी एकता भंग नहीं हो – ऐसी शक्ति से भी सम्पन्न है।

यद्यपि एकत्व और अनेकत्व भाव परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; तथापि इस भगवान आत्मा में एकत्व और अनेकत्व – दोनों ही पाये जाते हैं। वह अनेक पर्यायों में परिणमित होते हुए भी एक ही रहता है और एक रहते हुए भी

अनेक पर्यायों में परिणमन की सामर्थ्य रखता है; क्योंकि यह आत्मा अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमय है और एक द्रव्य में व्याप्त अनेकपर्यायमय भी है।

इस आत्मा की अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमयता एकत्वशक्ति है और एकद्रव्य में व्याप्य अनेकपर्यायमयता अनेकत्वशक्ति है।

इन शक्तियों का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''एकत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है। उसका स्वरूप यह है कि अनेक निर्मल-पर्यायों में व्यापक होने पर भी आत्मा द्रव्यरूप से एक ही रहता है; अनेक नहीं होता।[१]

भगवान आत्मा अपनी एकत्वशक्ति से सर्वपर्यायों में व्यापनेवाला, पसरनेवाला एकरूप त्रिकाल एकद्रव्यमय वस्तु है।[२]

इस एकत्वशक्ति का परिणमन होने पर पर्याय में आत्मद्रव्य का एकपना प्रगट होता है। वेदान्त में जो अद्वैत-एकपना कहा है, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो अपने गुणपर्यायों में व्यापकपने की, एकमयपने की बात है।

देखो ! 'अनेक पर्यायों में व्यापक.....' ऐसा कहा है; सर्वद्रव्यों में व्यापक यह बात नहीं है। आत्मा परद्रव्य में कभी भी व्यापक नहीं है। अपने अनेक पर्यायों-भेदों, अनन्तगुण की निर्मलपर्यायों की कोई बात नहीं है; क्योंकि आत्मद्रव्य रागादिरूप मलिनपर्याय में व्यापक नहीं होता है। अपनी अनेक, अनन्त निर्मलपर्यायों में व्यापक – ऐसी एकद्रव्यमय एकत्वशक्ति आत्मद्रव्य में है।[३]

द्रव्यरूप से आत्मा एक होने पर भी अनेकपर्यायों रूप से स्वयं ही परिणमित होता है – ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है। इसप्रकार एकत्व की तरह अनेकत्व भी आत्मा का गुण स्वभाव है।[४]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३७०
२. वही, पृष्ठ - ३७०
३. वही, पृष्ठ - ३७०-३७१
४. वही, पृष्ठ - ३७५

एक द्रव्य में व्यापनेवाली अनेकपर्यायों रूप आत्मद्रव्य परिणमित होता है। आत्मा की ऐसी अनेकत्वशक्ति यहाँ सिद्ध की है।

जीव में एकत्वशक्ति की तरह अनेकत्वशक्ति भी त्रिकाल रहती है। एकरूप रहना और अनेकरूप रहना – ऐसे दोनों स्वभाव भगवान आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं। यदि मात्र एकत्व हो तो द्रव्य फिर किसमें व्यापेगा, पसरेगा ? एक पर्याय पलटकर दूसरी निर्मलपर्यायरूप आत्मा किसप्रकार होगा ? तथा यदि मात्र अनेकत्व हो तो अनेक पर्यायें किसके आधार से होंगी ? इसप्रकार आत्मा में एकसाथ एकत्व और अनेकत्व – दोनों शक्तियाँ त्रिकालसत्तारूप सिद्ध होती हैं।[१]

एकत्वशक्ति के वर्णन में एकद्रव्यमयता कही थी। यहाँ अनेकत्वशक्ति के वर्णन में एकद्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें हैं; उसरूपमय अनेकत्वशक्ति है। एकत्व और अनेकत्व – दोनों स्वभावरूप स्वयं आत्मा ही है; अत: आत्मसन्मुखता से ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है, राग से और परनिमित्त से नहीं होती; क्योंकि राग का और पर का शक्तियों में अभाव ही है।[२]''

इसप्रकार इन एकत्व और अनेकत्व शक्तियों में यही बताया गया है कि इस भगवान आत्मा में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि जिसके बल से यह भगवान आत्मा अनेक पर्यायों में व्यापक होकर भी एकत्वमय है, अखण्ड रहता है और एकद्रव्य में व्याप्य अनेक पर्यायों को धारण किये है।

इसप्रकार एकत्व और अनेकत्वशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब भावशक्ति, अभावशक्ति, भावाभावशक्ति, अभावभावशक्ति, भावभाव-शक्ति और अभावाभावशक्ति – इन छह शक्तियों का अनुशीलन करते हैं –

३३-३८. भाव-अभावादि ६ शक्तियाँ

३३ वीं भावशक्ति से ३८ वीं अभावाभाव शक्ति तक इन छह शक्तियों

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३७६
२. वही, पृष्ठ - ३७८

का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार दिया गया है–

''३३. भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः ३४. शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः ३५. भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः ३६. अभवत्पर्यायोदयरूपाअभावभावशक्तिः ३७. भवत्पर्यायभवन रूपा भावभावशक्तिः ३८. अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभाव शक्तिः –

वर्तमान अवस्था से युक्त होनेरूप भावशक्ति, शून्य अवस्था से युक्त होने रूप अभावशक्ति, वर्ततीपर्याय के व्ययरूप भावाभावशक्ति, पूर्व में न वर्तती पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति, होनेयोग्य पर्याय के होने रूप भावभावशक्ति और नहीं होने योग्य पर्याय के नहीं होने रूप अभाव-अभावशक्ति है।''

ये भाव-अभावादि शक्तियाँ भी सामान्यस्वभाव रूप होने से सभी (छह) द्रव्यों में पाई जाती हैं। इनके स्वरूप की सम्यक् जानकारी पर्यायों की क्रमबद्धता के निर्णय में भी अत्यन्त उपयोगी है।

'क्रमबद्धपर्याय' नामक कृति में इनका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है–

''प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य अपनी वर्तमान अवस्था से युक्त होता है अर्थात् उसकी निश्चित अवस्था होती ही है; उसे भावशक्ति कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति होती है, जिसके कारण वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था नहीं होती; इस शक्ति का नाम अभावशक्ति है।

उक्त दोनों शक्तियों के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय सुनिश्चित पर्याय ही होती है, अन्य नहीं।

प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति है, जिसके कारण वर्तमान पर्याय का नियम से आगामी समय में अभाव हो जायेगा; उस शक्ति का नाम है भावाभावशक्ति तथा एक शक्ति ऐसी भी है, जिसके कारण आगामी समय

में होनेवाली पर्याय नियम से उत्पन्न होगी ही। इस शक्ति का नाम है अभावभावशक्ति।

जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से होगी ही, ऐसी भी एक शक्ति प्रत्येक द्रव्य में है, जिसका नाम है भावभावशक्ति तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह नियम से नहीं होगी, उस शक्ति का नाम है अभावाभावशक्ति।

उक्त छह शक्तियों का स्वरूप यह सुनिश्चित सिद्ध करता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, अपने उपादान के अनुसार जैसी होनी होती है; वह स्वयं नियम से उसी समय, वैसी ही होती है; उसमें पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं होती।[1]''

सभी पदार्थों पर घटित होनेवाली इन भाव-अभावादि शक्तियों की चर्चा आत्मख्याति में आत्मा की विशिष्ट शक्तियों के संदर्भ में ही हुई है।

सैतालीस शक्तियों में आरंभिक गुण-शक्तियों की चर्चा में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा स्व और पर दोनों को देखता-जानता है, दोनों उसके ज्ञान-दर्शन दर्पण में झलकते हैं; किसी को देखने-जानने के लिए उसे उन ज्ञेय पदार्थों के पास नहीं जाना पड़ता और न उन ज्ञेय पदार्थों को आत्मा की समीप ही आना पड़ता है। सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक संबंध रहता है।

न केवल अपने आत्मा में स्व और पर को जानने की शक्ति है, अपितु परजीवों के ज्ञान का ज्ञेय बनने की भी शक्ति है। इसप्रकार यह आत्मा स्व और पर – दोनों को जानता है और स्व और पर – दोनों के द्वारा जाना भी जाता है। पर पदार्थों में थोड़े-बहुतों को ही नहीं; अपितु जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को, उनके अनन्त गुणों को और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को एक समय में एक साथ जानने की सामर्थ्य इसमें है।

---

[1] डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल : क्रमबद्धपर्याय - पृ. ७४-७५

इसप्रकार आरंभिक शक्तियों में अपने आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त आत्मा के प्रदेशों की स्थिति के सन्दर्भ में अनेक शक्तियों का विवेचन किया गया है।

इसके बाद धर्म-शक्तियों के विवेचन में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

अब इन भाव-अभाव आदि स्वभाव-शक्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया जा रहा है कि इस भगवान आत्मा में प्रतिसमय जो भी परिणमन हो रहा है, उसे करने की पूरी सामर्थ्य उसके स्वभाव में ही विद्यमान है। इसके लिए उसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

यदि किसी को यह आशंका हो कि आत्मा में जिस समय जो पर्याय होनी है, यदि वह उस समय नहीं हुई तो क्या होगा ?

उक्त आशंका का यही समाधान है कि भगवान आत्मा में भाव नाम की एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय होगी ही।

इसीप्रकार यदि यह आशंका हो कि जो पर्याय इस समय नहीं होनी है, यदि वह पर्याय हो गई तो क्या होगा ? इसका समाधान अभावशक्ति में है। अभावशक्ति के कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से नहीं होगी।

भावशक्ति का कार्य है कि विवक्षित पर्याय स्वसमय पर हो ही और अभावशक्ति का कार्य है कि अविवक्षित पर्याय उस समय किसी भी स्थिति में न हो।

अब प्रश्न उपस्थित होता है यदि विद्यमान पर्याय का अगले समय में अभाव ही न हो तो फिर नई पर्याय कैसे होगी ?

आचार्य कहते हैं कि आत्मा में भावाभाव नाम की एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण विद्यमान पर्याय का अगले समय में नियम से अभाव

होगा ही।

इसीप्रकार यदि यह प्रश्न हो कि यदि अगले समय में जो पर्याय आनी थी, यदि वह पर्याय अगले समय नहीं आई तो क्या होगा ?

आचार्य कहते हैं कि अभाव-भाव नाम की एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण अगले समय में होनेवाली पर्याय अगले समय में गारंटी से होगी ही।

जो पर्याय होनी है, वह न होकर कोई अन्य पर्याय हो जावे और जिस पर्याय का अभाव होना है, उसका अभाव न हो तो क्या होगा ?

आत्मा में भावभाव और अभाव-अभाव नाम की ऐसी शक्तियाँ हैं कि जिनके कारण जो पर्याय होनी हो वही होती है और जो नहीं होनी हो वह नहीं होती।

इसप्रकार उक्त छह शक्तियों के स्वरूप को सही रूप में समझ लेने से यह आशंका समाप्त हो जाती है कि कोई कार्य समय पर नहीं हुआ तो क्या होगा?

इन शक्तियों के नामों से ही इनका स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। भाव शब्द का अर्थ होता है होना। अत: जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय उस पर्याय का नियमरूप से होना ही भावशक्ति का कार्य है। इसीप्रकार अभाव शब्द का अर्थ होता है नहीं होना। अत: जिस समय जिस पर्याय का नहीं होना निश्चित हो; उस पर्याय का उस समय नहीं होना ही अभावशक्ति का कार्य है।

इसीप्रकार भावाभाव अर्थात् भाव का अभाव। जो पर्याय अभी विद्यमान है, उसका अगले समय में निश्चित रूप से अभाव हो जाना ही भाव-अभावशक्ति है। और अभावभाव अर्थात् अभाव का भाव होना। जो पर्याय अभी नहीं है और अगले समय में नियम से होनेवाली है; उस अभावरूप पर्याय का भावरूप होना ही अभावभावशक्ति का कार्य है।

भावभाव अर्थात् भाव का भाव और अभाव-अभाव अर्थात् अभाव

का अभाव। तात्पर्य यह है कि जो पर्याय होनेवाली है, उसी पर्याय का होना अन्य का नहीं होना भावभावशक्ति का कार्य है और जो पर्याय होनेवाली नहीं है अथवा जिसका अभाव सुनिश्चित है; उस पर्याय का नहीं होना अभाव-अभावशक्ति का कार्य है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त छह शक्तियों के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए इन भावभाव और अभाव-अभावशक्ति में द्रव्य और पर्याय दोनों के होने की बात को स्पष्ट करते हैं।

उनके द्वारा किया गया इन शक्तियों का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, उसका यह वर्णन चल रहा है। उसमें जीवत्वशक्ति से प्रारम्भ करके अनेकत्वशक्ति तक की ३२ शक्तियों का वर्णन हो चुका है। अब 'भाव' और 'अभाव' आदि संयुक्तरूप से छह शक्तियों का वर्णन करते हैं।[१]

आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जिससे प्रतिसमय कोई अवस्था विद्यमान होती ही है। इसलिए दूसरे के कारण अवस्था होती है – यह बात नहीं रहती। भावशक्ति से वर्तमान में जो अवस्था विद्यमानरूप से वर्तती है, उसके अतिरिक्त अन्य सर्व अवस्थाएँ अविद्यमानरूप हैं – ऐसी अभावशक्ति आत्मा में है।

यदि वर्तमान अवस्था विद्यमान न हो तो वस्तु ही न हो और यदि पूर्व-पश्चात् की अवस्थाओं का वर्तमान में अभाव न हो तो पूर्व का अज्ञान कभी (ज्ञानदशा में भी) दूर नहीं होगा तथा साधकपने में ही भविष्य की केवलज्ञानदशा हो जायेगी; किन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमानरूप में एक अवस्था वर्तती है, वह भावशक्ति का कार्य है और उस अवस्था में दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं – वह अभावशक्ति का कार्य है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३७६

२. वही, पृष्ठ - ३७६

आत्मा है किन्तु उसकी कोई पर्याय नहीं है – ऐसा माने अथवा पर के कारण पर्याय का होना माने या पर्याय में आत्मा दिखलाई नहीं देता – ऐसा माने तो उस जीव ने सचमुच भावशक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना है।[१]

त्रिकाल में जब देखो तब द्रव्य की अवस्था स्वयं से ही विद्यमानरूप वर्तती है और उस-उस समय की अवस्था के अतिरिक्त अन्य आगे-पीछे की समस्त अवस्थाएँ अविद्यमान ही हैं। वर्तमान पर्याय का वर्तनपना सो 'भाव' और दूसरी पर्याय का अवर्तनपना सो 'अभाव' – ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ वर्तती हैं।

द्रव्य सामान्य है और पर्याय उसका विशेष है। विशेषरहित अकेला सामान्य नहीं हो सकता। यदि आत्मा की अवस्था अपने से न हो तो सामान्य द्रव्य विशेषरहित हो जायेगा; इसलिए आत्मा का अभाव ही हो जायेगा। जड़ में भी ऐसा स्वभाव है; इसलिए जड़ की अवस्था का विद्यमानपना भी उसके अपने से ही है।[२]

द्रव्य-गुण त्रिकाल सत् हैं और उनकी प्रवर्तमान अवस्था वह वर्तमान सत् है। इसप्रकार अपने द्रव्य-गुण और उनकी प्रवर्तमान अवस्था से आत्मा भावरूप है तथा दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं; इसलिए वह अभावरूप है। भूतकाल की अज्ञानदशा अथवा भविष्य की सिद्धदशा का वर्तमान साधकदशा में अभाव है। अज्ञानदशा भूतकाल में थी, सिद्धदशा भविष्य में होनेवाली है; तथापि वर्तमान में उन दोनों का अभाव है – ऐसी अभावशक्ति आत्मा में है।[३]

निर्मलपर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार नहीं होता – इसमें तो महान रहस्य है। त्रैकालिक स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय द्रव्य के साथ तद्रूप हो जाती है; इसलिए वह पर्याय निर्मल है। स्वभावोन्मुख निर्मल

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३८०
२. वही, पृष्ठ - ३८०
३. वही, पृष्ठ - ३८१

अवस्था के बिना यथार्थरूप से स्वभाव का स्वीकार नहीं होता। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसका स्वीकार करने से वह स्वयं निर्मलदशारूप परिणमित हो जाता है।[१]

आत्मा के शुद्धस्वभाव का स्वीकार करने से वह स्वभाव उल्लसित होकर पर्याय में आता है। पर्याय भी स्वभाव में अभेद होकर शुद्धरूप परिणमित होती है।[२]

शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्याय – दोनों की एकरूपतामय ही आत्मा का अस्तित्व है।[३]

यदि भावशक्ति न हो तो निर्मलपर्यायरूप भवन-परिणमन नहीं हो सकता और यदि अभावशक्ति न हो तो पूर्व की विकारी पर्याय के अभावरूप परिणमन नहीं हो सकता; इसलिए वे दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ परिणमित होती हैं। ऐसे आत्मा की पहिचान करके उसका अवलम्बन करने पर अनुक्रम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन होता है और विभाव-परिणमन का अभाव होता है। इसी में मोक्ष का पुरुषार्थ है।[४]

वर्तमान पर्याय अन्तुर्मख होकर त्रिकाली द्रव्य के साथ एकता करे उसका नाम अनेकान्त है और पर के साथ एकता करे वहाँ द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध, इसलिए द्रव्य-पर्याय की एकतारूप अनेकान्त नहीं हुआ; किन्तु एकान्त हुआ। यहाँ आचार्यदेव अनन्त शक्तिवाले आत्मस्वभाव के साथ एकता कराके अनेकान्त कराते हैं।[५]

यह भावशक्ति आत्मा का रागादि से और पर से भिन्नत्व तथा वर्तमान निर्मलपर्याय के साथ एकत्व बतलाती है और वर्तमान द्रव्य के साथ अभेद

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३८४
२. वही, पृष्ठ - ३८४
३. वही, पृष्ठ - ३८६
४. वही, पृष्ठ - ३८७
५. वही, पृष्ठ - ३८६

हुई निर्मलपर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्यायें तथा रागादि अविद्यमान हैं – ऐसा अभावशक्ति बतलाती है। ज्ञान स्वभाव को लक्ष में लेकर परिणमन करने में ऐसी भावशक्ति और अभावशक्ति भी निर्मलतारूप परिणमित होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकसाथ अनेक शक्तियों का परिणमन होने से स्वयमेव अनेकान्त स्वरूप है। ऐसे अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्मा को पहिचानना तो अपूर्व धर्म है।

आत्मा के शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है और उस स्वभाव में एकाग्र हुई निर्मल पर्याय में भी विकार का अभाव है – ऐसी अभावशक्ति है; इसलिए 'विकार का अभाव करूँ' ऐसा नहीं रहता, क्योंकि निर्मलरूप वर्तती हुई पर्याय स्वयं विकार के अभावस्वरूप ही है। जैसे कि सम्यक्त्वपर्याय हुई वह स्वयं मिथ्यात्व के अभावस्वरूप है; इसलिए 'मिथ्यात्व का अभाव करूँ' ऐसा उस पर्याय में नहीं रहता।[1]

'भाव का अभाव' और 'अभाव का भाव' इन दोनों का एक ही समय है, भिन्न-भिन्न समय नहीं है। जैसे कि साधक को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ पहले जो साधकदशा थी, उसका अभाव हुआ, वह 'भाव का अभाव' है और पहले जो केवलज्ञानदशा नहीं थी, वह प्रगट हुई उसका नाम 'अभाव का भाव' है। इसप्रकार भाव-अभावशक्ति और अभाव-भावशक्ति – यह दोनों शक्तियाँ एक ही समय में कार्य कर रही हैं।

यदि भाव का अभाव न हो तो केवलज्ञान होने पर भी छद्मस्थ साधकदशा दूर न हो और अभाव का भाव न हो तो साधकदशा दूर होने पर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति न हो अर्थात् कोई पर्याय ही न रहे और पर्याय के बिना द्रव्य का अभाव ही हो। इसलिए इन दोनों शक्तियों से अपना स्वरूप समझना चाहिए।[2]

प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय की

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३८९-३९०
२. वही, पृष्ठ - ३९४

उत्पत्ति होती ही रहती है। जो पर्याय थी वह गई और नहीं थी वह हुई – इसमें भाव-अभाव और अभाव-भाव दोनों आ जाते हैं। भाव का अभाव और अभाव का भाव – ऐसे परिणमन की अटूट धारा प्रत्येक वस्तु में चल रही है। जो वस्तु के ऐसे परिणमन को ही नहीं मानते गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें तो मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन नहीं होता। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल भावरूप रहते हैं और पर्याय तो एकसमय की ही भावरूप है, दूसरे समय उसका अभाव होकर नया भाव प्रगट होता है, वहाँ त्रिकाली एकरूप भाव के आश्रय से साधक की पर्याय में निर्मलता का भाव बढ़ता जाता है और मलिनता का अभाव होता जाता है। ऐसे परिणमन के बिना अज्ञानदशा एवं साधकदशा दूर होकर सिद्धदशा नहीं हो सकती।

यहाँ जितनी शक्तियों का वर्णन करते हैं, वे सर्व शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में विद्यमान हैं; अनन्त शक्तियों का धारक एक आत्मा है; जहाँ एक शक्ति है, वहीं दूसरी अनन्त शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान हैं; इसलिए यदि एक शक्ति के द्वारा आत्मस्वभाव को जाने तो अनन्त शक्तिवान चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रतीति में आ जाता है।[१]

इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के परिणमन में ऐसा भाव-अभावपना है कि पहले समय की अवस्था दूसरे समय अभावरूप हो जाती है; इसलिए प्रतिसमय उसकी अवस्था बदल जाती है। यदि एक ही अवस्था चलती रहे और भाव का अभाव न हो तो अज्ञानी का अज्ञान कभी दूर हो ही नहीं सकता; साधक की साधकता कभी दूर हो ही नहीं सकती; उसीप्रकार नवीन पर्याय प्रगट होनेरूप 'अभाव-भाव' यदि न हो तो अनादि से अभावरूप ऐसा सम्यग्ज्ञान कभी प्रगट हो ही नहीं सकता, केवलज्ञान प्रगट हो ही नहीं सकता; किन्तु ऐसा नहीं है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ३९६-३९७
२. वही, पृष्ठ - ४०३

इसप्रकार भाव-अभाव और अभाव-भाव शक्तिवाले आत्मस्वभाव को पहिचानने से संसार दूर होकर सिद्धदशा प्रगट होती है, वह सिद्धदशा होने के बाद भी भाव-अभाव और अभाव-भाव तो होता ही रहता है अर्थात् एक के बाद एक पर्याय बदलती ही रहती है; किन्तु वे समस्त पर्यायें एकसमान शुद्ध ही होती हैं, प्रतिक्षण नई-नई पर्याय का अनुभव होता रहता है।

भाव का अभाव और अभाव का भाव ऐसे अखण्ड प्रवाह की धारा में साधक-धर्मी को शुद्धता की वृद्धि होती जाती है।

जगत के चेतन या अचेतन समस्त पदार्थों में भी भाव का अभाव और अभाव का भाव ऐसा पर्याय का रूपान्तर अपने-अपने स्वभाव से हो ही रहा है। जो जीव ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने, उसे जगत के किसी पदार्थ में वर्तमान चालू पर्याय का मैं अभाव करूँ अथवा न हो उसे उत्पन्न करूँ ऐसी भ्रमबुद्धि नहीं रहती; किन्तु मोहरहित ज्ञातापना ही रहता है।[१]

भाव का अभाव और अभाव का भाव – इस रूप प्रतिसमय परिणमित होता रहे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है, इसलिए आत्मा के सर्वगुण भी इसीप्रकार परिणमित हो रहे हैं। जहाँ अनन्त गुणों के पिण्डरूप आत्मस्वभाव के लक्ष से परिणमन हुआ, वहाँ समस्त गुणों में निर्मल परिणमन का प्रारम्भ हो जाता है।[२]

त्रिकाली भाव और वर्तमान भाव दोनों एक होकर वर्तते हैं। ऐसी भाव-भावशक्ति है। आत्मा त्रिकाल भावरूप रहकर प्रतिसमय भावरूप वर्तता है – इसप्रकार भवते भाव का भवन है और आत्मा कभी पररूप नहीं होता; आत्मा में पर का अभाव है और वह सदैव अभावरूप ही रहता है – ऐसी अभाव-अभाव शक्ति है। इसप्रकार ये शक्तियाँ आत्मा का स्व में एकत्व

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४०४
२. वही, पृष्ठ - ४०७

और पर से विभक्तपना बतलाती हैं।[१]

ज्ञान त्रिकाल ज्ञानभावरूप रहकर वर्तमान वर्तमानरूप परिणमित होता है; प्रभुता का भाव त्रिकाल प्रभुतारूप रहकर वर्तमान वर्तमानरूप परिणमित होता है; श्रद्धा त्रिकाल श्रद्धाभावरूप रहकर वर्तमान वर्तमानरूप परिणमित होती है; आनन्द सदैव आनन्दभावरूप रहकर वर्तमान वर्तमानरूप परिणमित होता है; वीर्य त्रिकाल वीर्यशक्तिरूप रहकर वर्तमान वर्तमानरूप परिणमित होता है – इसप्रकार समस्त गुण अपने-अपने त्रिकालीभावरूप रहकर अपनी-अपनी पर्याय के वर्तमानरूप परिणमित होते हैं। इसप्रकार त्रिकालभावरूप और वर्तमान भावरूप ऐसा वस्तु का स्वभाव है, उसका नाम भाव-भाव शक्ति है।[२]

पर का आत्मा में अत्यन्त-अभाव है वह सदैव अभावरूप ही रहता है; रागादि का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है और उस स्वभाव के आश्रय से वर्तमान में भी उस राग के अभावरूप परिणमन हो जाता है। ऐसी आत्मा की अभाव-अभावशक्ति है।[३]

आत्मा ध्रुव रहकर वर्तमान वर्तमान निर्मलभावरूप परिणमित हो – ऐसी भाव-भावशक्ति है तथा त्रिकाल में और वर्तमान में दोनों में पर का तथा विकार का अभाव ही रखे – ऐसी अभाव-अभावशक्ति है। ये दोनों शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप में आत्मा में एकसाथ वर्तती हैं।[४]

इसप्रकार ३३-३४-३५-३६ तथा ३७-३८ इन छह शक्तियों में भाव-अभाव संबंधी कुल छह बोल कहे। मिथ्यात्व का अभाव होकर वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय प्रगट होती है, उसमें यह छह बोल निम्नानुसार लागू होते हैं–

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४१०
२. वही, पृष्ठ - ४१०-४११
३. वही, पृष्ठ - ४११
४. वही, पृष्ठ - ४१६

१.सम्यक्त्व पर्याय वर्तमान विद्यमान वर्तती है वह भाव (३३)

२. वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय में पूर्व की मिथ्यात्व पर्याय अविद्यमान है तथा भविष्य की केवलज्ञानपर्याय भी अविद्यमान है, वह अभाव (३४)

३.पहले समय मिथ्यात्व भावरूप था वह वर्तमान में अभावरूप हुआ वह भाव-अभाव (अथवा जो सम्यग्दर्शनपर्याय वर्तमान भावरूप है वह दूसरे समय अभावरूप हो जायेगी वह भाव-अभाव)(३५)

४. पूर्व समय में सम्यक्त्व का अभाव था वर्तमान समय में वह प्रगट हुआ, वह अभाव-भाव (अथवा दूसरे समय की जो सम्यक्त्वपर्याय वर्तमान अभावरूप है वह दूसरे समय भावरूप होगी – यह अभाव-भाव) (३६)

५. श्रद्धा गुण नित्य श्रद्धाभावरूप रहकर सम्यक्त्वपर्याय के भावरूप हुआ है वह भाव-भाव। (३७)

६. श्रद्धा के सम्यक् परिणमन में पर का तथा मिथ्यात्वादिक का अभाव है और अभाव ही रहेगा वह अभाव-अभाव।(३८)

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा के परिणमन में वे छहों धर्म एकसाथ ही वर्तते हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्वपर्याय की भांति केवलज्ञान, सिद्धदशा आदि में भी वे छहों प्रकार एकसाथ लागू होते हैं, उन्हें समझना चाहिए।

अभाव-भाव कहने में वर्तमान में जो पर्याय हुई वह पहले अभावरूप थी; इसप्रकार उसमें ''प्राक्-अभाव'' आ जाता है। तथा भाव-अभाव कहने से वर्तमान में जो पर्याय विद्यमान है वह बाद के समयों में अभावरूप हो जायेगी; इसप्रकार उसमें ''प्रध्वंस-अभाव'' आ जाता है तथा जीव में अपने से भिन्न ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का त्रिकाल अभाव ही है; इसप्रकार उसमें ''अत्यन्त-अभाव'' भी आ जाता है और ''अन्योन्य-अभाव'' तो पुदगलों की वर्तमान पर्यायों में ही परस्पर लागू होता है।[1]

प्रश्न : ३३ वीं भाव शक्ति कही और ३७ वीं भाव-भाव शक्ति कही,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४१७

उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : भावशक्ति में तो वर्तमान पर्याय की बात थी, वह तो भविष्य में अभावरूप हो जायेगी; जबकि भाव-भावशक्ति में तो ज्ञानादिभाव हैं वे त्रिकाल ज्ञानादि भावरूप ही रहते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। इसप्रकार दोनों में अन्तर है।

प्रश्न : ३४ वीं अभावशक्ति कही और ३८ वीं अभाव-अभावशक्ति कहीं, उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : अभावशक्ति में तो वर्तमान पर्याय में भूत-भविष्य की पर्यायों के अभाव की बात है और इस अभाव-अभावशक्ति में तो त्रिकाल अभाव की बात है। जैसे कि साधक को भविष्य की केवलज्ञान पर्याय का वर्तमान में जो अभाव है, वह अभावशक्ति में आता है; किन्तु अभाव-अभावशक्ति में वह नहीं आता; क्योंकि यदि वह केवलज्ञानपर्याय अभाव-अभावरूप हो तब तो वह सदैव अभावरूप ही रहेगी; इसलिए भविष्य में भी कभी केवलज्ञान प्रगट ही नहीं होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। केवलज्ञानपर्याय का वर्तमान में अभाव है; किन्तु भविष्य में वह भावरूप हो सकती है और पर का आत्मा में त्रिकाल अभाव है, वह तो त्रिकाल अभावरूप ही रहता है। भविष्य में भी वह आत्मा में भावरूप नहीं वर्तेगा; इसलिए वह अभाव-अभावशक्ति में आता है।

प्रश्न : ३५ वीं भाव-अभावशक्ति कही और ३६ वीं अभाव-भावशक्ति कही उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : भाव-अभाव में विद्यमान पर्याय का व्यय होने की बात है और अभाव-भाव में अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति होने की बात है। – इसप्रकार एक ही समय में दोनों होने पर भी उसमें विवक्षा भेद है।[1]''

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि आत्मख्याति में इन छह शक्तियों की चर्चा आत्मा के संदर्भ में ही हुई है; तथापि ये शक्तियाँ

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४१८

सामान्य हैं, सभी द्रव्यों पर घटित होनेवाली शक्तियाँ हैं। इनके स्पष्टीकरण से यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय नियम से अपनी उपादानगत योग्यता के अनुसार स्वसमय में होती ही है; उसमें न तो पर के सहयोग की आवश्यकता है और न पर के द्वारा उसमें किसी का कोई हस्तक्षेप ही हो सकता है।

उक्त भावादि छह शक्तियों की चर्चा के उपरान्त अब ३९ वीं भावशक्ति और ४० वीं क्रियाशक्ति की चर्चा करते हैं।

३९-४०. भावशक्ति और क्रियाशक्ति

इन ३९ वीं भावशक्ति और ४० वीं क्रियाशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः कारका -नुगतभवत्तारूप भावमयी क्रियाशक्तिः –

कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्रमयी भावशक्ति है और कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति है।''

देखो, यह भावशक्ति कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित मात्र होनेरूप है और क्रियाशक्ति कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप है।

भावशक्ति यह बताती है कि आत्मा रागादि विकारी भावों के षट्कारकों से रहित है और क्रियाशक्ति यह बतलाती है कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों के षट्कारकों से सहित है।

३३ वीं शक्ति का नाम भी भावशक्ति है और इस ३९ वीं शक्ति का नाम भी भावशक्ति ही है; नाम एकसा होने पर भी दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि ३३ वीं भावशक्ति में यह कहा था कि प्रत्येक द्रव्य अपनी सुनिश्चित वर्तमान पर्याय से युक्त होता ही है और इस ३९ वीं भावशक्ति में यह बताया जा रहा है कि यह भगवान आत्मा कारकों की क्रिया से निरपेक्ष है।

भावादि छह शक्तियों के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ था कि प्रत्येक द्रव्य

की प्रत्येक पर्याय पर की अपेक्षा बिना स्वयं की योग्यता से स्वसमय में प्रगट होती ही है; इसप्रकार वह परकारकों से निरपेक्ष है। और अब इस ३९ वीं भावशक्ति में प्रत्येक समय की प्रत्येक पर्याय को अभिन्न षट्कारकों से भी निरपेक्ष बताया जा रहा है।

ध्यान रहे यह अभिन्न षट्कारकों से निरपेक्षता विकारी पर्याय संबंधी ही ग्रहण करना; क्योंकि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों से सापेक्षता अगली क्रियाशक्ति में स्पष्ट की जावेगी।

यद्यपि ३९ वीं शक्ति में विकारी-अविकारी पर्याय संबंधी कोई उल्लेख नहीं है; सामान्यरूप से ही अभिन्नषट्कारकों से निरपेक्षता का कथन है; तथापि ४० वीं शक्ति में निर्मलर्याय संबंधी अभिन्नषट्कारकों की सापेक्षता का कथन होने से यह सहज ही फलित हो जाता है कि ३९ वीं शक्ति में विकारी पर्यायों की निरपेक्षता ही समझना चाहिए।

इसप्रकार इन भावादि शक्तियों में पर से निरपेक्षता और विकारी पर्यायों से निरपेक्षता बताकर निर्मल पर्यायों सम्बन्धी षट्कारकों की सापेक्षता का निरूपण है।

इसके बाद षट्कारकों संबंधी कर्मशक्ति, कर्त्ताशक्ति, करणशक्ति, सम्प्रदानशक्ति, अपादानशक्ति और अधिकरणशक्ति – इन छह शक्तियों का निरूपण होगा और उसके बाद सम्बन्धशक्ति की चर्चा करेंगे।

उक्त ३९ वीं और ४० वीं शक्तियों को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''अभी तक ३८ शक्तियों का वर्णन हुआ। अब ३९ वीं 'भावशक्ति' में विकारी छह कारकों का अभाव बतलाते हैं; फिर ४० वीं 'क्रियाशक्ति' में स्वभावरूप छह कारक बतलायेंगे और उसके बाद कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण तथा सम्बन्ध – इन सातों शक्तियों का आत्मा के स्वभावरूप से वर्णन करके आचार्य भगवान ४७ शक्तियों का

कथन समाप्त करेंगे।

कैसी है आत्मा की भावशक्ति ? कर्त्ता-कर्म-करण आदि षट्कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्रमयी (होनेमात्रमय) भावशक्ति है। पहले तेतीसवें बोल में भावशक्ति का कथन किया था, वहाँ तो अवस्था की विद्यमानता बतलाई थी और यह भावशक्ति उससे भिन्न है। इस भावशक्ति में कारकों से निरपेक्षपना बतलाते हैं।

सुखी होने के लिए दु:ख दूर करके सुख कहाँ से ढूँढें ? उसकी यह बात है। भाई, तेरा सुख तुझमें है और तू ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होने के स्वभाववाला है; पर को कारक बनाकर उससे सुखी होना चाहेगा तो कभी सुख प्राप्त नहीं होगा। अपने सुखादि भावों के लिए पर को कारक बनाये – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय अपने से भिन्न अन्य किसी कारक के आधार से स्थित रहे, आत्मा का ऐसा पराधीन स्वभाव नहीं है; किन्तु अन्य कारकों से रहित स्वयं अपने भावरूप परिणमित होने का स्वभाव है।[१]

आत्मा के शुद्धभाव का कर्त्ता राग नहीं है, राग कर्म भी नहीं है, राग करण नहीं है, राग सम्प्रदान नहीं है, राग अपादान नहीं है और राग अधिकरण नहीं है। इसप्रकार वह शुद्धभाव कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित है तथा आत्मा स्वयं भी स्वभाव से राग का कर्त्ता नहीं है, राग का कर्म नहीं है, करण नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है तथा अधिकरण भी नहीं है; उसीप्रकार राग का और स्वभाव का स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है। आत्मा राग करे और उसके फल को भोगे – ऐसा आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान-आनंदमय है; आनंद का उपभोग करना ही आत्मा का स्वभाव है; आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह पर के या विकार के कारकों का अनुसरण करे।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४१६
२. वही, पृष्ठ - ४२२

यहाँ कहते हैं कि बाह्य कारण तो दूर रहो; किन्तु विकार के कर्त्ता-कर्म-करण आदि छह कारक जो आत्मा की पर्याय में होते हैं, उनके अनुसार परिणमित होने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर के कारण विकार होता है या पर के कारण गुण होता है – ऐसा जो माने उसने तो बाह्य कारकों को आत्मा में माना है और वह तो मिथ्यात्वी है तथा भेदरूप कारकों से विकाररूप परिणमित होता है – ऐसा ही आत्मा को माने और शुद्ध आत्मा को न जाने तो उसने भी आत्मा के वास्तविक स्वभाव को नहीं जाना है, वह भी मिथ्यात्वी है। जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव हुए वे द्रव्य के साथ अभेद हुए, वहाँ कर्त्ता और कर्म तथा आधार आदि समस्त कारक अभेद हुए; कर्त्ता अलग, कर्म अलग और साधन कोई दूसरा – ऐसा भेद वहाँ नहीं रहा। ज्ञाता स्वयं ही छह कारकरूप होकर शुद्धभावरूप परिणमित हुआ है, वहाँ भेदरूप कारकों की क्रिया अस्त हो गई है।[१]

रागादि कारकों का अनुसरण किए बिना ही स्वयं शुद्ध भावरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है, उसे यह भावशक्ति बतलाती है।[२]

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्धभावरूप परिणमन में पर के कारकानुसार होनेवाली क्रिया से रहित है, पर के कारकानुसार होनेवाली जो विकारी क्रिया उससे रहित शुद्धभावरूपभवन-मात्र शक्तिवाला आत्मा है, उसमें अन्तरोन्मुख होने से ही कल्याण है।[३]

इसप्रकार स्वाश्रय अभेदरूप कारकों में भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया की नास्ति है और अभेदरूप कारक के आश्रय से होनेवाली निर्मल क्रिया की अस्ति है। उसमें से भेद कारकों के अनुसार होनेवाली विकारी क्रिया का नास्तिपना इस ३६ वीं शक्ति में बतलाया और

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४२७
२. वही, पृष्ठ - ४२९
३. वही, पृष्ठ - ४३०

अभेदाश्रित निर्मलभाव होनेरूप क्रिया का अस्तिपना अगली शक्ति में बतलायेंगे।[1]

यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कर्त्ता होकर शरीरादि के कार्य को करे – ऐसा तो नहीं है और आत्मा कर्त्ता होकर रागादि को करे ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा कर्त्ता होकर अपने निर्मल परिणाम को करे वही उसका स्वभाव है।

आत्मा परिवर्तित होकर अपनी ज्ञानादि पर्यायोंरूप होता है; किन्तु वह बदलकर कभी जड़ शरीररूप नहीं होता; इसलिए आत्मा शरीर के कार्यों का कर्त्ता नहीं है। शरीर की क्रियारूप से तो जड़ परमाणु बदलते हैं। जो वस्तु जिस कार्यरूप परिणमित हो उसी को उसका कर्त्ता कहा जाता है। आत्मा कहीं शरीर के कार्यरूप परिणमित नहीं होता और वास्तव में राग में अभेद होकर भी परिणमित नहीं होता; आत्मा तो अपने निर्मल ज्ञानदर्शनादि पर्यायरूपी कार्य में अभेद होकर परिणमित होता है, इसलिए उसी का वह कर्त्ता है और वही उसका कर्म है। इसके बदले जो विकार में तन्मयता मानकर परिणमित हो वह मिथ्यादृष्टि है।[2]

देखो ! पहले ३९ वीं शक्ति में कारकों के अनुसार जो विकृत अवस्थारूप क्रिया होती है, उससे रहित परिणमने की बात थी। यहाँ निर्मल अभेदकारक अनुसार अविकृत निर्मलक्रिया से सहित परिणमने की बात है। कर्त्ता, कर्म, करण आदि निर्मल अभेदकारकों के अनुसार होनेरूप जो भाव, उसमयी भावशक्ति है।[3]

अपने निर्मल अभेद षट्कारकों के अनुसार निर्मलपरिणति का होना आत्मा का स्वभाव है और रागपने नहीं होना भी आत्मा का स्वभाव है। यह अनेकान्त है। अहाहा ! पररूप से न हो, विकाररूप से न हो, भेद के

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४३४
२. वही, पृष्ठ - ४३५
३. वही, पृष्ठ - ४३७

आलम्बन से न परिणमे; परन्तु अभेद, निर्मल षट्कारकों के अनुसार निर्मल, निर्विकार परिणतिरूप से परिणमे – ऐसा दिव्य शक्तिमान चैतन्यचिन्तामणि प्रभु आत्मा स्वयमेव देव है।[१]

निर्मल षट्कारकों के अनुसार निर्मल शुद्धरत्नत्रय की परिणति होना मोक्ष का कारण है। इस निर्मलपरिणतिरूप से परिणमनेरूप क्रियाशक्ति है।[२]

चिद्विलास में परिणमनशक्ति का वर्णन है। वहाँ कहा है कि यह परिणमनशक्ति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं। इसकी साक्षी सूत्रजी में दी है कि **द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः** अर्थात् गुणपर्यायवाला द्रव्य है – ऐसा भी कहा है। देखो ! पर्यायवाला द्रव्य को ही कहा, गुण को नहीं अर्थात् द्रव्य की शक्ति द्रव्य में से उठती है, गुण में से नहीं। शक्ति या गुण तो द्रव्य की त्रिकाली विशेषता है और उस विशेषतारूप द्रव्य परिणम जाता है। विशेषता या गुण स्वतंत्र परिणमते हैं – ऐसा नहीं है।

द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं; अतः द्रव्य के परिणमने पर शक्ति परिणमी – ऐसा कहा जाता है। अभेद, एक, त्रिकाली, शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से, द्रव्य के सन्मुख होकर परिणमने से पूरा द्रव्य परिणमता है। गुण का स्वतंत्र परिणमन नहीं होता है; परन्तु द्रव्य की परिणति समस्त गुणों की परिणतिरूप होती है। इसप्रकार गुण-गुणी के भेद की दृष्टि छोड़ने का प्रयोजन सिद्ध होता है।

भाई ! तेरे चैतन्यनिधान में अनन्त गुणनिधान भरे हैं, उसे जानकर अनन्तगुणनिधानस्वरूप शुद्ध चैतन्यनिधान में दृष्टि कर, जिससे तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल-निर्मल परिणति प्रगट होगी। यह मार्ग है और यही धर्म है; शेष सभी व्यर्थ है।[३]

यहाँ ४० वीं क्रियाशक्ति में कारक के अनुसार होनेरूप कहा – इसमें

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४३७
२. वही, पृष्ठ - ४३८
३. वही, पृष्ठ - ४३८-४४९

त्रिकाली निर्मल कारक लेना है। ३९ वीं क्रियाशक्ति में पर्याय के (अशुद्ध) षट्कारकों की बात थी। यहाँ द्रव्य-गुण के निर्मल कारकों की बात है। 'कारकों के अनुसार' अर्थात् त्रिकाली निर्मल कारकों के अनुसार होनेरूप जो भाव उस मयी शक्ति है। भाई ! आत्मा स्वयं षट्कारकरूप होकर निर्मल-निर्मल भावरूप से परिणमित हो – ऐसी उसकी क्रियाशक्ति है। अहो ! स्वयमेव छह कारकरूप होकर केवलज्ञानादिरूप से परिणमित होना भगवान आत्मा का स्वभाव है। अहा ! आत्मा को अपने निर्मलभावरूप से परिणमने में किसी परकारक की गरज, अपेक्षा नहीं है। इसीतरह आत्मा कारक होकर जड़ की क्रिया करे अथवा विकार करे – ऐसा भी इसका स्वभाव नहीं है। अपने ही निर्मल कारकों का अनुसरण करके अपनी वीतराग भावरूप से परिणमने की क्रिया करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है, यह क्रियाशक्ति है।[१]

पहले (३९ वीं शक्ति में) जो कारक अनुसार क्रिया कही, वह एक समय की पर्याय के अशुद्ध षट्कारक की बात थी। यहाँ जो कारक अनुसार क्रिया कही है, वह त्रिकाली पवित्र कारक की बात है। निर्मल कारकों का आश्रय एक अभेद द्रव्य है अर्थात् 'कारकों अनुसार' ऐसा जो कहा है, उसमें एक अभेद द्रव्य का ही आश्रय है, पर के साथ अथवा राग के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। राग से रहितपने निर्मल-निर्मल परिणमे – ऐसा ही भगवान आत्मा का स्वभाव है।

यहाँ क्रियाशक्ति में जो कारकों की बात की है, वह द्रव्य में जो निर्मल कारक त्रिकाल स्वरूप हैं, उनकी बात है। अहा ! त्रिकाली द्रव्य में जो निर्मल अभेद षट्कारक पड़े हैं, इन कारकों के अनुसार होनेरूप परिणमनेरूप क्रियाशक्ति त्रिकाल जीवद्रव्य में पड़ी है। तेरी पर्याय में द्रव्य-गुण के आश्रय बिना, पर्याय के षट्कारक से जो विकृतभावरूप क्रिया होती है, उससे रहित होना, तेरा भाव गुण है और निर्मल-निर्मल रत्नत्रय रूप से होनेरूप तेरा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४४०

क्रियागुण है। मलिन परिणाम सहित होने का कोई गुण तेरे में है ही नहीं; अत: जहाँ द्रव्य के ऊपर दृष्टि डाली नहीं कि तुरन्त ही मलिन परिणाम से रहित निर्मल-निर्मल रत्नत्रयरूप परिणमन होता है।[१]

अनन्त गुणभण्डार प्रभु आत्मा है, उसके प्रत्येक गुण में क्रियाशक्ति का रूप है, जिससे त्रिकाली शुद्धद्रव्य का आश्रय करने पर द्रव्य के साथ में प्रत्येक गुण की पर्याय स्वयं स्वत: निर्मल परिणमित हो जाती है।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि भाव-अभावादि छह शक्तियों में पर के साथ कारकता का निषेध और इस भावशक्ति में विकार के साथ कारकता का निषेध करके क्रियाशक्ति में निर्मल परिणमन के साथ कारकता का संबंध स्वीकार कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा न तो पर का और न रागादि भावों का कर्त्ता है, और न पर और रागादि भावों का कर्म ही है, इसीप्रकार उनका करण भी नहीं है, सम्प्रदान भी नहीं है, अपादान भी नहीं है और अधिकरण भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा का पर व रागादि के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी संबंध नहीं है।

इसीप्रकार ये परपदार्थ व विकारी भाव भी आत्मा के कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नहीं हैं और न इनका आत्मा के साथ कोई संबंध ही है।

आत्मोन्मुखी निर्मल परिणमन के साथ आत्मा का उक्त कारकों रूप निर्विकल्प संबंध अवश्य है।

उक्त भावशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रकरण में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण संबंधी कारकों की चर्चा बार-बार आई है; अत: अब आगे उक्त षट्कारकों संबंधी छह शक्तियों की चर्चा की जा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४४०-४४१

२. वही, पृष्ठ - ४४३

रही है और अन्त में इसका कोई संबंधी है भी या नहीं ? यदि है तो कौन है ? इस बात का निर्णय करने के लिए संबंधशक्ति की चर्चा करेंगे।

४१-४२. कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति

४१ वीं कर्मशक्ति और ४२ वीं कर्तृत्वशक्ति को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः भवत्तारूपसिद्धरूप भावभावकत्वमयी कर्तृत्वशक्तिः –

कर्मशक्ति प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी है और कर्तृत्वशक्ति होनेरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी है।''

भगवान आत्मा में जीवत्वादि अनंत शक्तियों में एक कर्म नाम की शक्ति भी है और एक कर्तृत्व नाम की शक्ति भी है। इन शक्तियों के कारण ही यह भगवान आत्मा अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और उन्हें करता भी है। कर्मशक्ति के कारण प्राप्त करता है और कर्तृत्वशक्ति के कारण उन्हें करता है।

यह भगवान आत्मा न तो पर को प्राप्त करता है और न पर का कर्ता ही है। इसीप्रकार रागादि-विकारी भावों को प्राप्त करे या करे – ऐसी भी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। हाँ, अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणामों को प्राप्त करने और करने की शक्ति इसमें अवश्य है।

निर्मल परिणामों को करने की शक्ति का नाम कर्तृत्वशक्ति है और इन्हें प्राप्त करने की शक्ति का नाम कर्मशक्ति है।

तात्पर्य यह है कि अपने निर्मल परिणामों को करने या प्राप्त करने के लिए इस भगवान आत्मा को पर की ओर झाँकने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग न तो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के अर्थ में हुआ

है और न रागादि भावकर्मों के अर्थ में ही हुआ है तथा कर्म शब्द का अर्थ निर्मल परिणमनरूप कार्य भी नहीं है। यहाँ कर्म शब्द का प्रयोग आत्मा की अनादि-अनंत शक्तियों में अथवा यहाँ प्रतिपादित ४७ शक्तियों में से एक कर्म नामक शक्ति के अर्थ में है अथवा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों में समागत कर्म के अर्थ में है।

४० वीं कर्तृत्वशक्ति में आत्मा अपने निर्मल परिणामों का कर्त्ता है– यह बताया गया है और २१ वीं अकर्तृत्वशक्ति में आत्मा रागादि विकारी भावों का अकर्ता है – यह बताया गया था।

इन शक्तियों का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ सिद्धपर्याय की बात नहीं है; परन्तु निर्मलपर्यायरूप से जो भाव प्रगट होता है, उसे यहाँ सिद्धरूपभाव कहा है। स्वद्रव्य का आश्रय प्राप्त करता जो भाव है, वह सिद्धरूपभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और केवलज्ञान की पर्याय – इसप्रकार क्रमवर्ती प्रगट होनेवाली निश्चित निर्मलपर्यायें सिद्धरूपभाव हैं।[१]

'कर्म' कहने से यहाँ जड़ द्रव्यकर्म अथवा रागादि भावकर्म की बात नहीं है। वे आत्मा के कर्म नहीं हैं; परन्तु चैतन्यस्वभाव में से जो सम्यग्दर्शन आदि निर्मलपर्यायों की प्राप्ति होती है, वे आत्मा के कर्म हैं।[२]

सम्यग्दर्शन आदि सभी पर्यायें इस अपेक्षा से सिद्धरूपभाव हैं। यह प्राप्त होनेवाला सिद्धरूपभाव आत्मा का कर्म है और आत्मा अपनी शक्ति से उसरूप होता है, ऐसी उसकी कर्मशक्ति है।[३]

कर्म नाम की जीव में एक शक्ति है, जिससे द्रव्य के आश्रय से सहज ही निर्मलपर्याय की प्राप्ति होती है।

देखो ! कर्म शब्द चार अर्थ में आता है –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४४४
२. वही, पृष्ठ - ४४४
३. वही, पृष्ठ - ४४५

१. ज्ञानावरणादि जड़द्रव्यकर्म को कर्म कहते हैं।

२. राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावकर्म को कर्म कहते हैं।

३. सम्यग्दर्शनादि निर्मलपरिणति को कर्म कहते हैं और

४. यहाँ जिसका वर्णन चल रहा है ऐसी जीव की कर्मशक्ति को भी कर्म कहते हैं।[१]

जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन, आनन्द आदि गुण हैं; उसीप्रकार आत्मा में कर्म नाम का एक गुण है। इस कर्म नामक गुण से आत्मा स्वयं अपनी सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों को प्राप्त करता है। ऐसे सिद्धरूपभावमयी कर्मशक्ति है।[२]

यह आत्मा कर्म गुण के कारण से वीतरागी निर्मलपर्याय प्राप्त करता है। अत: परद्रव्यों में मत देख, अन्दर जहाँ शक्ति है, वहाँ देख और वहीं ठहर जा।[३]

आत्मा में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह अपने निर्मलभाव का कर्त्ता स्वयं ही होता है। पहले २१ वीं अकर्तृत्वशक्ति में ऐसा बतलाया था कि ज्ञातास्वभाव से भिन्न जो समस्त विकारी परिणाम उनके कर्त्तापने से निवृत्तस्वरूप आत्मा है और अब, ज्ञातास्वभाव के साथ एकमेक जो अविकारी परिणाम उनका कर्त्ता आत्मा है – ऐसा इस कर्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा विकार का अकर्त्ता और शुद्धता का कर्त्ता – ऐसे स्वभाववाला अनेकान्तमूर्ति है।[४]

कर्मरूप से आत्मा ही परिणमित होता है, कर्त्तारूप से भी आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है; साधनरूप से भी स्वयं ही परिणमित होता है।[५]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४४५

२. वही, पृष्ठ - ४४६

३. वही, पृष्ठ - ४४६-४४७

४. वही, पृष्ठ - ४५४

५. वही, पृष्ठ - ४५४

आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरणरूप होता है; छह कारकोंरूप तथा ऐसी अनन्त शक्तियों का परिणमन ज्ञानमूर्ति आत्मा में उछल रहा है; इसलिए वह अनेकान्तमूर्ति भगवान है।[१]

अनन्त शक्तिवान शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा को देखें तो उसमें किसी परवस्तु को ग्रहण करने, छोड़ने या बदलने की कर्तृत्व नहीं रहता है तथा विकार का कर्तृत्व भी उसमें नहीं रहता है; उस समय स्वभाव में अभेद हुई निर्मलपर्याय का ही कर्तृत्व है।[२]''

इसप्रकार इन दोनों शक्तियों के विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि इस भगवान आत्मा में एक कर्म नाम की शक्ति ऐसी है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं के निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और एक कर्तृत्व नाम की शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण यह आत्मा स्वयं के निर्मल परिणामों को करे अथवा उनका कर्तृत्व धारण करे।

स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म – इसप्रकार कर्ता-कर्म का अनन्यपना है। तात्पर्य यह है कि इस भगवान आत्मा को न तो कुछ करने के लिए अन्यत्र जाना है और न कुछ पाने के लिए पर की ओर झाँकना है। सब कुछ अपने अन्दर ही है।

कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के अनुशीलन के उपरान्त अब करणशक्ति की चर्चा करते हैं –

४३. करणशक्ति

४३ वीं करणशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४५५

३. वही, पृष्ठ - ४६०

करणशक्ति प्रवर्तमान भाव के होने में साधकतममयी है।''

इस भगवान आत्मा में कर्मशक्ति और कर्तृत्वशक्ति के समान एक करण नामक शक्ति भी है; जिसके कारण यह भगवान आत्मा सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को प्रगट करता है, कर सकता है।

कर्तृत्वशक्ति के कारण आत्मा अपने निर्मल भावों का कर्त्ता है, कर्मशक्ति के कारण निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है और करणशक्ति के कारण वह निर्मल परिणामों का स्वयं कारण भी है। कर्ता भी स्वयं, कर्म भी स्वयं और करण भी स्वयं। इसप्रकार निर्मल पर्यायों के प्रगट करने में वह पूर्णत: स्वाधीन है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों के लिए उसे अन्य की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि निर्मल पर्यायों को प्रगट करने की पूर्ण सामर्थ्य इन कारक संबंधी छह शक्तियों के माध्यम से उसमें ही विद्यमान है।

आत्मा की अनंत स्वतंत्रता की घोषक ये शक्तियाँ आत्मा की अपनी निधियाँ हैं।

इस करणशक्ति का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक जो-जो भाव मुझमें होते हैं, उनका साधन होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; बाहर के कोई पदार्थ मेरे साधन हैं ही नहीं।[1]

जिसप्रकार अग्नि की उष्णता का साधन अन्य कोई नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही अपने स्वभाव से उष्णता का साधन है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा को अपने ज्ञान-आनन्द का अन्य कोई साधन नहीं है, वह स्वयं ही साधन होकर ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित होता है।[2]

कर्ता का साधन सचमुच कर्ता से भिन्न नहीं होता; इसलिए कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये वह कोई सचमुच साधन नहीं है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४६४
२. वही, पृष्ठ - ४६५-४६६

'अपने से भिन्न करण का अभाव है' – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने महासिद्धान्त बतलाया है। अरे जीव ! अपने साधन की गहरी खोज अपने में कर, अपने अन्तर में ही साधन को ढूँढ। जो अपने साधन को बाह्य में ढूँढते हैं, वे उसकी गहरी खोज करनेवाले नहीं हैं; किन्तु उथली बुद्धिवाले बाह्यदृष्टिवंत हैं। जो आत्महित के साधन की सच्ची मीमांसा करते हैं, उन्हें तो अपने आत्मा में ही अपना साधन भासित होता है; राग या बाह्यद्रव्य अपने साधनरूप से किंचित् भासित नहीं होते।[१]

जिसप्रकार आत्मा अपने कार्य के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता; उसीप्रकार वह साधनरूप होकर किसी अन्य का कार्य भी नहीं करता। अपनी निर्मल पर्यायों का साधन होने की आत्मा में परिपूर्ण शक्ति है; किन्तु शरीर, वाणी आदि की क्रिया में साधन हो – ऐसी किंचित् भी शक्ति आत्मा में नहीं है और सचमुच विकारी भावों का साधन होना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करनेवाला जीव विकार के साधकतमरूप से परिणमित नहीं होता; किन्तु अपनी निर्मल पर्याय के ही साधकतमरूप से परिणमित होता है। आत्मा अपने स्वभाव के अवलम्बन से स्वयं ही साधन होकर अपनी मुक्ति को साधता है; मुक्ति के लिए बाह्य में अन्य कोई साधन नहीं ढूँढना पड़ता।[२]

अपने स्वभाव को ही साधन बनाकर अनन्त जीवों ने सिद्धपद को साधा है; वर्तमान में अनेक जीव उसीप्रकार सिद्धपद को साध रहे हैं और भविष्य में भी साधेंगे। स्वभावसाधन से बाहर अन्य साधन को जो ढूँढेगा उसे सिद्धपद की सिद्धि नहीं होगी, वह तो संसार का ही साधक रहेगा अर्थात् संसार में ही भटकेगा।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४६८
२. वही, पृष्ठ - ४६६
३. वही, पृष्ठ - ४७४-४७५

आत्मा में साधन होने की शक्ति तो त्रिकाल है; किन्तु स्वयं स्वसन्मुख होकर कभी उस साधन को ग्रहण नहीं किया है। यदि स्वसन्मुख होकर स्वभावसाधन को ही ग्रहण कर ले तो साधकदशा हुए बिना न रहे। त्रिकाली द्रव्य को अंगीकार करने पर ज्ञानादि अनंत गुण अपनी-अपनी निर्मलपर्याय-रूप से परिणमित हो जाते हैं।[१]''

उक्त विश्लेषण का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा की समस्त निर्मल पर्यायों को प्राप्त करने का साधन इस शक्ति के माध्यम से यह आत्मा स्वयं ही है; न तो परपदार्थरूप निमित्त साधन हैं और न शुभरागरूप नैमित्तिक भाव ही साधन हैं। अत: आत्मा की साधना के लिए, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने के लिए न तो दीनता से पर की ओर देखने की आवश्यकता है और न शुभभावों में धर्म मानकर उनमें उपादेयबुद्धि रखकर उन्हें करने की आवश्यकता है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा न तो पर का कर्ता है, न कर्म और न करण (साधन) ही है तथा पर पदार्थ भी इस भगवान आत्मा के कर्ता, कर्म और करण नहीं हैं। इसप्रकार न तो इसके माथे पर पर के कर्तृत्व का भार ही है और न पर से कुछ अपेक्षा ही है।

इसप्रकार करणशक्ति की चर्चा करने के उपरान्त अब सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

४४-४५. सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति

इस ४४ वीं सम्प्रदानशक्ति और ४५ वीं अपादानशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''स्वयंदीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदानशक्ति: उत्पादव्यया-लिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति: –

सम्प्रदानशक्ति अपने द्वारा दिये जाने वाले भाव की उपेयत्वमयी है

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४७७

और अपादानशक्ति उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव से नाश होने से हानि को प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी है।''

यहाँ कारक संबंधी छह शक्तियों की चर्चा चल रही है। सामान्यत: छह कारकों का स्वरूप इसप्रकार है –

जो कार्य को करता है, वह कर्त्ता नामक कारक है और जो कार्य है, वह कर्मकारक है। जिसके द्वारा कार्य हो, वह साधन करण कारक कहा जाता है। कार्य का लाभ जिसे प्राप्त हो, वह सम्प्रदान कारक है और कार्य जिसमें से उत्पन्न हो, वह अपादानकारक कहा जाता है तथा कार्य के आधार को अधिकरण कारक कहते हैं।

यह तो सर्वविदित ही है कि इन शक्तियों के प्रकरण में निर्मलपर्यायरूप क्रिया को शामिल किया जाता है। अत: अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का कर्त्ता कौन है, कर्म कौन है, उन्हें प्राप्त करने का साधन क्या है, वे निर्मल पर्यायें प्राप्त किसको होंगी, वे कहाँ से आवेगी और उनका आधार कौन है ?

कर्त्ताशक्ति में यह बताया गया है कि उनका कर्ता यह भगवान आत्मा स्वयं है; क्योंकि इसमें एक कर्ता नाम का गुण (शक्ति) है; जिसके कारण यह आत्मा स्वयं ही उक्त निर्मलपर्यायोंरूप परिणमित होता है।

कर्मशक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा का निर्मल परिणाम ही आत्मा का कर्म है। कहा भी है –

य: परिणमति स: कर्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।[1]

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है और जो परिणाम है वह कर्म है तथा जो परिणति है वह क्रिया है और तीनों ही वस्तुत: अभिन्न ही हैं।

करणशक्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा को सम्यग्दर्शन आदि

१. समयसार कलश, ५१

निर्मल पर्यायों की प्राप्ति के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि आत्मा में एक करण नामक गुण (शक्ति) है, जिसके द्वारा आत्मा इन्हें प्राप्त करता है, कर सकता है।

अब सम्प्रदानशक्ति और अपादानशक्ति में यह बताया जा रहा है कि उक्त निर्मल पर्यायें आत्मा के लिए हैं, आत्मा को प्राप्त होती हैं और आत्मा में से प्रगट होती हैं। अपादानशक्ति के कारण आत्मा में से ही प्रगट होती है और सम्प्रदानशक्ति के कारण आत्मा के लिए ही हैं।

सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें आत्मा के लिए आत्मा में से प्रगट होकर स्वयं आत्मा को ही प्राप्त होती है – ऐसी अद्भुत वस्तुस्थिति है।

उक्त शक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी ने इसप्रकार किया है –

''कर्ता, कर्म और करणशक्ति का वर्णन किया; अब आत्मा की सम्प्रदानशक्ति बतलाते हैं।[१]

आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है कि अपने भाव को स्वयं यही झेलता है; निर्मलभाव प्रगट करके स्वयं अपने को ही देता है।[२]

आत्मा की निर्मलपर्याय का सम्प्रदान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा स्वयं ही उसे अंगीकार करता है। आत्मा अपनी निर्मलपर्याय प्रगट करके किसी अन्य को नहीं देता; किन्तु अपने में ही रखता है; स्वयं अपने को ही निर्मलपर्याय का दान देता है; ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है।[३]

सम्यग्दर्शनादि भावों का स्वयं ही देनेवाला और स्वयं ही लेनेवाला है – ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है।[४]

इसप्रकार सम्प्रदानशक्ति से आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शनादि का दाता

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४८१
२. वही, पृष्ठ - ४८१
३. वही, पृष्ठ - ४८१
४. वही, पृष्ठ - ४८१

तथा स्वयं ही उनका ग्रहण करनेवाला पात्र है, अन्य कोई साधन उसका सम्प्रदान नहीं है तथा वह किसी का सम्प्रदान नहीं है।आत्मा की ऐसी शक्ति को जानने से आत्मा समझने में आता है और धर्म होता है।[1]

ज्ञान की भाँति श्रद्धागुण में भी ऐसा स्वभाव है कि सम्यग्दर्शनरूप भाव को दे और स्वयं ही उसे ग्रहण करे, यानि उसका सम्प्रदान हो। किन्तु मिथ्याश्रद्धान को दे या ले – ऐसा श्रद्धागुण का स्वभाव नहीं है। स्वभाव सन्मुख होकर आत्मस्वभाव की श्रद्धा की, उसे देने-लेने का स्वभाव होने से वह आत्मा के साथ सदैव स्थिर रहेगा अर्थात् श्रद्धागुण सदैव सम्यक्त्व पर्याय देता ही रहता है और स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे लेता रहेगा।

इसीप्रकार ज्ञान और श्रद्धा की भाँति चारित्रगुण का भी ऐसा ही सम्प्रदानस्वभाव है कि अपने अनाकुल शांतभाव को दे और उसी को स्वयं ग्रहण करे। शांति से विपरीत आकुलता राग-द्वेषरूप भावों को देने या लेने का चारित्रगुण का स्वरूप नहीं है। वे रागादिभाव आत्मा के साथ अभेद होकर स्थिर नहीं रहते और शांत-अरागभाव तो आत्मा में लीनता करके टिकता है।

पुनश्च, आनन्द का भी ऐसा ही स्वभाव है कि स्वयं अपने को आनन्द दे तथा स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे ले; किन्तु परवस्तु में से आनन्द ले – ऐसा आनन्दगुण का स्वरूप नहीं है तथा आनन्दगुण का ऐसा भी स्वरूप नहीं है कि वह दुःख दे या ले। दुःख का सम्प्रदान होना उसका स्वभाव ही नहीं है।

इन ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र और आनन्द की भाँति पुरुषार्थ आदि समस्त गुणों में समझ लेना चाहिए।[2]

आत्मा स्वयं ही निर्मलपर्याय का दाता है और स्वयं ही उसका पात्र है;

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४८२

२. वही, पृष्ठ - ४९१-४९२

ऐसा आत्मा का सम्प्रदान स्वभाव है। उसे समझाने के लिए यहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र तथा आनन्द गुण की भिन्न-भिन्न बात ली है; किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि एक-एक गुण के भेद के लक्ष से निर्मलता नहीं होती। आत्मा तो एकसाथ अनन्त गुण का पिण्ड है, उसी के लक्ष से समस्त गुणों की निर्मलदशा होती है; एक शक्ति को पृथक् करके उसके लक्ष से विकास करना चाहे तो उसका विकास नहीं होता। अखण्ड आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है वह आत्मा को अनन्त गुणों से परिपूर्ण परमात्मदशा प्रदान करता है।[१]

उत्पाद-व्ययरूप भाव क्षणिक हैं, उनका नाश हो जाता है; तथापि आत्मा का ध्रुवस्वभाव कहीं नाश को प्राप्त नहीं होता, वह तो ज्यों का त्यों स्थित रहता है और उस ध्रुव स्थायी भाव में से ही नया-नया कार्य होता है। इसप्रकार ध्रुवरूप में स्थिर रहकर नया-नया कार्य करने की आत्मा की अपादानशक्ति है।[२]

पर्याय का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं हो जाता, वह तो ध्रुव अपादानरूप से स्थित रहकर नई-नई पर्यायरूप होता रहता है। अनन्त पर्यायें नष्ट हो गईं; इसलिए द्रव्य के स्वभाव में से कुछ कम हो गया – ऐसा नहीं है।[३]

विकार में तथा किसी भी शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि दूसरे क्षण वह ध्रुवरूप से स्थिर रह सके। अरे ! निर्मलपर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ध्रुवरूप से स्थित रहे। वह पर्याय स्वयं ही दूसरे क्षण नष्ट हो जाती है; उनमें दूसरी पर्याय नहीं आती। एक पर्याय नष्ट होने पर भी द्रव्य स्वभाव से ध्रुव स्थित रहकर आत्मा स्वयं अन्य-अन्य पर्यायरूप से परिणमित होता

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ४९२-४९३
२. वही, पृष्ठ - ४९९
३. वही, पृष्ठ - ५००

है; इसलिए ध्रुव में से पर्याय आती है। ऐसे ध्रुव-अपादानस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके उसकी शरण लेना ही धर्म है।[१]

मेरे द्रव्य में ऐसा अचिन्त्य सामर्थ्य है कि प्रतिसमय परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द देता ही रहे; तथापि अनन्तकाल में भी उसमें किंचित् न्यूनता नहीं आती।[२]

मेरे आत्मा का स्वभाव निर्मलपर्यायों का ही अपादान होना है; रागादि का अपादान होना मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है – ऐसे स्वभाव के भान में उसमें से रत्नत्रयरूप निर्मलपर्याय प्रगट करके, उस निर्मलपर्याय के अपादानरूप से धर्मी परिणमित होता है।[३]

परमाणु जड़ है; तथापि उसमें ऐसी अपादानशक्ति है कि अनादिकाल से विविध पर्यायें होने पर भी उसकी ध्रुवशक्ति कम नहीं हुई है कि अब पर्याय न हो। अनन्तकाल तक उसके ध्रुव अपादान समय में से पर्याय होती ही रहेगी – ऐसी उसमें शक्ति है। किन्तु इस समय परमाणु की बात नहीं है; अभी तो जीव की शक्तियों का वर्णन चल रहा है।[४]

आत्मा में तो ऐसी अपादानशक्ति है कि उसमें अनन्तानन्त पर्याय नष्ट हों; तथापि उसके ध्रुव सामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं होता; ध्रुव अपादान शाश्वत ज्यों का त्यों है, उसमें से पर्यायें परिणमित होती ही रहती हैं।[५]

श्रद्धागुण में से सम्यग्दर्शन की पर्यायें सादि अनन्तकाल तक प्रगट होती ही रहे; तथापि उसकी शक्ति कम नहीं होती; आनन्दशक्ति में आनन्द का उपभोग करते ही रहो; तथापि उसकी शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। ऐसे अपने ध्रुव सामर्थ्य की दृष्टि करके उसमें एकाग्रता से धर्मात्मा निर्मल

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५०१
२. वही, पृष्ठ - ५०४
३. वही, पृष्ठ - ५०५
४. वही, पृष्ठ - ५०५
५. वही, पृष्ठ - ५०६

पर्यायरूप से परिणमित होता ही रहता है। ध्रुव सामर्थ्यवान आत्मा की पहिचान होने पर उसकी दृष्टि से साधक का जहाज मोक्षपुरी में पहुँच जाता है।[१]

यह कर्ता, कर्म आदि सात विभक्तियाँ हैं; वे आत्मा के स्वरूप को पर से विभक्त तथा स्व से एकत्व को बतलाती है। कर्ताशक्ति अन्य के कर्तृत्व से भिन्नता बतलाती है, कर्मशक्ति विभावकर्म तथा जड़कर्म से भिन्नता बतलाती है, करणशक्ति अपने स्वभाव को ही साधन बतलाकर अन्य साधनों से भिन्नता बतलाती है, सम्प्रदानशक्ति भिन्न सम्प्रदान का अभाव बतलाती है, अपादानशक्ति अपने से भिन्न अन्य अपादान से पृथक्त्व बतलाती है। अधिकरणशक्ति अपना ही आधार बतलाकर भिन्न आधार की उपेक्षा कराती है और संबंधशक्ति पर के आश्रय से रहितपना बतलाकर स्व में एकता कराती है। इसप्रकार आत्मा की ये शक्तियाँ आत्मा को पर से भिन्न बतलाकर स्वभाव में एकता कराती हैं।[२]

जिसमें से आये उसे अपादान कहा जाता है; ज्ञान कहाँ से आता है ? क्या शरीर में से ज्ञान आता है ? – नहीं; इसलिए शरीर ज्ञान का अपादान नहीं है। क्या वाणी या शास्त्र में से ज्ञान आता है ? – नहीं; इसलिए वाणी या शास्त्र ज्ञान का अपादान नहीं है। क्या राग में से ज्ञान आता है ?– नहीं; इसलिए राग ज्ञान का अपादान नहीं है। आत्मा में से ज्ञान आता है; इसलिए आत्मा ही ज्ञान का अपादान है।[३]''

उक्त दोनों शक्तियों के स्पष्टीकरण में यह बताया गया है कि आत्मा का ज्ञान, आनन्द आत्मा में से ही आता है और आत्मा को दिया जाता है। दातार भी आत्मा और दान को ग्रहण करनेवाला भी आत्मा।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, वही, पृष्ठ - ५०६

२. वही, पृष्ठ - ५०७

३. वही, पृष्ठ - ५०८

ज्ञान और आनन्द न तो पर में से आते हैं और न पर को दिये ही जाते हैं। इसीप्रकार यह आत्मा न तो इन ज्ञान और आनन्द को पर से ग्रहण करता है और न ही पर को दे ही सकता है। जो कुछ भी लेना-देना होता है, वह सब अपने अन्दर ही होता है, अन्तर में ही होता है। इन ज्ञान और आनन्द का पर से कुछ भी लेना-देना नहीं है।

इन दोनों शक्तियों के कारण यह भगवान आत्मा अनन्तकाल तक स्वयं ही स्वयं को आनन्द देता रहेगा और स्वयं ही आनन्द लेता भी रहेगा। यह लेन-देन कभी समाप्त नहीं होनेवाली अद्भुत क्रिया है, प्रक्रिया है।

इसप्रकार इन सम्प्रदान और अपादान शक्तियों की चर्चा के उपरान्त अधिकरणशक्ति का अनुशीलन करते हैं –

४६. अधिकरणशक्ति

इस ४६ वीं अधिकरणशक्ति की चर्चा आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

''भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः–

अधिकरणशक्ति आत्मा में भाव्यमानभाव के आधारपनेरूप है।''

इस अधिकरणशक्ति के कारण भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का आधार है।

निज भगवान आत्मा के आधार से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभावों की प्राप्ति होती है और ये भाव आत्मा के आधार से ही टिकते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति और वृद्धि मोक्षमार्ग है और इन्हीं की पूर्णता मोक्ष है। अधिकरणशक्ति के कारण मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्यायें बिना किसी परपदार्थ और बिना किसी शुभभाव के आधार से आत्मा के आश्रय से आत्मा में सहज ही प्रगट होती हैं।

तात्पर्य यह है कि अनन्त सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला रत्नत्रयधर्म न

तो उपवासादि क्रियाकाण्ड से प्राप्त होता है और न उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभभाव से प्राप्त होता है; किन्तु अपने अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा के आश्रय से होता है; आत्मा के ज्ञान से होता है, श्रद्धान से होता है, ध्यान से होता है; अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करने से होता है; यह आत्मा मैं ही हूँ – ऐसा जानने से होता है और इसी त्रिकालीध्रुवभगवान आत्मा के ध्यान से होता है।

इस शक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''आत्मा में ऐसी अधिकरणशक्ति है कि वह स्वयं ही अपने धर्म का आधार होता है; अन्य किसी भिन्न आधार की उसे आवश्यकता नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव वह धर्म है और उस भाव का भवन (परिणमन) आत्मा के ही आधार से होता है; किसी अन्य के आधार से नहीं होता; इसलिए आत्मा ही उसका अधिकरण है।[१]

शरीर-मन-वाणी या राग आत्मा के धर्म का आधार नहीं है तथा आत्मा उन शरीर-मन-वाणी का या राग का आधार नहीं है; वास्तव में आत्मा अपनी निर्मलपर्याय का ही आधार है। जिसने अपने स्वभाव को ही अपना आधार बनाया, उसे स्वभाव के आधार से निर्मलपर्यायें ही होती हैं; स्वभाव के आधार से मलिनपर्याय नहीं होती, इसलिए निर्मलपर्याय का ही आधार होना आत्मा का स्वभाव है; मलिनता का आधार होना आत्मा का स्वभाव नहीं है।[२]

भाई, तेरा आत्मा ही तेरे धर्म का आधार है; तेरा असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही तेरे सम्यग्दर्शनादि धर्म का आधार है; इसके सिवा बाह्यक्षेत्र के आधार से तेरा धर्म नहीं है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५०९

२. वही, पृष्ठ - ५१०

३. वही, पृष्ठ - ५१०

सम्यग्दर्शन का आधार कौन ? शरीर, लक्ष्मी या इन्द्रियाँ उसका आधार नहीं है, शुभभाव भी उसका आधार नहीं है और मात्र पर्याय का आधार लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; अधिकरणशक्ति से तो आत्मा स्वयं ही परिणमित होकर सम्यग्दर्शन का आधार होता है। सम्यग्दर्शन भाव्यमान भाव है और आत्मा उसका आधार है। धर्मी जीव अपने आत्मस्वभाव को ही आधाररूप से भाता है; अपने स्वभाव का ही आधार लेकर सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित होता है; इसके अतिरिक्त व्यवहार का, राग का या निमित्त का आधार धर्मी नहीं मानते।[1]

सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की समस्त निर्मल पर्यायों का आधार होने की शक्ति आत्मस्वभाव में है। आत्मा स्वयं आधाररूप से ध्रुव रहकर अपने ही आधार से सम्यग्दर्शनादि पर्यायरूप होता है। ऐसा आत्मा ही परम शरणभूत, परम-आधारभूत है।[२]

आत्मा के स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगों में भी वह आधारभूत होता है और उसके आश्रय से शान्ति मिलती है। सातवें नरक की घोर प्रतिकूलता में पड़े हुए नारकियों में भी कोई-कोई जीव पूर्वकाल की देशनालब्धि के संस्कारों का आधार लेकर अन्तर में अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और ऐसी अपूर्व आत्मशान्ति का वेदन करते हैं कि स्वर्ग में मिथ्यादृष्टि देवों को भी उसकी गंध नहीं होती। आत्मा का आधार लिए बिना बाह्य में किसी आधार से सुख या शान्ति लेना चाहे तो वह तीन काल व तीन लोक में कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। किन्हीं भी संयोगों में किसी भी क्षण अपने स्वानुभव की ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से सुख एवं शान्ति का अनुभव होता है।

भाव्यमान का आधार हो – ऐसी आत्मा की शक्ति है। ज्ञानी भावक

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५१२

४. वही, पृष्ठ - ५१२

होकर निर्मलभाव को भाता है और अज्ञानी भावक होकर विकार की भावना करता है। ज्ञानी तो स्वभाव के आधार से निर्मलभाव प्रगट करके उन्हीं के आधार से परिणमित होता है।[१]

चैतन्य का आधार छोड़कर जो बाह्य में अपना आधार ढूँढता है वह भले ही महान सम्राट हो, तथापि भिखारी ही है; क्योंकि वह दूसरों से अपने ज्ञान-आनन्द की भीख माँगता है और मैं ही अपने आनन्द का आधार हूँ, अपने ज्ञान-आनन्द के लिए मुझे अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं है – ऐसी स्वभावदृष्टि करनेवाला सम्यक्त्वी कदाचित् नरक में हो; तथापि वह महान सम्राट है।[२]

इसलिए इस अधिकरणशक्ति में आचार्यदेव ने समझाया है कि हे जीव! स्वयं ही अपने धर्म का आधार हो – ऐसी तेरे आत्मा की शक्ति है; इसलिए तू अपने आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन ले, दूसरों के अवलम्बन की बुद्धि छोड़।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह भगवान आत्मा स्वयं के आधार पर प्रतिष्ठित है; इसे अन्य आकाशादि पदार्थों के आधार की आवश्यकता नहीं है। न केवल आत्मद्रव्य स्वयं के आधार पर है; अपितु उसका स्वभाविक परिणमन, निर्मल परिणमन भी पूर्णत: स्वयं के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी निर्मल परिणमन का भी एकमात्र आत्मा ही आधार है; क्योंकि उसमें अधिकरण नामक एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण यह सब कुछ सहज ही होता है, स्वाधीनपने ही होता है।

प्रश्न : शास्त्रों में तो छहों द्रव्यों का आधार आकाश को कहा है और

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -५१६

२. वही, पृष्ठ - ५१६

३. वही, पृष्ठ - ५१८

आत्मा भी एक द्रव्य है; अत: उसका आधार भी आकाश ही होना चाहिए।

उत्तर : आकाश को सभी द्रव्यों का आधार कथन निमित्त की अपेक्षा से किया गया कथन है; अत: असद्भूत-व्यवहारनय का उपचरित कथन है। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा परमसत्य का प्रतिपादन है; उपादान की अपेक्षा प्रतिपादन है।

व्यवहार से भिन्न षट्कारक की भी चर्चा आती है; पर वह सभी कथन असद्भूत होता है, उपचरित होता है, असत्यार्थ होता है।

यहाँ अभिन्नषट्कारक की चर्चा चल रही है। अत: परमसत्य यही है कि आत्मा अपनी अधिकरणशक्ति के कारण स्वयं प्रतिष्ठित है, उसके परिणमन में भी स्वयं का ही आधार है।

इसप्रकार अधिकरणशक्ति का अनुशीलन करने के उपरान्त अब सम्बन्धशक्ति की चर्चा करते हैं –

४७. सम्बन्धशक्ति

४७ वीं सम्बन्धशक्ति का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्ति: –

अपना स्वभाव ही अपना स्वामी है – ऐसी स्वस्वामित्वमयी संबंध-शक्ति है।''

अध्यात्म में कारक छह होते हैं और व्याकरण के अनुसार विभक्तियाँ सात होती हैं। इनमें संबोधन को जोड़कर लोक में आठ विभक्तियों या आठ कारकों की भी चर्चा होती है।

जो क्रिया के प्रति उत्तरदायी हो, जिसका क्रिया के साथ सीधा संबंध हो, उसे कारक कहते हैं। संबोधन का क्रिया के साथ कोई संबंध नहीं है; इसकारण उसे न तो कारकों में और न विभक्तियों में ही गिना जा सकता है।

संबंध का भी कोई सीधा संबंध क्रिया से नहीं होता और न वह क्रिया के प्रति उत्तरदायी ही है; अत: संबंध को भी कारक नहीं कहा जा सकता; फिर भी विभक्तियों में तो उसे शामिल किया ही गया है।

अत: यहाँ भी शक्तियों के रूप में संबंध की चर्चा है। इतना विशेष है कि षट्कारकों संबंधी शक्तियों में तो कर्ता-कर्म संबंधी चर्चा है और इस संबंधशक्ति में स्व-स्वामी संबंध की बात कही गई है।

इस संबंधशक्ति में यह बताया गया है कि इस भगवान आत्मा का स्वामी कोई अन्य नहीं, यह स्वयं ही है। यही स्व और यही स्वामी – ऐसा ही अनन्य स्व-स्वामी संबंध है। यह भी स्पष्ट ही है कि न तो इसका कोई अन्य पदार्थ स्वामी है और न यह भी किसी अन्य पदार्थ का स्वामी है।

स्वयं की निर्मल पर्याय आत्मा की सम्पत्ति है और यह भगवान आत्मा ही इसका स्वामी है।

इसप्रकार यह शक्ति आत्मा के एकत्व-विभक्त स्वरूप को बतलाती है।

इस संबंधशक्ति के माध्यम से यह भगवान आत्मा का पर के साथ किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं है – यह निश्चित हो जाता है।

इस शक्ति का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप जो अपना भाव है, वही आत्मा का स्वधन है और उसी का आत्मा स्वामी है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ आत्मा का स्व नहीं है और आत्मा उसका स्वामी नहीं है। देखो, यह सम्बन्धशक्ति। सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती; किन्तु पर के साथ का संबंध तुड़वाकर स्व में एकता कराती है; इसप्रकार आत्मा के एकत्व-विभक्त्व स्वरूप को बतलाती है।[1]

मेरे आत्मा की सम्बन्धशक्ति ऐसी है कि निर्मलभाव ही मेरा स्व है

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ -५२२

और उसका मैं स्वामी हूँ।[१]

इसप्रकार अन्तिम सम्बन्धशक्ति में द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाकर आचार्यदेव ने ४७ शक्तियाँ पूर्ण की हैं। स्वयं अपने स्वभाव के साथ संबंध रखकर स्वभाव के साथ एकतारूप में परिणमित हो – ऐसा आत्मा का स्वभाव है और उसी में आत्मा की शोभा है।[२]

इसलिए हे जीव ! पर का सम्बन्ध तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में ही एकत्व कर! ज्ञायकस्वभाव में एकता करके जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए वह तेरा स्व-स्वभाव है और तू ही उसका स्वामी है, इसके अलावा अन्य किसी के साथ तुझे स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है।[३]

इसप्रकार अकेले शुद्धभाव के साथ ही स्व-स्वामिपना है, विकार के साथ भी स्व-स्वामिपना नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर एकाग्र हुआ वहाँ आत्मा स्वयं ही अपने शुद्धभाव का ही स्वामी है।[४]

आत्मा को मात्र अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व का संबंध है। यदि ऐसा न हो और पर के साथ भी सम्बन्ध हो तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर स्वभाव में एकता करके शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता।[५]

अपनी शान्ति के वेदन के लिए आत्मा को पर का सम्बन्ध नहीं करना पड़ता। नित्य स्वशक्ति के बल से, पर के सम्बन्ध बिना मात्र स्व में एकता द्वारा आत्मा अपनी शान्ति का अनुभव करता है।[६]

सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती; किन्तु

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, वही, पृष्ठ - ५३०
२. वही, पृष्ठ - ५३१
३. वही, पृष्ठ - ५३१
४. वही, पृष्ठ - ५३१
५. वही, पृष्ठ - ५३१
६. वही, पृष्ठ - ५३१

अपने में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है; इसप्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है।[१]

स्व तो उसे कहा जाता है, जो सदैव साथ रहे, कभी अपने से पृथक् न हो। शरीर पृथक् हो जाता है, राग पृथक् हो जाता है; किन्तु ज्ञान-दर्शन-आनन्द आत्मा से पृथक् नहीं होते; इसलिए उनके साथ ही आत्मा को स्व-स्वामी संबंध है।

आत्मा तो अपने ज्ञायकस्वभाव का ही स्वामी है और वही उसका स्व है; उस ज्ञायकस्वभाव से आत्मा को जानने में ही उसकी शोभा है।[२]

किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावों के साथ इस आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है; वे कोई इस आत्मा का स्व नहीं है और न यह आत्मा उनका स्वामी है। इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव के साथ ही है। असंख्यप्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही धर्म का क्षेत्र है; स्वभाव में अभेद हुई स्व-परिणति ही धर्म का काल है और ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त गुण ही आत्मा के धर्म का भाव है। ऐसे स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल एवं स्वभाव के साथ ही आत्मा का संबंध है और उसी के साथ आत्मा का स्व-स्वामीपना है।[३]''

इसप्रकार इस संबंधशक्ति में यह बताया गया है कि अनंत शक्तियों में एक संबंध नाम की शक्ति भी है कि जिसके कारण यह आत्मा किसी भी परपदार्थ का न तो स्वामी है और न ही कोई पर पदार्थ ही भगवान आत्मा का स्वामी है। तात्पर्य यह है कि न तो इसके माथे पर के स्वामित्व का भार है और न अन्य की पराधीनता ही है।

प्रश्न : संबंध तो भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच होता है। अत: मैं ही स्व

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५३२
२. वही, पृष्ठ - ५३२
३. वही, पृष्ठ - ५३३

और मैं ही स्वामी – यह कैसे हो सकता है ? जब दोनों स्वयं ही हैं तो फिर इसे संबंध कहने से क्या साध्य है ?

उत्तर : अरे भाई ! यह संबंधशक्ति यह स्पष्ट करने के लिए कही गई है कि आत्मा का पर के साथ कोई संबंध नहीं है। यह आत्मा पर से संबंधित न हो, अपने में ही सीमित रहे – यही कार्य है इस संबंधशक्ति का।

'मैं ही स्व और मैं ही स्वामी' – यह भी कथनमात्र ही है; क्योंकि मैं तो मैं ही हूँ, उसमें सम्पति और स्वामी का विकल्प भी कथनमात्र है।

यह संबंधशक्ति पर के साथ संबंध बताने के लिए नहीं कही गई; अपितु पर के साथ सभीप्रकार के सभी संबंधों के निषेध के लिए कही गई है। पर से संबंध के निषेध पर बल देने के लिए स्वयं में ही स्व-स्वामी संबंध बताया गया है।

जिसप्रकार लोक में कहा जाता है कि मैं ही बड़ा भाई हूँ और मैं ही छोटा भाई तथा मैं ही भाई हूँ और मैं ही बहिन। इसका यही अर्थ होता है कि न तो मेरा कोई भाई है न बहिन। मैं तो अपने माँ-बाप की इकलौती सन्तान हूँ।

भले ही कहा ऐसा जा रहा है कि मैं ही छोटा मैं ही बड़ा; पर एक में छोटे-बड़े का भेद कथनमात्र है। इसप्रकार के कथनों का उद्देश्य अपने इकलौतेपन को सशक्त भाषा में प्रस्तुत करना ही होता है।

इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिए कि मैं ही स्वामी और मैं ही स्व (सम्पति) – इसका आशय यही है कि यहाँ स्व-स्वामी संबंध की कोई गुंजाइश नहीं है। इसी बात पर बल देने के लिए कि मेरा कोई स्वामी नहीं है, मैं किसी की सम्पति नहीं हूँ और मैं भी किसी का स्वामी नहीं हूँ, और कोई मेरी सम्पत्ति नहीं है; यह कहा गया है कि मैं ही स्वामी और मैं ही स्व (सम्पत्ति)।

यह न केवल संबंधशक्ति के बारे में समझना; अपितु सभी कारकों संबंधी शक्तियों के बारे में समझना चाहिए; क्योंकि मैं ही कर्ता, मैं ही कर्म,

मैं ही करण, मैं ही सम्प्रदान, मैं ही अपादान और मैं ही अधिकरण – इसका भी यही अर्थ हो सकता है कि मेरा कर्ता कोई अन्य नहीं, मेरा कर्म भी अन्य कोई नहीं। इसीप्रकार करणादि कारकों पर भी घटित कर लेना चाहिए

अन्त में यही निष्कर्ष रहा कि मैं तो मैं ही हूँ, षट्कारक की प्रक्रिया से पार स्वयं में परिपूर्ण स्वतंत्र पदार्थ।

यही कारण है कि इन शक्तियों के आत्मा में विद्यमान होने पर भी इनके लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती; अपितु इन शक्तियों के संग्रहालय अभेद-अखण्ड त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का आरंभ होता है।

इसप्रकार संबंधशक्ति के अनुशीलन के साथ-साथ ४७ शक्तियों का अनुशीलन भी समाप्त होता है।

उक्त ४७ शक्तियों के अनुशीलन में दृष्टि के विषयभूत अनंत शक्तियों के संग्रहालय भगवान आत्मा का स्वरूप तो स्पष्ट हुआ ही है; साथ में उछलती हुई शक्तियों की बात कहकर; शक्तियों के उछलने की चर्चा करके, निर्मलपर्यायरूप से परिणमित होने की बात करके द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य की चर्चा के साथ-साथ पर्यायार्थिकनय के विषयभूत निर्मल परिणमन को भी स्वयं में समेट लिया है।

इसप्रकार इस स्याद्वादाधिकार में द्रव्य-पर्यायात्मक अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तु को स्याद्वाद शैली में स्पष्ट किया गया है।

इसप्रकार ४७ शक्तियों की चर्चा करने के तत्काल बाद आचार्यदेव दो छन्दों में इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं –

(वसंततिलका)

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः

एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥२६४॥

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानी भवंति जिननीतिमलंघयन्तः॥२६५॥

(रोला)

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है।
फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती॥
और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर।
द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में॥२६४॥

अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते।
वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन॥
स्याद्वाद की अधिकाधिक शुद्धि को लख अर।
नहीं लांघकर जिननीति को ज्ञानी होते॥२६५॥

इस लोक में स्वयं की जीवत्वादि अनेक शक्तियों से पूर्णतः परिपूर्ण होने पर भी जो भाव (आत्मा) ज्ञानमात्रता को नहीं छोड़ता; वह भाव (आत्मा) पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप विद्यमान होने से अनेकाकार द्रव्य-पर्यायमय चेतन वस्तु है।

अनेकान्तसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को स्वयमेव देखते हुए स्याद्वाद की अत्यधिक शुद्धि को जानकर जिनवरदेव की नीति का उल्लघंन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञानी (ज्ञानस्वरूप) होते हैं।

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं–

"कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है; इसलिए

वह एक स्वरूप ही होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। चैतन्य भी एक वस्तु है, अत: द्रव्यपर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेकप्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है; फिर भी ज्ञान को जो कि असाधारणभाव है उसे नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ-परिणाम-पर्याय ज्ञानमय ही हैं।

जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगतदृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके-जान करके जिनदेव के मार्ग का – स्याद्वादन्याय का उल्लघंन न करते हुए ज्ञानस्वरूप होते हैं।''

यद्यपि उक्त कलशों की विषयवस्तु के अवलोकन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि ये कलश स्याद्वाद-अधिकार के उपसंहाररूप ही हैं; तथापि कलशटीका में यहाँ से ही साध्य-साधक-अधिकार का आरंभ मान लिया गया है। उपाय-उपेयभाव संबंधी प्रकरण का नाम ही कलशटीका में साध्य-साधक-अधिकार दिया गया है।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में भी इस अधिकार के नामकरण और आरंभ मानने में पूर्णत: कलश टीका का ही अनुसरण किया है।

वे इस अधिकार का आरंभ करते हुए लिखते हैं –

(दोहा)

स्याद्वाद अधिकार यह कह्यौ अलप विसतार।
अमृतचन्द्र मुनिवर कहै साधक-साध्य दुवार।।

इसके उपरान्त नाटक समयसार में उक्त छन्दों की विषयवस्तु को प्रत्यक्षरूप से प्रस्तुत करनेवाले भाषा छन्द प्राप्त नहीं होते; फिर भी नैतिकता पर बल देनेवाले व्यवहार- रत्नत्रय संबंधी अनेक छन्द प्राप्त होते हैं; जो

मूलत: पठनीय हैं।

निश्चय व्यसनों का स्वरूप बतलानेवाला छन्द भी इसी प्रकरण में प्राप्त होता है, जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

अशुभ मैं हारि शुभ जीति यहै दूत कर्म,
देह की मगनताई यहै मांस भखिवौ।
मोह की गहल सौं अजान यहै सुरापान,
कुमति की रीति गनिका कौ रस चखिवौ॥
निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारी संग परबुद्धि कौ परखिवौ।
प्यार सौं पराई सौंज गहिवे की चाह चोरी,
ऐई सातौं विसन बिडारैं ब्रह्म लखिवौ॥

अशुभ में हार और शुभभाव में जीत मानना ही जुआ खेलना है और मांसमय इस देह में मग्न रहना ही एकप्रकार से मांस भक्षण है।

दर्शनमोह के उदय में होनेवाली गहलता ऐसा मदिरापान है कि जिसके कारण आत्मा स्वयं से अजान रहता है, स्वयं को नहीं पहिचान पाता है। कुमति की रीति-नीति का अनुसरण करना ही वैश्यागमन है।

निर्दय होकर जीवों के प्राणों को घात करना ही शिकार खेलना है और दूसरे की बुद्धि की परीक्षा करते रहना ही एकप्रकार से परस्त्रीरमण है। प्रेम से पर से सांझेपन का भाव रखना ही चोरी नामक व्यसन है। इन सात व्यसनों के त्याग होने पर ही भगवान आत्मा के दर्शन होते हैं, आत्मानुभव होता है।

इसीप्रकार अनेक छन्द हैं; अत: पाठकों से विशेष अनुरोध है कि वे इस प्रकरण का अध्ययन अवश्य करें।

उक्त दोनों कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अनन्त गुणों एवं शक्तियों से भरा होने पर भी भगवान आत्मा ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता। जिसके अक्रम वर्तते गुणों एवं से क्रम से वर्तती पर्यायों में ज्ञान व्यापक है – ऐसा चैतन्य भावमय है भगवान आत्मा।

देखो ! यहाँ आत्मा में अक्रम वर्तते गुण व क्रम से वर्तती पर्यायें कहकर प्रमाणज्ञान सिद्ध किया है। प्रत्येक गुण-पर्याय में ज्ञान व्यापक है। इसी से इसे ज्ञानमात्र आत्मा कहा है।[१]

आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, इसका अर्थ यह नहीं है कि एक स्वरूप ही है; परन्तु वह द्रव्यपर्यायमय है – ऐसा जानना। वस्तु जैसी है वैसी ही अनेकान्तस्वरूप मानना।[२]

आत्मा अनन्त शक्तियों से भरपूर है। अपने ज्ञान उपयोग को अन्तर्मुख करने पर वह अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा अनुभव में आता है तथा साथ ही शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं, परिणमती हैं। इसतरह निर्मल परिणमते हुए जब केवलज्ञान हो जाता है; तब अनन्तशक्तियाँ तथा अनन्त प्रदेशों को भिन्न-भिन्न करके प्रत्यक्ष जानता है; इसलिए हे भाई ! तेरी चैतन्यसम्पदा साक्षात् देखनी हो तो तू अपने ज्ञानोपयोग को राग से मुक्त करके अपने अन्तर में स्वभावसन्मुख कर दे। स्वभाव में अन्तर्लीन होकर जानते हुए अनन्त चैतन्यसम्पदा साक्षात् ज्ञात हो जायेगी।[३]

यहाँ स्याद्वादी जैननीति का अर्थ यह है कि वस्तु नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्, तत्-अतत् इत्यादि प्रकार से वह जैसी है वैसी स्वीकार करके अर्थात् उसके ज्ञान में एवं कथन में जहाँ जो अपेक्षाएँ लगती हैं, उन सब पर दृष्टिकोणों से वैसा यथार्थ जानकर स्वीकारना।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५३५
२. वही, पृष्ठ - ५३६
३. वही, पृष्ठ - ५३७

आत्मवस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, उसे यथार्थ जानकर भगवान जिनेन्द्रदेव के मार्ग का उल्लघंन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप की साधना द्वारा पर्याय में भी पूर्णता को प्राप्त होते हैं अर्थात् केवलज्ञानी हो जाते हैं।[१]

आचार्यदेव ने परिशिष्ट के प्रारंभ में दो बातों को कहने का संकल्प किया था –

१. स्याद्वाद अर्थात् वस्तु का अनेकान्तस्वरूप कहूँगा।

२. उपाय-उपेय कहूँगा।

स्याद्वाद के कथन में शक्तियों का वर्णन किया। अब उपाय-उपेय की बात कहेंगे।[२]''

उक्त छन्दों में आचार्यदेव यही कहना चाहते हैं कि यह भगवान आत्मा अक्रमवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों तथा जीवत्वादि अनन्त शक्तियों का संग्रहालय द्रव्य-पर्यायात्मक चैतन्यवस्तु है। यह चैतन्यवस्तु अनन्त गुणात्मक और उनके निर्मल परिणमन से संयुक्त होने पर भी अपने ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ती, अपने जाननस्वभाव को नहीं छोड़ती।

उक्त अनेकान्तात्मक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु और उसकी परिणमन व्यवस्था का स्वरूप भलीभांति जानकर ज्ञानीजन स्याद्वादमयी जिननीति को, जिनेन्द्रभगवान कथित नीति को नहीं छोड़ते।

तात्पर्य यह है कि हमें स्याद्वादमयी जिननीति का अनुसरण करते हुए अनेकान्तात्मक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को जानकर उसमें अपनापन स्थापित कर; उसी में जम जाना, रम जाना चाहिए।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५३८

२. वही, पृष्ठ - ५३९

उपायोपेयाधिकार

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति के परिशिष्ट के आरंभ में ही यह प्रतिज्ञा की थी कि अब स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेय भाव पर भी थोड़ा-बहुत विचार करते हैं।

२४७ वें कलश में समागत उक्त कथन का तो यही अर्थ अभीष्ट है कि वे स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेयभाव की चर्चा करना चाहते हैं। उक्त कथन के आधार पर तो उसमें समागत दो अधिकारों के नाम **वस्तुतत्त्वव्यवस्था अधिकार** और **उपायोपेयाधिकार** होना चाहिए; क्योंकि स्याद्वाद की स्थापना तो वे दोनों अधिकारों में ही करते देखे जाते हैं; तथापि कलश टीकाकार और नाटक समयसारकार ने इन अधिकारों के नाम स्याद्वाद-अधिकार और उपायोपेयाधिकार दे दिये। इसकारण पहले अधिकार का नाम स्याद्वाद अधिकार ही प्रचलित हो गया।

वस्तुव्यवस्था अधिकार में स्याद्वाद की चर्चा ही प्रमुखरूप से हुई है। स्याद्वाद अधिकार नामकरण में एक कारण यह भी रहा है।

अस्तु हमने भी उसी का अनुकरण करना उचित समझा; क्योंकि इससे विषयवस्तु में तो कोई विशेष अन्तर आता नहीं। अत: व्यर्थ के बौद्धिक व्यायाम से क्या लाभ है ?

इसप्रकार स्याद्वाद-अधिकार में वस्तुव्यवस्था का प्रतिपादन करने के उपरान्त अब उपाय-उपेयभाव पर विचार करते हैं।

इस अधिकार या प्रकरण का आरंभ आत्मख्याति में आचार्य अमृचन्द्र निम्नांकित पंक्ति से करते हैं –

''अथास्योपायोपेयभावाश्चिंत्यते –

अब उपाय-उपेय भाव पर विचार करते हैं।''

तात्पर्य यह है कि अकेली एक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में उपायभाव अर्थात्

साधकभाव और उपेयभाव अर्थात् साध्यभाव किसप्रकार घटित होते हैं।

उपाय-उपेयभाव का स्वरूप आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

''यद्यपि आत्मवस्तु ज्ञानमात्र ही है; तथापि उसमें उपाय-उपेयभाव विद्यमान रहता ही है; क्योंकि एक होने पर भी आत्मा साधकरूप से और साध्यरूप से स्वयं ही परिणमित होता है।

उसमें जो साधकरूपभाव है, वह उपाय है और जो सिद्धरूपभाव है, वह उपेय है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग उपाय है और मोक्ष उपेय है।

अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में परिभ्रमण करते हुए भलीभाँति ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आहोरण कराये जाते इस आत्मा को, अन्तर्मग्न निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद की तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित सकल कर्मक्षय से प्रज्वलित हुए अस्खलित विमल स्वभावभावत्व से स्वयं सिद्धरूप से परिणमता हुआ एक ज्ञानमात्रभाव ही उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।

इसप्रकार ये उपाय और उपेय – दोनों भाव ज्ञानमात्र आत्मा से अनन्य ही हैं। इसलिए सदा अस्खलित एक ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के निष्कम्प ग्रहण से, जिनको अनादि संसार से निर्मलभावरूप भूमिका की प्राप्ति न हुई हो; उन मुमुक्षुओं को भी तत्क्षण ही साधक भूमिका की प्राप्ति होती है। फिर उसी में नित्य लीन रहते हुए क्रमरूप से और अक्रमरूप से प्रवर्तमान अनेक धर्मों के अधिष्ठाता वे मुमुक्षु साधकभाव से उत्पन्न होनेवाले परम प्रकर्षरूप साध्यभाव के भाजन होते हैं।

परन्तु जो अनेक धर्मों से गर्भित ज्ञानमात्रभाव की इस भूमिका को प्राप्त

नहीं कर पाते हैं; वे सदा ही अज्ञानी रहते हुए ज्ञानमात्रभाव को स्वरूप से अभवन और पररूप से भवन देखते हुए, जानते हुए और आचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।''

उक्त टीका का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। यह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि की परम्परा से क्रमशः जब से स्वरूपानुभव करता है, तब से ज्ञान साधकरूप से परिणमित होता है; क्योंकि ज्ञान में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भेद अन्तर्भूत हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रारंभ से लेकर स्वरूपानुभव की वृद्धि करते-करते जबतक निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता न हो, तबतक ज्ञान का साधकरूप से परिणमन है। जब निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् मोक्ष होता है, तब ज्ञान सिद्धरूप से परिणमित होता है; क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट दैदीप्यमान हुआ है

इसप्रकार साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों रूप से परिणमित होता हुआ एक ज्ञान आत्मवस्तु की उपाय-उपेयता को साधित करता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार करते हैं –

''देखो, यहाँ कहते हैं कि यद्यपि भगवान आत्मा त्रिकाल एक ज्ञायक स्वरूप, ज्ञान का पिण्ड प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप प्रभु है; तथापि उसकी पर्याय में उपाय-उपेय भाव तो है ही। वस्तुस्वरूप से आत्मा नित्य ज्ञानमात्र होते हुए भी इसकी पर्याय में साधकपना-मोक्षमार्ग एवं सिद्धपना-मोक्ष – ऐसे दो

भाव हैं ही; क्योंकि द्रव्यरूप से एक होते हुए भी पर्यायरूप से स्वयं साधकरूप और सिद्धरूप – ऐसे दोनों से क्रम से परिणमता है। इसमें साधकरूप परिणमन उपाय है और सिद्धरूप परिणमन उपेय है। प्राप्तव्य मोक्ष उपेय है और जिसके द्वारा प्राप्त किया जाय, वह मोक्षमार्ग उपाय है।

देखो, साधकपना व सिद्धपना – ये दो आत्मा के परिणाम हैं। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि और रमणता होने पर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय की वीतरागीदशा प्रगट होती है, वह साधकदशा है। उस साधकदशारूप आत्मा स्वयं ही परिणमता है। तथा केवलज्ञान होकर सिद्धरूप जो दशा होती है, उसरूप भी आत्मा स्वयं ही परिणमता है। इन दोनों दशाओं में बाहर के साधनों की अपेक्षा नहीं होती।[१]

जिस गुणस्थान की भूमिका में जो व्यवहार होता है, उसका निषेध या लोप कौन कर सकता है और भला ऐसा कोई क्यों करेगा ? यहाँ तो उस व्यवहार का उल्लंघन करके ऊपर चढ़ने की बात कही है। धर्मी के यथायोग्य व्यवहार होता ही है; किन्तु उसमें ज्ञानी की उपोदयबुद्धि एवं स्वामित्व नहीं होता।[२]

देखो, साधकदशा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक है। जब साधक स्वरूप का अनुभव करता है, तब आत्मा शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप से स्वयं परिणमित होता है। उस समय जो यथायोग्य व्यवहार होता है, उसका ज्ञान कराया है।[३]

यद्यपि निश्चयरत्नत्रय व व्यवहाररत्नत्रय भी एक-दूसरे के विरोधी हैं; तथापि सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन जैसे विरोधी नहीं हैं। ज्ञान अर्थात् आत्मा जबतक पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक ज्ञान व राग को एकसाथ

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५३६-५४०
२. वही, पृष्ठ - ५४८
३. वही, पृष्ठ - ५४६

रहने में विरोध नहीं है। शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार की परस्पर मैत्री भी कही है; किन्तु वहाँ मैत्री का अर्थ मात्र इतना है कि ये दोनों निचली भूमिका में एकसाथ रह सकते हैं।[१]

अपना आत्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु है और इसके आश्रय से जो राग रहित वीतरागी निर्मलरत्नत्रय की आनन्दमयदशा प्रगट होती है, वह उपाय है तथा जब इस उपाय की परिणति अति उग्र होकर परम प्रकर्षता को प्राप्त कर उपेयरूप होती है, तब आत्मा स्वयं ही सिद्धपने को प्राप्त कर लेता है। इसतरह ये दोनों (उपाय व उपेय) एक जीव की ही निर्मल एवं पूर्ण-निर्मल अवस्थायें हैं।[२]

इसप्रकार उपाय और उपेय में आत्मा का अनन्यपना है, उसमें राग अनन्य नहीं है।[३]

देखो, यह है स्वाश्रय का कमाल। स्वाश्रय से ही साधकपना एवं स्वाश्रय से ही साध्यपना-सिद्धपद प्राप्त होता है।[४]

इसप्रकार उपाय व उपेय की बात हुई।[५]

अब कहते हैं कि जो ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्तधर्ममय त्रिकाली ध्रुव निज ज्ञानानन्दस्वरूप को प्राप्त नहीं करते, वे अज्ञान में वर्तन करनेवाले हैं। ज्ञानमात्र भाव के अभावस्वरूप परिणमन करनेवाले वे मूढ़ जीव सदा अज्ञानरूप ही वर्तते हैं।

अहा ! स्वरूप की दृष्टि बिना अज्ञानी जीव अकेले राग के रंग में रंगा रहता है। दया, दान, व्रत, तप आदि राग की क्रियाओ में रचा-पचा रहता

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५४६
२. वही, पृष्ठ - ५५२
३. वही, पृष्ठ - ५५२-५५३
४. वही, पृष्ठ - ५५४
५. वही, पृष्ठ - ५५४

है। उसके मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही आचरण है, उसे धर्म की क्रिया का तो भान ही नहीं है; अत: वह चारगति में ही परिभ्रमण करता है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि प्रत्येक आत्मा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है और यहाँ शक्तियों के प्रकरण में भी त्रिकाली ध्रुव द्रव्य और गुणों के साथ-साथ निर्मल परिणमन को भी शामिल किया गया है।

यह निर्मल परिणमन ही उपाय (साधन-मोक्षमार्ग) और उपेय (साध्य-मोक्ष) के भेद से दो प्रकार का होता है।

उपायभाव तो चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रगट हो जाता है; क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में होनेवाली चारित्रगुण की परिणति भी अंशरूप में निर्मल हो जाती है।

यद्यपि किन्हीं-किन्हीं को क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट हो जाता है; तथापि क्षायिकज्ञान तेरहवें गुणस्थान के पहले नहीं होता। यद्यपि ज्ञान का परिणमन सम्यग्ज्ञानरूप हो गया है; तथाापि ज्ञान की पूर्णता केवलज्ञान होने पर ही होती है। इसीप्रकार चारित्र की पूर्णता भी साध्यभाव की सिद्धि के साथ ही होती है।

अनन्तगुणात्मक भगवान आत्मा का सिद्धदशारूप परिणमित हो जाना साध्यभाव है, उपेयभाव है, साक्षात् मोक्ष है। फिर भी जबतक आत्मा ने सिद्धदशा प्राप्त नहीं की है; तबतक उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन का नाम साधकभाव है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा स्वयं ही साधक है और स्वयं साध्य भी है।

तात्पर्य यह है कि इसे अपने साध्य की सिद्धि के लिए पर की ओर देखने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

इसी बात को आत्मख्याति में समागत १५ वें कलश में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५५४

(अनुष्टुभ)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये॥१५॥

यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्य-साधकभाव के भेद से दो प्रकार से, एक ही नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि इस ज्ञानमात्र आत्मा में ही साध्य-साधकभावरूप परिणमन भी विद्यमान है। इसप्रकार ये उपायभाव और उपेयभाव आत्मा से अनन्य ही हैं, अन्य नहीं।

आरंभ में जो यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि इस एक ज्ञानमात्र आत्मा में उपाय और उपेय – ये दो भाव किसप्रकार घटित होते हैं ? उसका समाधान प्रस्तुत किया। साथ ही आत्मा की स्वाधीनता भी सहज सिद्ध हो गई; क्योंकि उसे अपने साध्य की सिद्धि के लिए पर की ओर झाँकने की आवश्यकता नहीं रही।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही साधकभाव हैं, बाह्य क्रियाकाण्डरूप व्यवहार नहीं। यद्यपि साधकों के भूमिकानुसार बाह्य व्यवहार भी देखा जाता है, सहज ही होता है; तथापि वह वस्तुतः साधकभाव नहीं है। उसे सहचारी होने के कारण साधक कहना मात्र उपचरित कथन ही है।

इसप्रकार उपाय-उपेयभाव की चर्चा करने के उपरान्त अब आचार्य अमृतचन्द्र कतिपय कलशों के माध्यम से इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए

अपनी उत्कृष्ट भावना को व्यक्त करते हैं।

छन्द मूलत: इसप्रकार हैं –

(वसंततिलका)

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयंति कथमप्यनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥२६६॥

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥२६७॥

चिर्त्पिडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा॥२६८॥

(वसंततिलका)

रे ज्ञानमात्र निज भाव अकंपभूमि।
को प्राप्त करते जो अपनीतमोही॥
साधकपने को पा वे सिद्ध होते।
अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते॥२६६॥

स्याद्वाद कौशल तथा संयम सुनिश्चिल।
से ही सदा जो निज में जमे हैं॥
वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से।
सुपात्र हो पाते भूमिका को॥२६७॥

उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता।
चित्पिण्ड जो है खिला निज रमणता से॥
जो अस्खलित है आनन्दमय वह।
होता उदित अद्भुत अचल आतम॥२६८॥

किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है और जो ज्ञानमात्र निजभावमय अकंप भूमिका का आश्रय लेते हैं; वे साधकदशा को प्राप्त कर अन्ततः सिद्धदशा को प्राप्त कर लेते हैं।

स्याद्वाद में प्रवीणता और सुनिश्चल संयम के द्वारा अपने में उपयुक्त रहता हुआ जो पुरुष प्रतिदिन अपने को भाता है; वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय की तीव्र मैत्री का पात्र होता हुआ इस ज्ञानमात्र निजभावमयी भूमिका का आश्रय करता है।

चैतन्यपिण्ड के प्रचण्ड विलसित विकासरूप हास और शुद्धप्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है, आनन्द में सुस्थित जिसका अस्खलित एकरूप है और जिसकी ज्योति अचल है – ऐसा यह आत्मा आत्मा का आश्रय लेनेवालों को ही प्राप्त होता है।

इन कलशों के भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जो भव्यपुरुष गुरु के उपदेश से अथवा स्वयमेव काललब्धि को प्राप्त करके मिथ्यात्व से रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं; वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र-निज को प्राप्त नहीं करते, वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।

जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुष को इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो क्रियानय को ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्म से संतुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो

पुरुष अनेकान्तमय आत्मा को जानता है (–अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है। (रागादिक अशुद्ध परिणति का त्याग करता है) और इसप्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिका का आश्रय करने वाला है।

यहाँ 'चित्पिंड' इत्यादि विशेषणों से अनन्त दर्शन का प्रगट होना, 'शुद्धप्रकाश' इत्यादि विशेषेण से अनन्त ज्ञान का प्रगट होना, 'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषण से अनन्त सुख का प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्य का प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमिका का आश्रय लेने से ही ऐसे आत्मा का उदय होता है।''

इन कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसारर में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

चाकसौ फिरत जाकौ संसार निकट आयौ,
पायौ जिन सम्यक मिथ्यात नास करिकै।
निरदुंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन,
कीनी मोखकारन अवस्था ध्यान धरिकै॥
सो ही सुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनासी भयौ,
गयौ ताकौ करम भरम रोग गरिकै।
मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछाने तातैं,
डोलै जगजाल मैं अनंत काल भरिकै॥

जे जीव ते दरबरूप तथा परजायरूप,
दोऊ नै प्रवांन वस्तु सुद्धता गहतु हैं।
जे असुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषै सौं विमुख ह्वै विरागता बहतु हैं॥

जे जे ग्राह्यभाव त्यागभाव दोऊ भावनि कौं,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करतु हैं।
तेई ग्यान क्रिया के आराधक सहज मोख,
मारग के साधक अबाधक महतु हैं॥

(दोहा)

विनास अनादि असुद्धता, होइ सुद्धता पोख।
ता परनति को बुध कहैं, ग्यान-क्रिया सौं मोख॥

(सवैया इकतीसा)

जाके घट अंतर मिथ्यात अंधकार गयौ,
भयौ परगास सुद्ध समकित भान कौ।
जाकी मोहनिद्रा घटी ममता पलक फटी,
जान्यौ जिन मरम अवाची भगवान कौ॥
जाकौ ग्यान तेज बग्यौ उद्दिम उदार जग्यौ,
लगौ सुख पोख समरस सुधा पान कौ।
ताही सुविचच्छन कौ संसार निकट आयौ,
पायौ तिन मारग सुगम निरवान कौ॥

चक्र के समान घूमते-घूमते जिनका संसार सागर का किनारा नजदीक आ गया है, मिथ्यात्व का नाश करके जिन्होंने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ली है, जिन्होंने निर्द्वन्द होकर मन की भूमि को पवित्र कर लिया है और जिन्होंने आत्मा का ध्यान करके मोक्ष के कारणरूप अवस्था को प्राप्त कर लिया है; वे शुद्धात्मा के अभ्यासी अनुभवी जीव ही अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं। उनके तो सभी कर्म चले गये हैं और भ्रमरोग गल कर नष्ट हो गया है; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव अपना स्वरूप भी नहीं पहिचानते; इसकारण जगजाल में अनंतकाल तक डोलते रहते हैं, भटकते रहते हैं।

जिन जीवों ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – दोनों नयों के द्वारा वस्तु की शुद्धता को ग्रहण किया है, जो शुभाशुभ अशुद्धभावों के त्यागी हुए हैं,

विषयों से सर्वथा विमुख हैं, वैरागी हैं और जिन्होंने अपने आत्मा के अनुभव में ग्राह्य और त्याज्य भावों में एकता स्थापित कर ली है; वे ज्ञाननय और क्रियानय के आराधक कर्मकृत बाधाओं से रहित मोक्षमार्ग के साधक महान पुरुष हैं।

अनादिकालीन अशुद्धता का नाश और शुद्धता की पुष्टि रूप परिणति को ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होती है – ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

जिसके हृदय के अंतर से मिथ्यात्वरूपी अंधकार चला गया और शुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का प्रकाश हो गया, जिनकी मोहनिद्रा घट गई और विवेक की आँख खुल गई, जिन्होंने वचन अगोचर भगवान आत्मा को जान लिया है, जिनका ज्ञान जाग गया है, तेज बढ़ गया है, महान पुरुषार्थ प्रगट हो गया है और समतारसरूपी अमृत को पीकर अतीन्द्रिय आनन्द पुष्ट हुआ है; उन विचक्षणपुरुषों का संसार निकट आ गया है और उन्होंने मुक्ति का सुगम रास्ता प्राप्त कर लिया है।

उक्त छन्दों में कविवर बनारसीदासजी यही कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो मिथ्यात्व का नाश कर, सुसमाधि की साधना कर, अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा की पहिचान नहीं होने से जगजाल में उलझे रहते हैं।

जो जीव द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु को जानकर, विषय-भोगों से विरक्त होकर अबाधक आत्मा की साधना करते हैं, वे ही महान हैं।

साररूप में बात यह है कि शुद्धता की प्राप्ति ही ज्ञाननय है और अशुद्धता का नाश ही क्रियानय है – इन दोनों के मिलाप से ही मोक्ष होता है।

अधिक क्या कहें जिनके मिथ्यात्व-अंधकार का नाश होकर ज्ञानसूर्य उदित हुआ है; उनके जिसप्रकार सूर्योदय होने पर सभी की नींद टूट जाती है, आँखे की पलकें खुल जाती हैं; उसीप्रकार ज्ञानसूर्य का उदय होने पर मोहनिद्रा टूट जाती है और विवेक की पलकें खुल जाती हैं। यही कारण है कि उनके

संसारसमुद्र का किनारा निकट आ गया है और उन्होंने मोक्ष का सहज, सरल मार्ग प्राप्त कर लिया है।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिस पुरुष के अन्तःपुरुषार्थ द्वारा मोह का नाश हुआ है, जो पुरुष ज्ञानमात्र का निजभावमय, अकंप, निश्चल ज्ञायकभाव का आश्रय करता है; वह साधकदशा को प्राप्त कर उसकी उत्कृष्टदशारूप सिद्धपद को प्राप्त करता है।

भाई ! दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना, आहारदान देना आदि कोरी शुभ क्रियायें मोक्षमार्ग नहीं हैं, साधकपना नहीं हैं तथा ये साधकपने की, मोक्षमार्ग की अवलम्बन भी नहीं हैं। अहा ! अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी को भी ये सब शुभभाव आते हैं; परन्तु ये धर्म नहीं हैं।[१]

मूढ़-अज्ञानी मिथ्यादृष्टि शुभराग से अपना धर्मलाभ मानता है, व्यवहार करते-करते निश्चय धर्मलाभ होगा – ऐसा मानता है; ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन की, मोक्षमार्ग की प्राथमिक भूमि को भी प्राप्त नहीं कर पाते।[२]

यहाँ स्याद्वाद की प्रवीणता और सुनिश्चल संयम – इसप्रकार दो बातें ली हैं। यहाँ स्याद्वाद की प्रवीणता से तात्पर्य यह है कि – द्रव्यस्वरूप में, त्रिकाली एक ज्ञायकस्वरूप में निमित्त, राग अथवा पर्याय नहीं है तथा निमित्त, राग या पर्याय में भगवान ज्ञायकस्वभाव नहीं है। इसप्रकार से स्व के आश्रय से जो ज्ञान-श्रद्धानरूप परिणमन होता है, वह स्याद्वाद की प्रवीणता है। शुद्ध में रागादि नहीं होते एवं रागादि में शुद्ध नहीं – ऐसा ज्ञान का परिणमन स्याद्वाद की विशेषता है तथा जिसमें अशुद्ध परिणति का त्याग वर्तता है – ऐसी स्वरूप की रमणता, स्थिरता, निश्चलता संयम है।

स्याद्वाद की प्रवीणता और सुनिश्चल संयम – इन दोनों के द्वारा जो

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५५५

२. वही, पृष्ठ - ५५६

पुरुष अपने में ही उपयोग को स्थिर रखता है, प्रतिदिन अपने स्वरूप को भाता है, वह साधकपने को प्राप्त होता है।[१]

जो केवल शास्त्रों का ही अध्ययन करें, अन्तर्दृष्टि करके अशुद्धता को न टालें, वे प्रमादी और स्वच्छन्दी हैं। ऐसे शुष्क ज्ञानवालों को अन्तर में साधकपना प्रगट नहीं होता। वे केवल एकान्त से ज्ञाननय को ही ग्रहण करते हैं। वे अशुद्धता को टालकर अन्दर में प्रवेश नहीं करते हैं।[२]

भगवान आत्मा पुण्य-पाप से रहित चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है। उसके अन्तर्मुख होकर स्व-संवेदन अर्थात् अपने ही से अपना वेदन करना ज्ञाननय है तथा उसी में स्थिर होकर अशुद्धता को त्यागरूप शुद्ध परिणतिरूप से परिणमना संयम है, क्रियानय है। सम्यग्ज्ञान-आत्मज्ञान व राग के अभावरूप संयम – दोनों में गाढ़ मैत्री है। यह ज्ञाननय व क्रियानय की मैत्री है।[३]

जिसने ज्ञाननय व क्रियानय की मैत्री साधी है अर्थात् जिसने सम्यग्ज्ञान और स्वरूपस्थिरता की प्रगाढ़ मैत्री साधी है, वही पुरुष ज्ञानमात्र-निजभावमयी होकर सिद्ध होता है। स्व-आश्रय से जो ज्ञान व वीतरागी शान्ति प्रगट है, उसे यहाँ ज्ञाननय और क्रियानय की मैत्री कहा है।[४]

कलश में सुप्रभात शब्द आया है। उस सुप्रभात का अर्थ है – जिसप्रकार रात्रि के अंधकार का नाश करके भूमण्डल पर सूर्य अपनी किरणों द्वारा प्रकाश फैलाता है; उसीप्रकार पुण्य-पाप की एकताबुद्धिरूप अज्ञान अंधकार की भेदक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप चैतन्य की ज्योति प्रगट होती है, उसे अध्यात्म में मंगलमय सुप्रभात कहते हैं।

जिसतरह सूर्य के उदय से सहस्र पाखुड़ी का कमल खिल उठता है;

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५५८
२. वही, पृष्ठ - ५५९
३. वही, पृष्ठ - ५५९-५६०
४. वही, पृष्ठ - ५६०

उसीप्रकार भगवान आत्मा में एकाग्र होकर स्थित होने पर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि अनन्त गुण-पर्यायें निर्मलरूप से प्रगट हो जाती हैं अर्थात् प्रतिबन्धरहित निरंकुश, मर्यादरहित पूर्ण ज्ञान-दर्शनादिरूप विकास हो जाता है। अहा ! जिसे कोई रोकनेवाला नहीं है – ऐसा अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप विकास खिल जाता है।[१]

कलश में आये 'शुद्धप्रकाश झर निर्झर' का अर्थ है कि पूर्णज्ञान व आनन्द से भरे भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि-ज्ञान व रमणता होने पर पर्याय में केवलज्ञान का दिव्य सातिशय प्रकाश प्रगट हो जाता है। वह केवलज्ञान शुद्धप्रकाश की अतिशयता के कारण सुप्रभात के समान है। ऐसा सुप्रभात व्यवहार के आश्रय से ही प्रगट नहीं होता, शुद्धनिश्चय के आश्रय से ही प्रगट होता है।[२]

कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान को सुप्रभात कहा है; क्योंकि उसमें दर्शनमोह का नाश होकर सम्यग्ज्ञान का जाज्वल्यमान सूर्य उगता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान व पूर्ण केवलज्ञान सुप्रभात समान हैं।[३]

अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव से छलाछल भरा प्रभु ध्रुव विराजता है। जिसने उसका आश्रय किया उसको पर्याय में जो अतीन्द्रिय आनन्द होता है, उसके समक्ष इन्द्र के भोग भी तुच्छ भासित होते हैं। यह पूर्ण आनन्द की दशा अस्खलित है।

जो अनन्तवीर्यस्वरूप प्रभु आत्मा में लीन होकर परिणमते हुए अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि सहित निज स्वरूप की रचना करें, उन्हें पर्याय में अनन्तबल प्रगट हो जाता है। जो शक्तिरूप से होता है, उसका आश्रय लेने पर ही अचल ज्योतिरूप से प्रगट हो जाता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५६१-५६२
२. वही, पृष्ठ - ५६२
३. वही, पृष्ठ - ५६३

अहा ! ऐसा दिव्य सुप्रभात ! सूर्य का उदय होता है। जो केवलज्ञानरूप सूर्य एकबार उदित हुआ, फिर कभी अस्त नहीं होता।[१]''

उक्त कलशों में प्रगट की गई आचार्यश्री की भावना का सार यह है कि स्याद्वाद की प्रवीणता अर्थात् ज्ञाननय और सुनिश्चल संयम अर्थात् क्रियानय के आश्रय से जो अपनीतमोही साधक निज आत्मा की साधना करते हैं; उनके साधकभाव का सुप्रभात होता है और वे साधक शीघ्र ही सिद्धदशा को प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा को प्राप्त न करनेवाले अज्ञानी अज्ञान की काली रात्रि के घने अंधकार में विलीन होकर संसार परिभ्रमण करते हैं।

बहुत से लोग **ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री** का अर्थ ऐसा करते हैं कि आत्मा के ज्ञान और महाव्रतादिरूप बाह्य क्रिया में तीव्र मित्रता है और इनके द्वारा ही साध्यभाव की सिद्धि होती है; किन्तु उनका यह अभिप्राय ठीक नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि स्याद्वाद की प्रवीणता से अर्थात् स्याद्वाद शैली में प्रतिपादित अनेकान्तात्मक आत्मा का स्वरूप समझना, अनुभव करना ज्ञाननय है और सुनिश्चल संयम अर्थात् आत्मा में ही लीन हो जाना, आत्मा का ही ध्यान करना क्रियानय है। अरे, भाई ! आत्मध्यान की क्रिया ही सुनिश्चल संयम है।

तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान और आत्मध्यान से ही साधकदशापूर्वक साध्यदशा प्रगट होती है, उपाय पूर्वक उपेय प्राप्त होता है, मोक्षमार्गपूर्वक मोक्ष की सिद्धि होती है।

साध्यदशा में अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य की प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार वे अनंतकाल तक सहज ज्ञाता-दृष्टा रहते हुए अनंत आनन्द को भोगते रहते हैं।

प्रश्न : कहीं-कहीं ऐसा भी तो आता है कि तीन कषाय के अभावरूप वीतरागभाव और महाव्रतादि के शुभभाव में भी मित्रता है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५६३-५६४

इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

प्रश्न : साधकदशा में तीन कषाय के अभावरूप वीतरागपरिणति अर्थात् शुद्धभाव और महाव्रतादि के शुभभाव एकसाथ पाये जाते हैं।

यद्यपि उक्त दोनों भाव परस्पर विरोधी भाव हैं। एक शुद्धभाव है और दूसरा अशुद्ध, एक बंध के अभाव का कारण है और दूसरा शुभबंध का कारण है; तथापि उक्त दोनों भावों में ऐसा विरोध नहीं है कि वे एकसाथ रह ही न सकें। साधकदशा वे एकसाथ पाये जाते हैं – मात्र इतना बताने के लिए उनमें मैत्रीभाव बता दिया जाता है। इससे अधिक कुछ नहीं समझना।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि ज्ञानमात्र आत्मा में ही साध्य-साधकभाव होने में स्याद्वादी को कोई बाधा नहीं आती।

इसी आशय के और भी अनेक कलश हैं; जो इसप्रकार हैं –

(वसंततिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः॥२६९॥

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि॥२७०॥

(वसंततिलका)

महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित।
स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब॥
तब बंध-मोक्ष मग में आपतित भावों।
से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ॥२६९॥

निज शक्तियों का समुदाय आतम।
विनष्ट होता नयदृष्टियों से॥
खंड-खंड होकर खण्डित नहीं मैं।
एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं॥२७०॥

स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त जगमगाते तेजवाले एवं शुद्धस्वभाव की महिमा सम्पन्न प्रकाश जब मुझमें उदय को प्राप्त होता है तो बन्ध-मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या लेना-देना ? मुझे तो नित्य उदित रहनेवाला मेरा यह स्वभाव ही स्फुरायमान हो।

अनेकप्रकार की अनंतशक्तियों का समुदाय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्ड किये जाने पर तत्समय ही नाश को प्राप्त होता है। इसलिए मैं तो ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें यद्यपि खण्डों का निराकरण नहीं किया गया है; तथापि जो अखण्ड है, एकान्त शान्त है और अचल है – ऐसा चैतन्यमात्र भाव ही मैं हूँ।

इन कलशों के भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है। इसलिए मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्धमोक्षमार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या काम है ?

आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है; इसलिए यदि नयों की एकान्त दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाये – ऐसा होने से स्याद्वादी, नयों का विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तु को अनेक शक्तिसमूहरूप, सामान्य-विशेषरूप, सर्वशक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।"

इन छन्दों का भावानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जाके हिरदै मैं स्याद्वाद साधना करत,
सुद्ध आतमा को अनुभौ प्रगट भयौ है।
जाके संकलप विकलप के विकार मिटि,
सदाकाल एकीभाव रस परिनयौ है॥
जिन बंधविधि परिहार मोख अंगीकार,
ऐसौ सुविचार पच्छ सोऊ छांड़ि दयौ है।
ताकौ ग्यान महिमा उदोत दिन-दिन प्रति,
सो ही भवसागर उलंघि पार गयौ है॥

अस्तिरूप नासति अनेक एक थिररूप,
अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहियै।
दीसै एक नैकी प्रतिपच्छी न अपर दूजी,
नैकौ न दिखाइ वाद-विवाद मैं रहियै॥
थिरता न होइ विकलप की तरंगनि मैं,
चंचलता बढ़ै अनुभौ दसा न लहियै।
तातैं जीव अचल अबाधित अखंड एक,
ऐसौ पद साधि कै समाधि सुख गहियै॥

जिसके हृदय में स्याद्वाद की साधना करते हुए शुद्धात्मा का अनुभव प्रगट हुआ है, संकल्प-विकल्पों के विकारभाव मिट गये हैं और जो सदाकाल एकीभावरूप से परिणमित हुआ है, जिसने बंधविधि का परिहार कर मोक्ष अंगीकार कर लिया है, यहाँ तक कि जिसने इसप्रकार के तत्त्वविचार के विकल्पों के पक्ष को भी छोड़ दिया है; उसको दिन-प्रतिदिन ज्ञान की महिमा का उद्योत हो रहा है और वे ही संसारसमुद्र उलंघि कर मुक्त हो गये हैं।

अस्तिरूप, नास्तिरूप, अनेकरूप, एकरूप, स्थिर और अस्थिर इत्यादि प्रकार से नयविवक्षा से आत्मा अनेकप्रकार का कहा जाता है। यदि एक नय का प्रतिपक्षी दूसरा नय दिखाई न दे तो यह आत्मा वाद-विवाद में ही उलझा रहता है, विकल्पों की तरंगों में चंचलता बढ़ती है, स्थिरता नहीं होती है; इसकारण निर्विकल्प अनुभवदशा प्राप्त नहीं होती है। इसलिए हे जीव ! एक अचल, अखण्ड, अबाधित पद को साध कर समाधिसुख को प्राप्त करो।

कविवर बनारसीदासजी ने उक्त छन्दों में मात्र यही कहा है कि जिन्होंने स्याद्वादमयी जिन वचनों के अनुसार साधना करते हुए शुद्धात्मा का अनुभव कर लिया है, जिनके संकल्प-विकल्प मिट गये हैं; जिन्होंने बंध का विध्वंस कर मोक्ष अंगीकार कर लिया है और जो तत्त्वविचार के पक्ष से पार हैं; वे आत्मा ही भवसागर पार होते हैं।

विभिन्नप्रकार के विभिन्न नयों के माध्यम से वस्तु का विचार करते रहने पर भी स्थिरता नहीं होती, विकल्प की तरंगों से चंचलता बढ़ती रहती है और अनुभवदशा की प्राप्ति नहीं हो पाती; अत: सार इसी में है कि हम एक अचल, अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प साधना कर समाधि का आनंद लें।

स्वामीजी इन कलशों को इसप्रकार समझाते हैं –

''आचार्यदेव यहाँ यह भावना भाते हैं कि जहाँ ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई कि मैं पुण्य-पाप के विकल्प से रहित ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, वहाँ अन्तर में चैतन्य के तेज का जगमगाता प्रकाशपुंज प्रगट हो गया है, भगवान आत्मा अनुभव में आ गया है। अब हमें अन्य सांसारिक क्षुद्र वस्तुओं से क्या काम है, क्या प्रयोजन है ?

स्याद्वाद से प्रदीप्त हुआ जगमग करता जिसका तेज है और जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है – ऐसा विचार व पर से भेदज्ञान कराता आनन्द जहाँ उदय को प्राप्त हुआ है तथा मैं ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों से भरपूर पूर्ण चिदानन्दघन प्रभु हूँ, आत्मा हूँ – ऐसी स्वरूप की अनेकान्तदृष्टि

द्वारा चैतन्य का जगमगाट करता ऐसा तेज प्रगट हुआ है, जिसके आग मोहान्धकार और रागादि विनष्ट हो गये हैं।[१]

आत्मा वस्तुरूप से अभेद है, एक है। यद्यपि उसमें अनन्त गुण हैं; परन्तु अनन्त गुणमय वस्तु अभेद है, एक है। अहा ! ऐसे आत्मा को एक-एक नय से देखने पर अखण्ड आत्मवस्तु खण्ड-खण्ड हो जाती है अर्थात् पूर्ण आत्मवस्तु अन्तर्दृष्टि में से खो जाती है। ज्ञान व दृष्टि में सम्पूर्ण आत्मवस्तु की प्राप्ति नहीं होती, अभेद वस्तु लक्ष्य में नहीं आती। आत्मा को जहाँ भेद से दृष्टि में लेने का प्रयत्न करता है, वहीं विकल्प खड़े होते हैं, अभेद लक्ष्य में नहीं आता। अहा ! पर से व राग से आत्मा की प्राप्ति होना तो दूर रहो, आत्मा को उसके एक-एक गुण से देखने पर भी आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।[२]

देखो, इस कलश में आचार्यदेव ने आत्मा में से भेदों का बहिष्कार नहीं किया। यद्यपि आत्मा में अनन्तगुण हैं अवश्य; परन्तु अनन्त गुणमय होते हुए भी आत्मा अखण्ड एक ज्ञायकवस्तु है तथा इस अखण्ड की दृष्टि करने से ही आत्मा की प्राप्ति होती है, भेद की दृष्टि से नहीं। भेद की दृष्टि से तो विकल्प उठते हैं, निर्विकल्पता नहीं होती।[३]

यहाँ कहते हैं कि एक-एक नय से शक्तियों को देखें तो आत्मा खण्ड-खण्ड होकर नाश हो जाये, अखण्ड द्रव्यवस्तु ज्ञान में आयेगी ही नहीं।[४]

वस्तु के नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि धर्म हैं तथा सामान्य द्रव्यरूप से एकरूप और विशेष अपेक्षा से भेदरूप वस्तु है; तथापि ज्ञानी तो वस्तु को सर्वशक्तिमय अभेद एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।[५]''

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५६४-५६५
२. वही, पृष्ठ - ५६७
३. वही, पृष्ठ - ५६८
४. वही, पृष्ठ - ५६९
५. वही, पृष्ठ - ५६९

उक्त कलशों में यही कहा गया है कि जब साध्यभाव और साधकभाव मुझमें ही हैं, मेरे ही परिणमन में है; तब मुझे अन्य पदार्थों से क्या प्रयोजन है? तात्पर्य यह है कि आत्मा को अपने कल्याण के लिए किसी पर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति का मार्ग पूर्णत: स्वाधीन है और मुक्ति में तो पूर्ण स्वाधीनता है ही।

सहयोग की आकांक्षा से पर की ओर देखने की आवश्यकता तो है ही नहीं; साथ ही नयविकल्पों में उलझने की भी आवश्यकता नहीं है। पूर्णत: शान्त, एक, अचल, अबाधित, अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प आराधना ही पर्याप्त है। यह आराधना भी 'ऐसा चैतन्यभाव मैं हूँ' – ऐसा जानना, मानना और निर्विकल्प होकर उसी में समा जाना ही है; इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

इन कलशों के उपरान्त आत्मख्याति में गद्य में एक महामंत्र दिया गया है; जिसके भाव को आत्मसात् कर उस भाव में ही समा जाना है।

नित्य जपने योग्य वह मंत्र इसप्रकार है –

''न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।

मैं अपने शुद्धात्मा को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से ही खण्डित करता हूँ; क्योंकि मैं तो एक सुविशुद्ध ज्ञानमात्र भाव हूँ।''

यह तो सर्वविदित ही है कि आत्मख्याति गद्य-पद्यरूप टीका है। यद्यपि इसमें गद्यभाग की ही बहुलता है; तथापि इसमें २७८ छन्द भी आये हैं, जिन्हें कलश नाम से पुकारा जाता है। पाण्डे राजमलजी ने अपने समयसार कलश अर्थात् कलशटीका में पद्यभाग की ही टीका की है। यद्यपि उन्होंने गद्यभाग को कहीं भी स्पर्श नहीं किया है; तथापि गद्यरूप में समागत उक्त

अंश पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, उक्त अंश पर छन्दों के समान ही बाकायदा टीका लिखी है। इस बात से इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उनकी दृष्टि में उक्त अंश कितना महत्त्वपूर्ण है।

उक्त सन्दर्भ में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है; उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है –

"भावार्थ इसप्रकार है कि एक जीव वस्तु स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावरूप चार प्रकार के भेदों द्वारा कही जाती है; तथापि चार सत्ता नहीं है, एक सत्ता है।

उसका दृष्टान्त – चार सत्ता इस प्रकार से तो नहीं है कि जिस प्रकार एक आम्र फल चार प्रकार का है। उसका विवरण – कोई अंश रस है, कोई अंश छिलका है, कोई अंश गुठली है, कोई अंश जाली है। उसीप्रकार एक जीव वस्तु कोई अंश जीवद्रव्य है, कोई अंश जीवक्षेत्र है, कोई अंश जीवकाल है, कोई अंश जीवभाव है – इस प्रकार तो नहीं है। ऐसा मानने पर सर्व विपरीत होता है।

इसकारण इसप्रकार है कि जिसप्रकार एक आम्र फल स्पर्श रस गन्ध वर्ण विराजमान पुद्गल का पिण्ड है, इसलिए स्पर्शमात्र से विचारने पर स्पर्शमात्र है, रसमात्र से विचारने पर रसमात्र है, गन्धमात्र से विचारने पर गन्धमात्र है, वर्णमात्र से विचारने पर वर्णमात्र है। उसीप्रकार एक जीव वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव विराजमान है, इसलिए स्वद्रव्य से विचारने पर स्वद्रव्यमात्र है, स्वक्षेत्र से विचारने पर स्वक्षेत्रमात्र है, स्वकालरूप से विचारने पर स्वकालमात्र है, स्वभावरूप से विचारने पर स्वभावमात्र है। इसकारण ऐसा कहा है कि जो वस्तु है वह अखण्डित है। अखण्डित शब्द का ऐसा अर्थ है।"

राजमलजी के सोदाहरण किए गये उक्त प्रतिपादन को आधार बनाकर

कविवर बनारसीदासजी ने जो छन्द प्रस्तुत किया है, वह इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जैसे एक पाकौ आंबफल ताके चार अंस,
रस जाली गुठली छीलक जब मानियै।
यौं तौ न बनै पै ऐसे बनै जैसे वहै फल,
रूप रस गंध फास अखंड प्रमानियै॥
तैसै एक जीव कौ दरब खेत काल भाव,
अंस भेद करि भिन्न-भिन्न न बखानियै।
दर्वरूप खेतरूप कालरूप भावरूप,
चारौं रूप अलख अखंड सत्ता मानियै॥

जिसप्रकार एक पके आम में रस, जाली, गुठली और छिलका – ये चार अंश माने जाते हैं, उसप्रकार से आत्मा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव हैं – ऐसा तो नहीं माना जा सकता; परन्तु जिसप्रकार आम्रफल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों ही अखंडरूप से विद्यमान है; उसीप्रकार एक जीवद्रव्य में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अभेदरूप से विद्यमान हैं। इन चारों को अलग-अलग नहीं माना जा सकता है; अपितु ये चारों अलख आत्मा की सत्ता में अखण्डरूप से विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि इनकी सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है। यह भगवान आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभेद है, अखण्ड है और इन चारों की सत्ता भी एक ही है।

उक्त मंत्र का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''अब कहते हैं कि ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि मैं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से खण्डित नहीं होता अर्थात् 'मैं द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से जुदा हूँ' – ज्ञानी ऐसा भेद (विकल्प)रूप अनुभव नहीं करता। द्रव्य में ही चारों अभेदपने से समाहित हैं – ज्ञानी ऐसा

अखण्ड, अभेदरूप अनुभव करता है।[१]

जो वस्तु का द्रव्य है, वही क्षेत्र है, वही काल है और वही भाव है। ज्ञानी अपनी ज्ञानमात्र वस्तु को एक अभेदरूप से ग्रहण करता है, खण्ड-खण्ड करके अनुभवता नहीं है। वस्तु को द्रव्य, उसके असंख्यात प्रदेशों को क्षेत्र, उसकी अवस्थाओं को काल और उसके अनंतगुणों को भाव कहा जाता है। ज्ञानमात्र वस्तु में ज्ञानी जीव इन्हें, इन भेदों को नहीं देखकर निर्विकल्प वस्तुमात्र को ही देखता है। भाई ! अन्तर्दृष्टि में भेद नहीं है, उसमें तो मात्र अभेद का ही अनुभव है।[२]''

उक्त मंत्र में दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। यदि इस विषय को विस्तार से समझना है तो लेखक की अन्य कृति 'दृष्टि का विषय' का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

इस विषय को स्पष्ट करनेवाली उक्त कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार हैं –

''द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव – ये चार चीजें जिसमें हों, उसी का नाम वस्तु है तथा वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, भेदाभेदात्मक है, नित्या-नित्यात्मक है, एकानेकात्मक है।

वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्यविशेषात्मक है, काल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक है, भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक है तथा क्षेत्र की अपेक्षा भेदाभेदात्मक है। इसप्रकार एक-एक के दो-दो भेद हैं।

वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य भी है और विशेष भी है, काल की अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है, क्षेत्र की अपेक्षा भेद भी है और अभेद भी है तथा भाव की अपेक्षा एक भी है और अनेक भी है।

इसप्रकार वस्तु की ये आठ विशेषताएँ हैं अर्थात् वस्तु एक भी है, अनेक

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७०

२. वही, पृष्ठ - ५७०-५७१

भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, भेद भी है, अभेद भी है, सामान्य भी है और विशेष भी है।

इसप्रकार यह वस्तु प्रमाण की वस्तु है। इसमें से सामान्य, अभेद, नित्य और एक तो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं और विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – ये पर्यायार्थिकनय के विषय हैं।

इसलिए सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इनकी द्रव्यसंज्ञा है और विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – इनकी पर्यायसंज्ञा है और **ये विशेष, भेद, अनित्य और अनेक – चारों ही दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं।**[१]

इस दृष्टि के विषय में पर्यायार्थिकनय की विषय-वस्तु के वे चार अंश शामिल नहीं हैं, जिनकी पर्यायसंज्ञा है तथा वे चार अंश शामिल हैं, जिनकी द्रव्यसंज्ञा है; परन्तु उनका भी भेद दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है। इसी का नाम है पर्याय से रहित दृष्टि का विषय।[२]

प्रत्येक वस्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल व भावमय होती है। वस्तु के इन चार पक्षों में द्रव्य भी एक पक्ष है जो सामान्य-विशेषात्मक होता है। इस सामान्य-विशेषात्मक पक्ष को भी द्रव्य कहते हैं और मूलवस्तु को भी द्रव्य कहते हैं। **मूलवस्तु से तात्पर्य यह है, जिसमें सामान्य-विशेष, एकानेक, नित्यानित्य और भेदाभेद ये आठ चीजें शामिल हैं। तीसरा द्रव्य सामान्य, एक, नित्य और अभेद – इन चारों के समूह का नाम है; यही तीसरा द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय है और इसमें पर्याय शामिल नहीं है।**[३]

जिसप्रकार द्रव्य का भेद निकाला है और द्रव्य का अभेद सम्मिलित किया है, क्षेत्र का भेद निकाला है और क्षेत्र का अभेद सम्मिलित किया है, गुण का भेद निकाला है और गुण का अभेद

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ३०
२. वही, पृष्ठ - ३०
३. वही, पृष्ठ - ४१

सम्मिलित किया है; उसीप्रकार काल का भेद निकाला है और काल का अभेद दृष्टि के विषय में सम्मिलित किया है।

काल का भेद, प्रदेश का भेद, गुण का भेद और द्रव्य का भेद – इन चारों का नाम पर्याय है, मात्र काल के भेद का नाम पर्याय नहीं है।[1]

जो-जो पर्यायार्थिकनय का विषय है, उन सभी की पर्यायसंज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उन सभी की द्रव्यसंज्ञा है। जिनकी 'द्रव्य' संज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल हैं और जिनकी 'पर्याय' संज्ञा है, वे दृष्टि के विषय में शामिल नहीं हैं।

इसप्रकार अध्यात्म में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद – इन सभी की पर्यायसंज्ञा है अर्थात् गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद, कालभेद – ये पर्यायें द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं बनती हैं अर्थात् ये दृष्टि का विषय भी नहीं बनती हैं।[2]

सामान्य ,अभेद, अनित्य और एक – इनकी अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इनमें भी इनका जो 'चारपना' है, वो दृष्टि का विषय नहीं है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है अर्थात् 'चार' ये जो भेद हैं, यह भेद पर्यायार्थिकनय का विषय है।[3]

भेद भी वस्तु का स्वरूप उसीप्रकार है, जिसप्रकार अभेद। यदि भेद को वस्तु में से निकाल दिया तो भेद ही खण्डित नहीं होगा, अपितु पूरी वस्तु ही खण्डित हो जायेगी; इसलिए वस्तु को अखण्डित रखने के लिए भेद को गौण करने के लिए कहा जाता है।

यदि अभेद वस्तु को स्पष्ट देखना हो तो भेद को गौण करना ही होगा; क्योंकि भेद को गौण किए बिना अभेद वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती है।

---

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ४३
२. वही, पृष्ठ - ५६
३. वही, पृष्ठ - ५७

अतएव भेदवाली आँख को सर्वथा बन्द करने की बात कही जाती है, उसे फोड़ लेने की नहीं। उस भेदवाली आँख को, अभेद को देखते समय ही सर्वथा बन्द रखना है, हमेशा बन्द नहीं रखना है, समय आने पर उसे खोलना भी पड़ेगा।[१]

अध्यात्म में तो गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद एवं कालभेद – इन सभी भेदों का निषेध है, लेकिन यदि चारों को अलग-अलग नहीं कहना हो तो सामान्यतया 'भेद का निषेध' – ऐसा भी कह दिया जाता है, लेकिन उसका अर्थ चारों भेदों का निषेध ही है। जब ऐसा कहा जाता है कि भेद को गौण कर दो, तब उसका अर्थ यही होता है कि पर्याय को गौण कर दो।

सामान्य, नित्य, एक और अभेद – ये चारों तो दृष्टि के विषय में शामिल हैं; लेकिन इन चारों का भेद दृष्टि में शामिल नहीं है अर्थात् ये चारों अभेदरूप में दृष्टि के विषय में शामिल हैं।[२]

यद्यपि भेद भी वस्तु के स्वरूप में शामिल है और अभेद भी वस्तु के स्वरूप में शामिल है; लेकिन अनुभूति भेद के लक्ष्य से नहीं होती है। भेद के लक्ष्य से विकल्प की उत्पत्ति होती है और अभेद के लक्ष्य से निर्विकल्प अनुभूति होती है; इसलिए इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भेद को गौण किया जाता है।[३]

अपनी आत्मवस्तु के इन चार युगलों में सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इनकी एकता द्रव्यार्थिकनय का विषय बनती है और इसीकारण इसका नाम द्रव्य है। बस यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है, इसमें अपनापन स्थापित होना ही सम्यग्दर्शन है। इसके विरुद्ध अपनी आत्मवस्तु के विशेष, भेद तथा उसकी अनित्यता एवं

---

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ६२
२. वही, पृष्ठ - ६३
३. वही, पृष्ठ - ६४

अनेकता की पर्यायसंज्ञा है और इनमें अपनापन होना ही मिथ्यादर्शन है।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्य को ही यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है और इसे विषय बनानेवाले नय को शुद्धनय, निश्चयनय या शुद्धनिश्चयनय कहा गया है।[१]

जिसप्रकार हम किसी एक गुण को ग्रहण करते हैं तो वह गुणभेद कहलाता है और अनंत गुणों को एकसाथ अभेदरूप से ग्रहण करना उसका नाम गुणों का अभेद है। प्रदेशों में भी किसी एक प्रदेश को ग्रहण करना प्रदेशभेद है और असंख्यप्रदेशों को एकसाथ अभेदरूप से ग्रहण करना प्रदेश-अभेद है; उसीप्रकार काल तो अनादि-अनंत है, उस काल में से एक खण्ड को ग्रहण करने का नाम कालभेद है और काल की अखण्डता को ग्रहण करने का नाम काल-अभेद है। ये जो त्रिकाली कहा जाता है, वह काल का अभेद ही है। 'त्रिकाली' का अर्थ तीन काल नहीं है, अपितु तीनों कालों के अभेद का नाम त्रिकाली है।[२]

वहाँ दृष्टि के विषय में पर्यायों के अभेद सामान्य का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञान – ये विशिष्ट पर्यायें हैं और इन विशिष्ट पर्यायों का दृष्टि के विषय में निषेध है। केवलज्ञान भी विशिष्ट पर्याय होने से दृष्टि के विषय में शामिल नहीं है।

दृष्टि के विषय में निगोद से लेकर मोक्षतक की समस्त पर्यायों का अभेद शामिल है, उस अभेद का नाम काल का अभेद हैं और काल का अभेद होने से वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, इसलिए उस अभेद का नाम द्रव्य है, पर्याय नहीं; पर्याय तो उसके अंश का नाम है; भेद का नाम है। अब कोई

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ६७
२. वही, पृष्ठ - ६८

कहे कि दृष्टि के विषय में आपने अभेद के रूप में पर्याय को शामिल कर लिया ? अरे भाई ! जो अभेद के रूप में काल को शामिल किया है, उसका नाम द्रव्य है, पर्याय नहीं।

यदि काल के अभेद के शामिल होने से किसी को पर्याय शामिल लगती है तो उसने पर्याय का वास्तविक स्वरूप ही नहीं समझा; क्योंकि पर्यायार्थिक नय के विषय को पर्याय कहा जाता है और द्रव्यार्थिकनय के विषय को द्रव्य कहा जाता है।[1]

क्षेत्र की अखण्डता को असंख्यप्रदेशी कहा जाता है। जब असंख्य प्रदेशी कहा जाता है, तब प्रदेश विशेषण बन जाते हैं अर्थात् असंख्यप्रदेशी एक अखण्ड वस्तु का बोध कराता है तथा जब अंसख्य प्रदेश कहा जाता है, तब वह भेद का बोध कराता है। भगवान आत्मा असंख्यप्रदेश नहीं है, असंख्यप्रदेशी है; भगवान आत्मा अनंतगुण नहीं है, अनंतगुणमय है।

यदि अनुभव में अलग-अलग प्रदेश ख्याल में आते हैं तो आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की ही उत्पत्ति होगी; अनन्तगुण अलग-अलग ख्याल में आए तो भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की उत्पत्ति होगी; यदि अलग-अलग पर्यायें भी अनुभव में ख्याल में आतो हैं, तब भी आत्मा का अनुभव नहीं होगा, अपितु विकल्प की ही उत्पत्ति होगी।

जब क्षेत्रसंबंधी भेद का विकल्प, कालसंबंधी भेद का विकल्प, द्रव्य संबंधी भेद का विकल्प और भावसंबंधी भेद का विकल्प – ये सभी विकल्प नहीं होते हैं, तब वह अनुभूति का काल है। उस समय जो द्रव्य दृष्टि का विषय बनता है; वही द्रव्यार्थिकनय का विषय है।[2]

दृष्टि के विषय में काल का अन्वय शामिल है, काल का व्यतिरेक

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ८०
२. वही, पृष्ठ - ९४

शामिल नहीं है; भाव का अन्वय शामिल है, भाव का व्यतिरेक शामिल नहीं है; क्षेत्र का अन्वय शामिल है, क्षेत्र का व्यतिरेक शामिल नहीं है और द्रव्य का अन्वय शामिल है, द्रव्य का व्यतिरेक शामिल नहीं है।[1]

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य में पर्याय शामिल नहीं है, जबकि प्रमाण के विषयभूत द्रव्य में पर्याय शामिल है। द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य एवं पर्यायार्थिकनय की विषयभूत पर्याय – इन दोनों को एकसाथ प्रमाण अपना विषय बनाता है। द्रव्यार्थिकनय के विषय की संज्ञा द्रव्य है एवं पर्यायार्थिकनय के विषय की संज्ञा पर्याय है।

काल की अपेक्षा वस्तु के नित्य और अनित्य – ये दो पक्ष होते हैं। जब हम वस्तु को नित्य कहते हैं, तो उस नित्य का अर्थ हम यह समझते हैं कि 'जो हमेशा कायम रहे' उसका नाम नित्य है। 'कायम रहना' का अर्थ हम मात्र 'नहीं पलटना' ही ग्रहण करते हैं, संकुचित अर्थ में नित्य का यह अर्थ सही भी है, लेकिन व्यापक अर्थ में नित्य का अर्थ अलग ही है।

'अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय पलटेगा, एक समय भी पलटे बिना रहेगा नहीं' – यह बात भी नित्य है; क्योंकि यदि यह बात अनित्य होती तो फिर द्रव्य कभी पलटता और कभी नहीं पलटता, जबकि ऐसा नहीं होता है। द्रव्य नित्य पलटता है। जब हम 'नित्य पलटता है' – यह कहते हैं तो हमें पलटने के साथ नित्यता का बैर-विरोध लगता है, जबकि इसमें बैर-विरोध नहीं है।

जैसा वस्तु का स्वभाव 'कभी नहीं पलटना है' वैसा ही वस्तु का स्वभाव 'प्रतिसमय पलटना' भी है। वस्तु का द्रव्यस्वभाव कभी नहीं पलटनेवाला है और वस्तु का पर्यायस्वभाव प्रतिसमय पलटनेवाला है। ये दोनों ही वस्तु

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - ९६

के स्वभाव हैं। ऐसा नहीं है कि द्रव्यस्वभाव द्रव्य का स्वभाव है और पर्याय-स्वभाव पर्याय का स्वभाव है। ये दोनों ही वस्तु के नित्य स्वभाव हैं।[१]

इसप्रकार नित्य में 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही नहीं है, अपितु प्रवाह की निरन्तरता भी शामिल है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है।[२]

दृष्टि के विषयभूत इस द्रव्य में सामान्य के रूप में द्रव्य, एक के रूप में अनंतगुणों का अखण्ड पिण्ड, अभेद के रूप में असंख्यप्रदेशों का अखण्डपिण्ड और नित्य के रूप में अनंतानंत पर्यायों का सामान्यांश – इन सभी को शामिल किया गया है।[३]

जिसप्रकार गुणभेद, प्रदेशभेद को पर्यायार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के विषय में से निकाला है; उसीप्रकार पर्यायभेद को भी दृष्टि के विषय में से निकाला है। अनुस्यूति से रचित पर्यायों का प्रवाह तो दृष्टि के विषय में शामिल ही है।[४]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि मैं न तो द्रव्य से खण्डित होता हूँ, न क्षेत्र से, न काल से और न भाव से ही खण्डित होता हूँ; मैं तो एक अखण्ड चिन्मात्र वस्तु ही हूँ – यह भावना ही निरन्तर भाने योग्य है। इसी की प्रेरणा आत्मख्याति के इस गद्य खण्ड में दी गई है।

इसकी भावना निरन्तर भाते रहने का आशय मात्र इतना ही नहीं है कि हम इस वाक्यखण्ड को जवान से दुहराते रहें; अपितु यह है कि हम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अखण्ड द्रव्यार्थिकनय की विषयभूत आत्मवस्तु को पहिचानने और उसमें ही अपनापन स्थापित कर उसको निरन्तर अपने उपयोग का विषय बनाने का सार्थक पुरुषार्थ करें।

१. दृष्टि का विषय, पृष्ठ - १०१
२. वही, पृष्ठ - १०३
३. वही,पृष्ठ - ११३
४. वही, पृष्ठ - ११७

इसके उपरान्त ज्ञानमात्र ज्ञायकभाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अनेक कलश लिखे गये हैं; जिनमें पहला इसप्रकार है –

(मालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृ-मद्वस्तुमात्रः ॥२७१॥

(रोला)

परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर।
मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो॥
ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से।
परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र हूँ॥२७१॥

जो यह ज्ञानमात्रभाव रूप मैं हूँ, उसे ज्ञेयों के ज्ञानमात्ररूप नहीं जानना चाहिए; क्योंकि मैं तो ज्ञेयों के आकाररूप होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता – इन तीनोंमय एकवस्तु हूँ– ऐसा जानना चाहिए।

उक्त कलश का भाव खोलते हुए कलशटीका में पाण्डे राजमलजी लिखते हैं–

''भावार्थ इसप्रकार है कि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के ऊपर बहुत भ्रान्ति चलती है। सो कोई ऐसा समझेगा कि जीव वस्तु ज्ञायक, पुद्गल से लेकर भिन्न रूप छह द्रव्य ज्ञेय हैं। सो ऐसा तो नहीं है।

मैं ज्ञायक, समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय – ऐसा तो नहीं है।

भावार्थ इसप्रकार है कि मैं अपने स्वरूप को वेद्य-वेदकरूप से जानता हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान, यतः मैं आप द्वारा जानने योग्य हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञेय, यतः ऐसी दो शक्तियों से लेकर अनन्त शक्तिरूप हूँ, इसलिए मेरा

नाम ज्ञाता। ऐसा नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है।

भावार्थ इसप्रकार है कि वचन का भेद है, वस्तु का भेद नहीं है।''

उक्त कथन में से ऐसा भाव निकाला जाता रहा है कि पर को जानना भ्रान्ति है या आत्मा पर को जानता है – ऐसा मानना भ्रान्ति है। तात्पर्य यह है कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है।

गहराई से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो मूल छन्द में से ही यह भाव निकलता है और कलश टीकाकार के उक्त कथन से यह प्रतिध्वनित होता है।

मूल कलश में तो साफ-साफ ही कहा है कि मैं मात्र परज्ञेयों के जाननेरूप नहीं हूँ, अपितु मैं स्वयं को भी जानता हूँ। इसप्रकार स्वपर को जाननेरूप परिणत हुआ मैं स्वयं ही ज्ञाता हूँ, स्वयं ही ज्ञेय हूँ और स्वयं ज्ञान हूँ।

यह बात छटवीं गाथा के अुनशीलन में भी स्पष्ट की गई थी। इस प्रकरण के सम्यक् निर्णय के लिए एक बार छटवीं गाथा के अनुशीलन का अध्ययन अवश्य करें।

उक्त सन्दर्भ में छटवीं गाथा के अनुशीलन का कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है –

''**प्रश्न** – आप कुछ भी कहें, पर भगवान आत्मा का ज्ञायक नाम तो ज्ञेयों को जानने के कारण ही पड़ा है न ?

उत्तर – हाँ, यह बात तो सही है; पर ज्ञायकभाव स्वयं भी तो एक ज्ञेय है। अत: एकान्त से यह कैसे कहा जा सकता है कि परज्ञेयों के जानने के कारण ही आत्मा का नाम ज्ञायक पड़ा है; स्वज्ञेय को जानने के कारण भी तो उसे ज्ञायक ही कहा जायेगा। इस बात को आचार्यदेव ने दीपक का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

जिसप्रकार दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार वह

स्वयं को भी प्रकाशित करता है; क्योंकि दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती। मात्र पर को प्रकाशित करने के कारण ही उसे दीपक नहीं कहा जाता, अपितु स्वयं को प्रकाशित करने के कारण भी वह दीपक ही है। ठीक इसीप्रकार यह ज्ञायकभाव मात्र दूसरों को जानने के कारण ही ज्ञायक नहीं है, अपितु स्वयं को जानने के कारण भी ज्ञायक ही है।

तात्पर्य यह है कि यह जानने में भी आता है और जानता भी है। जानने में आने के कारण इसे ज्ञेय कहते हैं और जाननेवाला होने से ज्ञायक कहते हैं। ज्ञेय तो सभी पदार्थ हैं। आत्मा भी ज्ञेय है और आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ भी ज्ञेय हैं; पर जीवद्रव्य को छोड़कर शेष सभी द्रव्य कुछ नहीं जानते हैं। इसतरह जानना यह आत्मा का विशेष गुण है, जो अन्य अजीवद्रव्यों में नहीं पाया जाता है; यही कारण है कि यह गुण आत्मा को पर से विभक्त करता है, विभक्त करने का हेतु बनता है।''

ध्यान रहे इस २७१ वें कलश में पर के जानने को भ्रान्ति नहीं कहा है; अपितु इस सन्दर्भ में जो भ्रान्तियाँ चलती उनकी चर्चा की है। तात्पर्य यह है कि आत्मा पर को जानता है कि नहीं जानता है ? – इस सन्दर्भ में लोगों को सही निर्णय नहीं है, बस वे इतना ही कहना चाहते हैं। वस्तुस्थिति क्या है ? इसके बारे में आगे स्वतंत्ररूप से कथन किया जायेगा।

वस्तुत: बात यह है कि आत्मा में एक ज्ञान नाम का गुण या शक्ति भी है और प्रमेयत्व नामक गुण या शक्ति भी है; इसतरह वह ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है तथा ज्ञान और ज्ञेयादि अनंतगुणवाला होने से अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड ज्ञाता भी है। इसप्रकार आत्मा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता – सब एकसाथ ही हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की सत्ता मात्र पर को जानने तक सीमित नहीं है; अपितु वह अपने को जानने सहित और अनंत गुण और उनके निर्मल

परिणमन स्वभावी ध्रुवतत्त्व है।

उक्त कलश के पाण्डे राजमलजी द्वारा किए गये अर्थ का सही भाव न समझ पाने के कारण जो दुविधा खड़ी होती है; उसका समाधान नाटक समयसार में निम्नांकित छन्दों से हो जाता है।

(चौपाई)

स्वपर प्रकासक सकति हमारी। तातैं वचन भेद भ्रम भारी॥
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी। निजरूपा पररूपा भासी॥

(दोहा)

निजरूपा आतम सकति, पररूपा पर वस्त।
जिन लखि लीनौं पेंच यह, तिन लखि लियौ समस्त॥

हमारी ज्ञानशक्ति स्वपरप्रकाशक स्वभाववाली है; इसकारण ज्ञान और ज्ञेय संबंधी वचनों के भेद से अज्ञानियों को बहुत भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वस्तुत: बात यह है कि ज्ञेय दो प्रकार के हैं, निजरूप ज्ञेय और पररूप ज्ञेय।

इनमें आत्मशक्ति निजरूप है और परवस्तुयें पररूप हैं। जिन जीवों ने यह पेंच (रहस्य) जान लिया; उन्होंने सबकुछ जान लिया।

नाटक समयसार के उक्त छन्दों में अत्यन्त स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है कि आत्मा स्वपरप्रकाशकत्वशक्ति का धारक है तथा ज्ञेय भी निजरूप आत्मा और पररूप परपदार्थ हैं। – यह रहस्य जिन लोगों ने जान लिया है; उन्होंने सबकुछ जान लिया है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने वस्तु का सही स्वरूप समझ लिया है। शेष अज्ञानीजन इस स्वपरप्रकाशकत्वशक्ति का सही रूप न पहिचानने के कारण बड़े भारी भ्रम में पड़ जाते हैं।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

‘‘‘मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ’ – ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ मात्र छह द्रव्यों का जाननेवाला ही नहीं समझना; बल्कि स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय

और स्वयं ही सम्पूर्ण ज्ञातामय वस्तु जानना। स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता – ऐसा ज्ञान-ज्ञाता एवं ज्ञेयरूप तीनों भावों सहित वस्तुमात्र जानना।

'ज्ञेय के आकाररूप होता हुआ ज्ञान की कल्लोलरूप से परिणमित – ऐसा जो टीका में कहा, वह व्यवहार से कहा है। वस्तुत: तो छहद्रव्यरूप ज्ञेयों का जैसा स्वरूप है, उनको जानने में विशेषरूप से परिणमना ज्ञान की स्वयं की दशा है और वह ज्ञान की स्वयं की सामर्थ्य से है। 'ज्ञेय के आकार से हुआ ज्ञान – यह तो कथनमात्र है; वस्तुत: ज्ञान तो ज्ञानाकार ही है, ज्ञेयाकार हुआ ही नहीं, होता ही नहीं।[१]

परज्ञेय अर्थात् परपदार्थरूप देव-शास्त्र-गुरु, पंचपरमेष्ठी और व्यवहार-रत्नत्रय आदि ज्ञेय के साथ मेरा ज्ञाता-ज्ञेय संबंध तो दूर ही रहो; मैं तो परमार्थ से ज्ञेय, ज्ञान व ज्ञाता – ऐसे तीन भेदरूप भी नहीं हूँ। इन तीनोंमय मैं एक ही हूँ। देखो, यह स्वानुभव की दशा। मैं ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय – तीनों भेदों से भेदरूप नहीं होता। मैं ऐसा अभेद चिन्मात्र आत्मा हूँ।[२]

देखो, तीन लोक के अनन्त द्रव्य उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें जो अनन्तानन्त हैं, उन सबको जाननेवाली तेरे ज्ञान की दशा – वे सब वस्तुत: तेरे ज्ञेय हैं। न केवल वे ही तेरे ज्ञेय हैं; किन्तु ऐसी सामर्थ्य की धारक तेरी स्वयं की द्रव्य-गुण-पर्यायमय आत्मवस्तु भी तेरी ज्ञेय है।

जगत के ज्ञेयों को जाननेरूप जाननक्रिया ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेयरूप नहीं। ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्य जानने मेंआते हैं, निश्चय से ज्ञान की पर्याय में वे छह द्रव्य जानने में नहीं आते; बल्कि छह द्रव्य संबंधी अपना ज्ञान ही जानने में आता है। और वह ज्ञान ही निश्चय से आत्मा का ज्ञेय है। परज्ञेयों को जाना जाता है अथवा परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं – यह कहना तो व्यवहार

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७२
२. वही, पृष्ठ - ५७२

है। ज्ञेयसंबंधी अपनी जो ज्ञानपर्याय जाननेरूप हुई, वही ज्ञान का ज्ञेय है, परज्ञेय नहीं।[१]

ज्ञेय का ज्ञान निश्चय से ज्ञेय का नहीं; किन्तु ज्ञान का ही ज्ञान है।[२]

राग का ज्ञान होता है, उसमें राग ज्ञान की पर्याय में आता नहीं है। केवली भगवान को लोकालोक का ज्ञान हुआ तो लोकालोक उनके केवलज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाता। घट को जाननेवाला घटरूप नहीं हो जाता तथा घट को जाननेवाला निश्चय से घट को जानता ही नहीं है। स्व-पर को जाननेवाले ज्ञानरूप आत्मा ही स्वयं होता है। घट को जाननेवाले ज्ञानरूप आत्मा स्वयं ही होता है।

इसकारण घट का ज्ञान नहीं; परन्तु आत्मा का ही ज्ञान होता है।[३]

इसप्रकार ज्ञेयसंबंधी अपने ज्ञान का जो परिणमन हुआ, वह स्वयं ही ज्ञेय स्वयं ही ज्ञान और स्वयं ही ज्ञाता है।

ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आने पर ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देता है, परन्तु वह ज्ञान की कल्लोल है।

अहा ! आचार्यों ने कैसा गजब भेदज्ञान कराया है। वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है। इसे जरा ध्यान से सुनना-समझना पड़ेगा। कहते हैं कि आत्मा पर का कुछ करता है' – यह बात तो बहुत दूर रह गई, पर का कर्ता तो आत्मा है ही नहीं; किन्तु परपदार्थ अपने ज्ञान की पर्याय में जाने जाते हैं, ज्ञान पर को जानता है अथवा परज्ञेय ज्ञान की पर्याय में प्रवेश करे – ऐसा भी नहीं है। आत्मद्रव्य एक ज्ञायकभावपने है। वह स्वयं ज्ञान की पर्यायपने जाननक्रियारूप से होता है, वह स्वयं की स्व-परप्रकाशक की क्रिया है।

'आत्मा में पर जाना जाता है' – यह कहना व्यवहार है। निश्चय से पर

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७३

२. वही, पृष्ठ - ५७३

३. वही, पृष्ठ - ५७४

नहीं जाना जाता। अपनी जाननक्रिया ही जाननेरूप है, वही ज्ञान में आती है या जानी जाती है।[१]

हमारे ज्ञान की निर्मल पर्याय में पर पदार्थ झलकने का सहज स्वभाव है; इसकारण पर (पदार्थ) ज्ञेय हैं – ऐसा कहना व्यवहार है। वस्तुत: तो हम अपनी उस निर्मल ज्ञानपर्याय को ही जानते हैं, जिसमें लोक के द्रव्य झलकते हैं।[२]

देखो, दर्पण के दृष्टान्त से यह बात समझाते है – जिसप्रकार दर्पण के सामने कोयला, अग्नि वगैरह रखी हो तो दर्पण में दिखाई देती है; किन्तु वह अग्नि या कोयला दर्पण से बिल्कुल जुदे हैं। दर्पण में तो उन पदार्थों की मात्र झलक दिखती है, वे पदार्थ तो दर्पण में प्रविष्ट हुए नहीं हैं। दर्पण में तो दर्पण की स्वच्छता का ही अस्तित्व है। यदि अग्नि ने दर्पण में प्रवेश किया होता तो दर्पण अग्निमय हो जाता; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। दर्पण अपनी स्वच्छता के परिणाम से स्वयं ही अपने से परिणमा है, कोयला या अग्नि का उसमें कुछ भी नहीं है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा स्वच्छ चैतन्य दर्पण है। उसके ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार की झलक है। उस झलक के पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देता है। ज्ञान के सामने जैसे ज्ञेय होते हैं, उसीप्रकार की विशेषता रूप से अपनी ज्ञान की दशा होकर उन ज्ञेयों को जानती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान ज्ञेयाकार हो गया है; परन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार होता नहीं है; बल्कि ज्ञान की ही कल्लोलें हैं, ज्ञान की ही दशायें हैं। ज्ञेयों का उसमें कुछ भी नहीं है।

अहा ! अपनी ऐसी अस्तित्व की महिमा जाने बिना तू दया-दान, व्रत-तप कर-करके शरीर को सुखा लेता है तो भी रंचमात्र भी धर्म नहीं होता। अपने स्वरूप की महिमा के बिना धर्म की क्रिया हो ही नहीं सकती।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७४
२. वही, पृष्ठ - ५७५
३. वही, पृष्ठ - ५७५-५७६

देखो, इस सब कथन का सारांश यह है कि जानने योग्य परपदार्थ पर में ही रहते हैं और जाननेवाला जाननेवाले में रहता है। जाननेवाला ज्ञाता स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ स्वयं को ही जानता है। इसप्रकार आत्मा स्वयं से ही जाननेयोग्य है। ज्ञानमात्र भाव ही स्वयं का ज्ञेय है। पर पदार्थों को ज्ञेय कहना तो व्यवहार है।[१]

पर के साथ परमार्थ से आत्मा का कोई संबंध नहीं है। जो जानने में आता है, वे ज्ञेय के प्रतिबिम्ब आत्मा की ही दशायें हैं, जाननेवाला ज्ञाता भी स्वयं और ज्ञान भी स्वयं ही है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय – तीनों एकरूप हैं। अन्तर में दृष्टि डालने पर ऐसे तीन भेद आत्मा के नहीं ठहरते।

'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' – ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष यह अनुभव करता है कि ज्ञाता भी मैं हूँ, ज्ञान भी मैं हूँ और ज्ञेय भी मैं ही हूँ। – ऐसा अनुभव होना ही धर्म है।

देखो, यहाँ सामान्य-विशेष – दोनों को ही एकसाथ लिया है; क्योंकि प्रमाणज्ञान कराना है। प्रमाणज्ञान में वस्तु त्रिकाली सत्, इसकी शक्तियाँ त्रिकाली सत् हैं और इसकी वर्तमान पर्याय – इन तीनों को ही आत्मा कहा है। इसमें शरीर, मन, वाणी, कर्म और विकार आदि नहीं आता।[२]''

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि आत्मा की सत्ता या सीमा मात्र पर को जानने मात्र तक सीमित नहीं है, अपितु वह तो स्वपरप्रकाशक ज्ञानपर्यायरूप से परिणमित ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयरूप है। स्वपर को जानना उसका स्वयं का स्वभाव है, उसमें पर का या परज्ञेयों का कुछ भी नहीं है।

अब इसी भगवान आत्मा के अनेकान्तात्मक स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले तीन छन्द आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७६
२. वही, पृष्ठ - ५७६-५७७

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥२७२

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥२७३॥

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतावद्भुतः॥२७४॥

(रोला)

अरे अमेचक कभी कभी यह मेचक दिखता।
कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है॥
अनंत शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी।
दृष्टिवंत को भ्रमित नहीं होने देता है॥२७२॥

एक ओर से एक स्वयं में सीमित अर ध्रुव।
अन्य ओर से नेक क्षणिक विस्तारमयी है॥
अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो।
जिसे देखकर चकित जगतजन ज्ञानी होते॥२७३॥

एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता।
अन्य ओर से भव-भव पीड़ित राग-द्वेषमय॥
तीन लोकमय भासित होता विविध नयों से।
अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो॥२७४॥

मेरे आत्मतत्त्व का ऐसा ही स्वभाव है कि कभी तो वह मेचक (अनेकाकार

-अशुद्ध) दिखाई देता है और कभी अमेचक (एकाकार-शुद्ध) दिखाई देता है तथा कभी मेचकामेचक (दोनोंरूप) दिखाई देता है; तथापि परस्पर सुग्रथित प्रगट अनंत शक्तियों के समूह रूप से स्फुरायमान वह मेरा आत्मतत्त्व निर्मल बुद्धिवालों के मन को विमोहित नहीं करता, भ्रमित नहीं करता।

अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि एक ओर से देखने पर अनेकता को प्राप्त है और एक ओर से देखने पर सदा ही एकता को धारण किये रहता है; एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदा उदयरूप होने से ध्रुव है; एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों में ही सीमित रहता है।

एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखने पर अनंत शान्ति दिखाई देती है। एक ओर से देखने पर भव की पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करते दिखाई देते हैं। एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं और एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। इसप्रकार आत्मा की अद्भुत से अद्भुत स्वभाव महिमा जयवंत वर्तती है।

उक्त कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

करम अवस्था मैं असुद्ध सौ विलोकियत,
करम कलंक सौं रहित सुद्ध अंग है।
उभै नै प्रवांन समकाल सुद्धासुद्ध रूप,
ऐसौ परजाइ धारी जीव नाना रंग है।
एक ही समैं मैं त्रिधारूप पै तथापि याकी,
अखंडित चेतना सकति सरवंग है।
यहै स्याद्वाद याकौ भेद स्यादवादी जानै,
मूरख न मानै जाकौ हियौ दृगभंग है॥

निहचै दरवद्रिष्टि दीजै तब एक रूप,
गुन परजाइ भेद भाव सौं बहुत है।
असंख्य परदेस संजुगत सत्ता परमान,
ग्यान की प्रभा सौं लोकालोक मानयुत है॥
परजै तरंगनि के अंग छिनभंगुर है,
चेतना सकति सौं अखंडित अचुत है।
सो है जीव जगत विनायक जगतसार,
जाकी मौज महिमा अपार अद्भुत है॥

विभाव सकति परनति सौं विकल दीसै,
सुद्ध चेतना विचारतैं सहज संत है।
करम संजोग सौं कहावै गति जोनि वासी,
निहचै सुरूप सदा मुकत महंत है॥
ज्ञायक सुभाउ धरै लोकालोक परगासी,
सत्ता परवांन सत्ता परगासवंत है।
सौ है जीव जानत जहान कौतुक महान,
जाकी कीरति कहानि अनादि अनंत है॥

यदि भावकर्मरूप अवस्था की ओर से देखें तो भगवान आत्मा अशुद्ध दिखाई देता है और कर्मकलंक से रहित देखने पर शुद्ध दिखाई देता है। यदि दोनों नयों से एकसाथ देखें अर्थात् प्रमाणदृष्टि से देखें तो शुद्धाशुद्ध दिखाई देता है। इसप्रकार संसारपर्याय से मुक्तजीव अनेकरूप से दिखाई देता है।

यद्यपि यह एक ही समय में शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध – इसप्रकार तीनरूप दिखाई देता है; तथापि इसकी चेतनाशक्ति सर्वांग अखण्डित है। यह सब स्याद्वाददृष्टि का कमाल है और इसके रहस्य को स्याद्वादी ही जानते हैं। जिन मूर्खों का हृदय स्याद्वाद की दृष्टि से रहित है वे मूर्ख लोग इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते।

यदि निश्चय द्रव्यदृष्टि से देखें तो एक दिखाई देता है और गुण-पर्याय संबंधी भेद की व्यवहारदृष्टि से देखने पर अनेक है। स्वरूपसत्ता की दृष्टि से असंख्यातप्रदेशी आत्मगत है और ज्ञान के आलोक की दृष्टि से लोकालोक को जाननेवाला होने से लोकालोक प्रमाण सर्वगत है। पर्यायों की तरंगों की ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और अखण्डित चेतना की दृष्टि से देखने पर अच्युतध्रुव है। इसप्रकार यह जीव जगतशिरोमणि है और जगत में सारभूत परमपदार्थ है। इसके आनन्द की महिमा अपार है, अद्‌भुत है।

विभावशक्ति के कषायरूप परिणमन से दुखी दिखाई देता है और शुद्धचेतना की दृष्टि से विचार करने पर स्वाभाविकरूप शान्त पदार्थ है। कर्मसंयोग की ओर से देखने पर चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में रहनेवाला, परिभ्रमण करनेवाला है और निश्चय से विचार करने पर सदा ही मुक्त है, महान है। ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि डालने से लोकालोकप्रकाशक है और उसके अस्तित्व पर ध्यान दो सत्ता प्रमाण प्रकाशवान है।

इसप्रकार का यह आत्मा सारे जगत को जानता है और इसका कौतुक भी महान है और इसकी यशोगाथा अनादि-अनंत है।

उक्त कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सम्यग्ज्ञानी को चारित्रगुण की एक ही समय की पर्याय के निर्मल एवं मलिन – (आंशिक निर्मलता व आंशिक मलिनता) ऐसे दो भाग दिखाई देते हैं। एक समय में दो धारायें हैं न ? ज्ञानी को जैसा शुद्धता का ज्ञान है, उसीसमय वैसी ही जो अशुद्धता-मलिनता है, उसका भी ज्ञान है, वह भी जानने में आती है।[1]

निर्मलपर्याय व मलिनपर्याय – दोनों परस्पर में अच्छी तरह गुंथी हुई हैं, एकमेक जैसी हो रही हैं। चौदहवें गुणस्थान तक जो असिद्धत्वभाव कहा है, वह भी संसार है। नीचे समकिती की (चौथे गुणस्थान की) पर्याय

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७९

में जितने अंश में स्वभाव की दृष्टि व स्थिरता हुई, उतनी निर्मलता तथा जितना राग है, उतनी मलिनता – ये दोनों सुग्रंथित हैं।

जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है – ऐसे समकिती जीव को आत्मतत्त्व की ऐसी विचित्रता – निर्मलता व मलिनता दोनों साथ में दिखती हुई भी उसके मन को विमोहित नहीं करती। धर्मी जीव मिथ्याभाव को प्राप्त नहीं होता।[१]

एक पर्याय में जितना मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उतना आनन्द का भाग तथा जितना राग है, उतना दु:ख का भाग – दोनों ही वस्तुस्थिति है – ऐसा धर्मी बराबर जानता है।[२]

धर्मी को उसकी निर्मलप्रतीति एवं अनुभव होने पर उसको पर्याय में आंशिक विकार का और आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द एवं शान्ति का वेदन होता है।[३]

इसमें कोई विरोध नहीं है। दोनों को ज्ञानी एकसाथ जानता है। धर्मी को शुद्धता के साथ किंचित् राग का वेदन होता है, विरुद्धभाव भी साथ में रह सकता है। देखो, तीर्थंकरों को जन्म से क्षायिक समकित होता है। आठ वर्ष की उम्र में स्वभाव के विशेष आलम्बनपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं। उनमें अनेक तीर्थंकर चक्रवर्ती भी होते हैं। उनके ९६ हजार रानियाँ और उन संबंधी भोगोपभोग भी होता है; किन्तु उन्हें यद्यपि उन भोगों में सुखबुद्धि नहीं होती; तथापि भोगों की आसक्ति का परिणाम तो होता ही है। इस आसक्ति के परिणाम को वे दु:खरूप मानते हैं तथा जितनी शुद्धता प्रगट है, उतना शान्ति का वेदन होता है, उसे सुखरूप जानते हैं। वे दोनों को एकसाथ जानते हैं। छठवें गुणस्थान में मुनिवरों को जो शुभभाव

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५७९
२. वही, पृष्ठ - ५७९-५८०
३. वही, पृष्ठ - ५८०

होता है, वे उसे दु:खरूप जानते हैं तथा आत्मा के आश्रय से जितनी निर्मलता प्रगट हुई है, उतना उन्हें आनन्द का वेदन होता है। साधक इन दोनों स्थितियों को एकसाथ जानते हैं। साधकदशा ऐसी ही होती है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि को एकान्त अशुद्धता का वेदन होता है, भगवान केवली को एकान्त शुद्धता का, आनन्द का वेदन होता है और साधक अवस्था में आंशिक आनन्द एवं आंशिक दु:ख – दोनों का वेदन होता है।[१]

परमात्मपुराण में दर्शन व ज्ञान को अद्भुत रस कहा है। वहाँ कहा है कि आत्मा की एक समय की दर्शन और ज्ञान – इन दोनों पर्यायों में से एक दर्शनोपयोग की पर्याय लोकालोक को, सम्पूर्ण सत् को अभेदरूप से देखती है। उसमें यह जीव है और यह अजीव है – ऐसा भेद नहीं है और तो ठीक है, 'यह है' ऐसा भेद भी नहीं है, जबकि दूसरी एकसमय की ज्ञानपर्याय सबको भिन्न-भिन्न करके जानती है। इसप्रकार जिस समय दर्शन की पर्याय सबको भिन्न किए बिना ही देखती है, उसीसमय ज्ञान की पर्याय सबको भिन्न-भिन्न करके जानती है। यही आत्मा का एक सहज अद्भुत रस है।[२]

एक ओर पर्यायदृष्टि से अनेक को देखने की दृष्टि से देखें तो पर्याय में अनेकता दिखाई देती है अर्थात् अनन्त पर्यायें दिखती हैं; क्योंकि अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें हैं। दूसरी ओर से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से, वस्तु की दृष्टि से देखें तो आत्मा एकरूप दिखाई देता है तथा आत्मा सदैव एकता को धारण करता है – ऐसा भी कहा है।[३]

एक तरफ से स्वयं स्वयं से क्षणभंगुर है, क्षण-क्षण में नाश होनेवाली वस्तु है – ऐसा दिखता है। देखो, आत्मा को पर के कारण क्षणभंगुर नहीं कहा, अनित्य नहीं कहा 'पर्याय क्रमश: होती है' इस अपेक्षा से आत्मा

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५८०
२. वही, पृष्ठ - ५८२
३. वही, पृष्ठ - ५८२-५८३

को क्षणभंगुर कहा है और इसे अपना ही वैभव कहा है।

एक तरफ से देखने पर तीनों काल आत्मा का उदय होने से ध्रुव कहा है। पर्याय बदलती रहती है; परन्तु ध्रुव नहीं बदलता – ऐसा ही आत्मद्रव्य का स्वभाव है।

इसप्रकार पर्याय में अनेकता व क्षणभंगुरता तथा द्रव्य में एकता और ध्रुवता है – ऐसा वर्णन किया। अब तीसरे बोल में क्षेत्र से वर्णनकरते हैं।

एक तरफ से देखने पर 'परम विस्तृत' है अर्थात् एक तरफ से देखने पर आत्मा एक समय में लोकालोक को जानता है, इससे उसका ज्ञान सर्वगत हो जाता है, तीन लोक में व्याप्त हो जाता है और तीन लोक में व्याप्त हो जाने से विशाल दिखता है। आत्मा अभी भी ऐसा है, जबकि यहाँ तो सभी साधक जीव की बात है। साधक जीव की भी एकसमय की ज्ञानपर्याय लोकालोक को, छह द्रव्यों को जानती है; इसलिए एक ओर से जानें-देखें तो ऐसा जानते हैं कि – जानने की अपेक्षा से आत्मा के क्षेत्र का इतना विस्तार है।[१]

आत्मा को द्रव्य की ही अपेक्षा से देखें तो आत्मा ने मात्र अपने क्षेत्र को धारण किया है, अपने क्षेत्र में रहता है, परवस्तु को, अपने प्रदेशों में धारण नहीं किया है।

देखो, इसप्रकार पर्याय के दो बोल कहे हैं – १. पर्याय में अनेकता है २. पर्याय क्षणभंगुर है तथा क्षेत्र के भी दो बोल कहे हैं – १. सर्वगत है २. अनादि से वह अपने प्रदेश में ही है। इसप्रकार आत्मा का सहज अद्भुत वैभव है।[२]

यहाँ प्रश्न है कि पर्याय के पहले बोल में 'पर्यायदृष्टि से देखने पर' ऐसा कहा था और तत्काल बाद दूसरे बोल में 'क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर'

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५८३
२. वही, पृष्ठ - ५८३-५८४

यह कहा – सो इन दोनों कथनों में क्या अन्तर है ?

समाधान – भाई ! दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि को ही दूसरी दृष्टि से देखने की बात है। पहले बोल में अनेकता की बात कही है और दूसरे बोल में क्षणभंगुरता की बात की है। क्षणभंगुर कहकर शरीर, स्त्री-पुत्र आदि के संयोग संध्या की लालिमा की भांति क्षणभर में वियोग में बदलनेवाले हैं, विनष्ट होनेवाले हैं – ऐसा बताया है।।

'सहभावी गुणों की दृष्टि से देखने पर ध्रुव से दिखते हैं – देखो, पहले बोल में पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि की बात कही थी और यहाँ दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि व गुणदृष्टि की बात कह रहे थे। इसकारण इन दोनों बोलों में अन्तर है।

पहले बोल में पर्यायदृष्टि से अनेकपना और द्रव्यदृष्टि से एकपना दिखाया – ऐसा कहा था। जबकि यहाँ दूसरे बोल में पर्यायदृष्टि अवश्य ली; किन्तु क्रम-क्रम से होती हुई पर्यायदृष्टि ली है तथा क्रमभावी पर्यायदृष्टि को अक्रमभावी (सहभावी) गुणदृष्टि से देखने की बात भी इस दूसरे बोल में कही है।[१]

पहले बोल में पर्यायदृष्टि के सामने द्रव्यदृष्टि की बात की थी और इस दूसरे बोले में पर्यायदृष्टि के सामने गुणदृष्टि की बात की है।[२]

जब पर्याय की ओर दे देखते हैं तो आत्मा में कषाय की आकुलता एवं क्लेश ही क्लेश दिखाई देता है और द्रव्य की दृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा शान्ति का पिण्ड दिखाई देता है। निज अकषायस्वभाव की दृष्टि से देखने पर प्रभु आत्मा शान्ति का पिण्ड है – ऐसा दिखाई देता है। स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि भी कषाय के अभावरूप शान्तभावमय है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५८५
२. वही, पृष्ठ - ५८५
३. वही, पृष्ठ - ५८८

साधकदशा में धर्मी को एक ओर भव दिखाई देता है तो दूसरी ओर मुक्ति दिखाई देती है। एक ओर गति दिखती है तो दूसरी ओर गतिरहित स्वभाव दिखाई देता है।[१]

एक समय की कलुषता-बाधकभाव स्वयं से है, कोई अन्य से बाधित नहीं होता तथा एक समय की शुद्धता-साधकभाव भी स्वयं से है, असहाय है, किसी से बाधित नहीं होता। निज स्वभाव की महिमा ऐसी अद्भुत और गंभीर है।[२]''

इसप्रकार इन कलशों में आत्मा के अनेकान्त स्वभाव का दिग्दर्शन किया गया है। अनेक नयों से वह अनेकप्रकार का दिखाई देते हुए भी जब हम उसे नयातीत दृष्टि से देखते हैं या अनुभव करते हैं तो वह शुद्ध-बुद्ध-निरंजन-निराकार ही दिखाई देता है, सर्वज्ञस्वभावी होकर भी आत्मस्थ ही दिखाई देता है।

चूँकि अब आत्मख्याति और उसका परिशिष्ट भी समापन की ओर है – इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रदेव अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार एक बार फिर स्याद्वाद की शुद्धि के लिए संक्षेप में आत्मवस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप स्पष्ट कर रह हैं।

परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली जितनी विशेषताओं का उल्लेख उक्त छन्दों में हुआ है; उन सभी का स्पष्टीकरण स्वामीजी के विवेचन में हो गया है। अत: अब उन्हें स्पष्ट करने के लिए कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है। मूल छन्दों में तो मात्र इतना ही कहा गया था कि एक ओर से देखने पर...; परन्तु स्वामीजी ने सभी अपेक्षाओं को विस्तार से स्पष्ट कर दिया है।

अब अन्त में आचार्यदेव आशीर्वादात्मक कलशों के माध्यम से आत्मज्योति के जयवंत वर्तने की मंगल कामना कर रहे हैं –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५८८
२. वही, पृष्ठ - ५८९

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः॥२७५॥

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम्॥२७६॥

(सोरठा)

झलकें तीनो लोक सहज तेज के पुंज में।
यद्यपि एक स्वरूप तदपी भेद दिखाई दें॥
सहज तत्त्व उपलब्धि निजरस के विस्तार से।
नियत ज्योति चैतन्य चमत्कार जयवंत है॥२७५॥

(दोहा)

मोह रहित निर्मल सदा अप्रतिपक्षी एक।
अचल चेतनारूप में मग्न रहे स्वयमेव॥
परिपूरण आनन्दमय अर अद्भुत उद्योत।
सदा उदित चहुँ ओर से अमृचन्द्रज्योति॥२७६॥

सहज तेजपुंज आत्मा में त्रिलोक के सभी पदार्थ मग्न हो जाते हैं; इसकारण अनेकाकार दिखाई देते हुए भी जो आत्मा एकरूप ही है; तथा जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अछिन्न तत्त्वोलब्धि है और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है – ऐसा यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्काररूप भगवान आत्मा जयवंत वर्तता है।

जो अचल चेतनास्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है, जिसने मोह का नाश किया है; जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी

कर्मों से रहित है, जो निर्मल और पूर्ण है; ऐसी यह उदय को प्राप्त अमृतचन्द्र ज्योति, अमृतमयचन्द्रमा के समान ज्ञानज्योति, आत्मज्योति सब ओर से जलती रहे, प्रकाशित रहे।

प्रथम कलश में लोकालोक को जानकर भी स्वयं में सीमित रहनेवाले आत्मा के जयवन्त वर्तने की बात की है तो दूसरे छन्द में अमृतमय चन्द्रमा के समान केवलज्ञानज्योति के निरन्तर प्रकाशित करने की प्रार्थना की गइ है।

दूसरे छन्द में सहज ही आचार्य अमृतचन्द्र के नाम का भी उल्लेख हो गया है। हो सकता है आचार्यदेव ने यह प्रयोग बुद्धिपूर्वक किया हो।

इन कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

पंच परकार ग्यानावरन कौ नास करि,
प्रगटी प्रसिद्ध जग मांहि जगमगी है।
ज्ञायक प्रभा मैं नाना ज्ञेय की अवस्था धरि,
अनेक भई पै एकता के रस पगी है॥
याही भांति रहेगी अनंत काल परजंत,
अनंत सकति फोरि अनंत सौं लगी है।
नरदेह देवल मैं केवल सरूप सुद्ध,
ऐसी ग्यानज्योति की सिखा समाधि जगी है॥

अच्छर अरथ मैं मगन रहै सदा काल,
महासुख दैवा जैसी सेवा कामगवि की।
अमल अबाधित अलख गुन गावना है,
पावना परमसुद्ध भावना है भवि की॥
मिथ्यात तिमिर अपहारा वर्धमान धारा,
जैसी उभै जामलौं किरण दीपैं रवि की।

ऐसी है अमृतचन्द्र कला त्रिधारूप धरै,
अनुभौ दसा गरंथ टीका बुद्धि कवि की॥

अरहंत अवस्था में प्रगट हुई केवलज्ञान ज्योति पाँचप्रकार के ज्ञानावरणी कर्म का नाश करके प्रगट होती हुई, प्रसिद्ध होती हुई इस जगत में जगमगा रही है। ज्ञायक स्वभाव की प्रभा में अनेकप्रकार के ज्ञेयों की अवस्थायें धारण करके जो अनेकरूप हुई है; फिर भी जो एकता के रस में पगी हुई है और अनंतकाल तक इसीप्रकार रहेगी।

अपने भीतर अनंत शक्ति स्फुरायमान करके जो अनंत गुणात्मक आत्मा में लग गई है, लीन हो गई है; केवल शुद्ध स्वरूपी उस केवलज्ञानज्योति की शिखारूप समाधि जाग्रत होकर मनुष्य देह रूप मंदिर में जगमगा रही है।

मनुष्य देहरूप मंदिर में जगमगा रही है – इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह चर्चा अरहंत अवस्था की है।

अक्षरों और अर्थ में सदा मग्न रहनेवाली, कामधेनु गाय की सेवा के समान महासुख देनेवाली, अमल अबाधित अलख आत्मा के गुण गानेवाली, भव्यों को परमशुद्ध भावना को प्राप्त करानेवाली, मिथ्यात्वरूपी अंधकार का अपहरण करनेवाली आचार्य अमृतचन्द्र की यह गद्य-पद्यात्मक काव्यकला उसीप्रकार निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो कि जिसप्रकार सूर्य कि किरणें दिन के पूर्वार्द्ध में निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र की यह आत्मख्यातिरूप कला अनुभवदशा, ग्रन्थ की टीका और कवि की बुद्धि – इन तीन रूपों को धारण कर शोभायमान हो रही है।

उक्त छन्दों के भावानुवाद में कविवर बनारसीदासजी आचार्य अमृतचन्द्र से बंध कर नहीं चले हैं। वे प्रथम छन्द में केवलज्ञानज्योति को याद करते हैं और दूसरे छन्द में आचार्य अमृतचन्द्र की कला के गीत गाते हैं; उनकी अनुभवदशा के गीत गाते हैं, आत्मख्याति टीका के गीत गाते हैं और

आचार्यदेव की पैनी पकड़वाली बुद्धि पर रीझते दिखाई देते हैं।

उक्त कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अनेक को जानता हुआ भी ज्ञान एकरूप ही रहता है। लोकालोक को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय ज्ञानरूप ही रहती है; क्योंकि वह आत्मा की स्वयं की है। उसमें परज्ञेयों का प्रवेश नहीं हुआ है।[१]

जिस भगवान आत्मा ने अपने एक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और रमणता की, पूर्णता प्राप्त कर ली; वह पुन: नीचे नहीं गिरता और साधकदशा को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि सिद्धपद कभी छिदता नहीं है, वह तो अक्षय-अनन्त ही होता है।

केवलज्ञान ज्योति अनन्तवीर्य से सदा निष्कम्प एकरूप रहती है। अहा! ऐसा यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्य चमत्कार वर्तता है। जहाँ केवलज्ञानादि सदा निष्कम्प वर्तते हैं – ऐसा चैतन्य चमत्कार प्रभु तू है।[२]

देखो, यहाँ अन्त मंगल में आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मा को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि वह स्वयं ही स्वयं को स्वयं से ही अन्तर्मग्न रखता है।[३]

शास्त्रों में मंगलाचरण तीन बार आता है – १. आदि मंगल २. मध्य मंगल ३. अन्त मंगल। कलश १२२ में मध्य मंगल आ गया है। वहाँ कहा है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्याग से कर्मबन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध ही होता है। यह शास्त्र का निचोड़ है।[४]

ऐसी उदय को प्राप्त अमृतमय चन्द्रसमान ज्ञानज्योति सर्व ओर से जाज्वल्यमान रहो। ऐसा स्वयं ही स्वयं को आशीर्वाद दिया है।[५]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५६०
२. वही, पृष्ठ - ५६१
३. वही, पृष्ठ - ५६३
४. वही, पृष्ठ - ५६३
५. वही, पृष्ठ - ५६४

स्वामीजी उक्त छन्दों को अन्तमंगल के रूप में देखते हैं और शुद्धनय की महिमा बतानेवाले १२२ वें कलश के मध्यमंगल के रूप में देखते हैं।

अब आचार्यदेव एक छन्द में इस बात की चर्चा करते हैं कि वे स्वयं अथवा कोई भी ज्ञानी जीव अनादि से कैसा था और आत्मानुभूति होने पर कैसा हो जाता है –

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल॥२७७॥

(हरिगीत)

गतकाल में अज्ञान स एकत्व पर से जब हुआ।
फलरूप में रस-राग अर कर्तृत्व पर में तब हुआ॥
उस क्रियाफल को भोगती अनुभूति मैली हो गई।
किन्तु अब सद्ज्ञान से सब मलिनता लय हो गई॥२७७॥

पहले जिस अज्ञान से स्व और पर का द्वैत हुआ अर्थात् स्व और पर में मिश्रितपने का भाव हुआ; इसकारण स्वरूप में अन्तर पड़ गया अर्थात् संयोगरूप बंधपर्याय ही निजरूप भासित होने लगी और राग-द्वेष उत्पन्न होने लगे तथा कर्तृत्वादि भाव जाग्रत हो गये, कारकों का भेद पड़ गया। कारकों के भेद उत्पन्न होने पर क्रिया के समस्त फलों को भोगती हुई अनुभूति मैली हो गई, खिन्न हो गई।

अब वही अज्ञान ज्ञानरूप में परिणत हो गया, आत्मानुभूति सम्पन्न हो गया और अज्ञान के कारण जो कुछ भी उत्पन्न हो रहा था, अब वह वस्तुतः कुछ भी नहीं रहा।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार करते ह–

(सवैया इकतीसा)

जौ मैं आपा छांड़ि दीनौ पररूप गहि लीनौ,
कीनौ न बसेरौ तहां जहां मैरौ थल है।
भोगनि कौ भोगी ह्वै करम कौ करता भयौ,
हिरदै हमारे राग द्वेष मोह मल है॥
ऐसी विपरीत चाल भई जो अतीत काल,
सो तो मेरे क्रिया की ममता ही कौ फल है।
ग्यानदृष्टि भासी भयौ क्रिया सौं उदासी वह,
मिथ्या मोह निद्रा मैं सुपन को सौ छल है॥

मैंने अपने में से अपनापन छोड़कर परपदार्थों में अपनापन स्थापित कर लिया। मेरे रहने का स्थान तो अपना आत्मा ही था; किन्तु मैं आत्मा में तो रहा नहीं और यहाँ-वहाँ भटकता फिरा। अधिक क्या कहूँ भोगों का भोक्ता बना, कर्मों का कर्त्ता बना और हमारे हृदय में मोह-राग-द्वेषरूपी मल प्रवाहित रहा।

अतीतकाल में हमारी जो इसप्रकार की विपरीतदशा रही; वह सब तो मेरी कर्तृत्वबुद्धि का ही फल था, शरीर की क्रिया में ममत्व का ही फल था।

अब ज्ञानदृष्टि भासित हो गई है, मेरी दृष्टि निर्मल हो गई है; इसकारण उक्त क्रियाओं से सहज उदासी हो गई है। अब लगता है कि यह सब जो आज तक हुआ, मोहनींद में आये सपनों जैसा ही था, छल ही था। मैं मोहनींद में स्वप्न से ही छला गया था।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''चाहे अज्ञान की क्षयोपशमदशा हो, चाहे सम्यग्ज्ञान की क्षयोपशम दशा हो, ये नष्ट होकर जल में तरंग की भांति द्रव्य में समा जाती है। भले राग की पर्याय हो या अज्ञान की पर्याय हो – वह सत् है और उसका व्यय होकर वह अन्दर द्रव्य में योग्यतारूप से विलीन हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो सत् का अभाव हो जायेगा और सत् का अभाव होने पर अन्दर में योग्यता ही

नहीं रहेगी।

यहाँ तो कहते हैं कि वह अज्ञान अब विज्ञानघन के समूह में मग्न हो गया अर्थात् अज्ञान का व्यय होकर सम्यग्ज्ञान हो गया। पहले जो अज्ञानदृष्टि थी, विपरीत दृष्टि थी, पर्यायदृष्टि थी; वह पलटकर अब द्रव्यदृष्टि हो गई। 'मैं विज्ञानघन परमप्रभु हूँ' – ऐसा दृष्टि एवं ज्ञान का परिणमन हो गया।

परिणमन हुआ है, विकल्प नहीं। जबतक विकल्प रहते हैं, तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त कलश में आचार्यदेव अपनी विगत अवस्थाओं को याद करते हैं और उसकी तुलना अपनी आज की अवस्था से करते हैं।

आत्मख्याति टीका के आरंभ में भी मंगलाचरण के उपरान्त तीसरे कलश में आचार्यदेव ने एक भावना भायी थी कि इस समयसार ग्रन्थराज की टीका करने से मेरी अनुभवरूप परिणति की परमविशुद्धि हो।

अब अन्त में टीका की निर्विघ्न समाप्ति पर मानों वे कह रहे हैं कि मेरा काम हो गया है, जो भावना मैंने भायी थी; अब वह पूर्ण हो रही है।

अब सर्वान्त में टीका के कर्तृत्व के संबंध में वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं –

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः॥२७८॥

(हरिगीत)

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही तत्त्व प्रतिपादन करें।
त्यों समय की यह व्याख्या भी उन्हीं शब्दों ने करी॥
निजरूप में ही गुप्त अमृतचन्द्र श्री आचार्य का।
इस आत्मख्याति में अरे कुछ भी नहीं कर्तृत्व है॥२७८॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५९८

जिन शब्दों ने अपनी शक्ति से ही वस्तुतत्त्व का भलीभाँति प्रतिपादन किया है; उन शब्दों ने ही समयसार ग्रन्थाधिराज की यह आत्मख्याति नाम का व्याख्या (टीका) की है अथवा समयसाररूप आत्मा का व्याख्यान किया है। अपने स्वरूप में ही गुप्त सुस्थित आचार्य अमृतचन्द्र का इसमें कुछ भी कर्तव्य (कर्तृत्व) नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मख्याति टीका शब्दों द्वारा ही हुई है, आचार्य अमृतचन्द्र ने इसमें कुछ भी नहीं किया है।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह व्याख्या (टीका) मैंने की है, मुझसे हुई है – ऐसा नहीं है। मैं तो आत्मा हूँ, स्वरूपगुप्त हूँ, भाषा की क्रिया मेरी नहीं है। शब्दों को मैंने गूँथा भी नहीं है।[१]

देखो, आचार्यदेव कहते हैं वस्तुस्वरूप को यथार्थ कहनेवाले इस समयसार की टीका शब्दों से बनी है, मुझसे नहीं। शब्दों के गूंथने की क्रिया शब्दों से ही हुई है, मुझसे नहीं। स्व-पर को कहने की शक्ति शब्दों की स्वयं की है। यदि कोई यह कहता है कि शब्दों की रचना मैंने (आचार्य अमृतचन्द्र ने) की है तो यह उसकी मूढ़ता है। अरे भगवान ! मैंने तो शब्दों का स्पर्श ही नहीं किया और न शब्दों ने मुझे स्पर्श किया। जगत के अनंत पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, एक-दूसरे को छूते ही नहीं हैं तो फिर वे एक-दूसरे के कर्ता कैसे हो सकते हैं ?[२]

व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि समयसार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द हैं और उसके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र हैं, सो यह तो निमित्त का ज्ञान कराया गया है। वस्तुत: ग्रन्थ की रचना तो शब्दों के परमाणुओं से हुई है – ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान आचार्य अमृतचन्द्र ने कराया है। वस्तुत: तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का काम करता ही नहीं है, यह अकाट्य सिद्धान्त है। इसे जानने

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११, पृष्ठ - ५९९
२. वही, पृष्ठ -६०१

और मानने से ही सच्ची निरभिमानता आती है। माने तो ऐसा कि मैंने किया और कहे कि मैंने नहीं किया – इसमें निरभिमान रहना कैसे संभव है ?[१]

अहा ! आचार्यदेव कहते हैं कि मैं जीव हूँ, शब्द अजीव हैं, मैं चैतन्य का पिण्ड हूँ, शब्द जड़ हैं; मैं अमूर्तिक-अरूपी हूँ, शब्द मूर्तिक-रूपी हैं। मैं तो ज्ञानमात्र स्वभाव में गुप्त हूँ, मैं शब्दों में गया ही नहीं तो फिर मैं वाणी की रचना का कर्ता कैसे हो सकता हूँ ? इस वाणी की रचना में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है।[२]''

देखो, आचार्य अमृतचन्द्र ने यहाँ एक शब्द में अपना परिचय दिया है, एक उपाधि स्वयं ने स्वयं को दी है; वह है – स्वरूपगुप्त। वे अपने को स्वरूपगुप्त ही मानते हैं; स्वीकार करते हैं। इससे अधिक कुछ नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि यह तो उन्होंने अपनी निरभिमानता प्रगट की है; पर भाई ! यह मात्र निरभिमानता प्रगट करने की औपचारिकता मात्र नहीं है, अपितु वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन है।

यह उनके अन्तर की बात है; क्योंकि उनका अपनापन त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में ही है और वे अपना वास्तविक कार्य तो स्वरूप में गुप्त रहना ही मानते हैं। अत: वे अन्तर की गहराई से कह रहे हैं कि अरे भाई ! आत्मख्याति टीका स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का कार्य कैसे हो सकती है ? यह तो शब्दों का कार्य है। शब्दों में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की शक्ति है। इसमें स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का कोई कर्तृत्व नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि न सही उपादान, पर वे इसके निमित्तकर्त्ता हैं ही; पर भाई साहब ! स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र निमित्त भी नहीं है; क्योंकि निमित्त उनका राग है, विकल्प है, योग-उपयोग है और स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र में ये कुछ भी नहीं आते। वे तो अपने को इनसे भिन्न स्वरूपगुप्त त्रिकाली

१. प्रवचनरत्नाकर भाग -११,पृष्ठ -६०१-६०२
२. वही, पृष्ठ - ६०२

ध्रुव तत्त्व मानते हैं। अधिक से अधिक उन्हें उक्त योग और उपयोग का कर्त्ता भले कहा जाय, पर वे टीकारूप परद्रव्य के परिणमन के कर्त्ता तो हैं ही नहीं।

माला तो फूलों से बनती है, माली से नहीं; माला तो फूल ही बनाते हैं, माली नहीं। हाँ, माला के बनने में माली का योग और उपयोग निमित्त अवश्य होता है, कर्त्ता नहीं। यह बात अवश्य है कि माली माला के निर्माण संबंधी अपने योग और उपयोग का कर्त्ता है।

इसीप्रकार यदि यह टीका शब्दरूप फूलों की अतिव्यवस्थित माला ही है तो आचार्य अमृतचन्द्र अत्यन्त सुघड़ माली हैं। जिसप्रकार माली अपने योग और उपयोग का कर्त्ता है; उसीप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र भी अपने योग और उपयोग के कर्त्ता हो सकते हैं; पर वे रागमिश्रित उपयोग का कर्तृत्व स्वीकार करने को भी तैयार नहीं है; क्योंकि वे उसे अपना कर्तव्य नहीं मानते। वे शुद्धोपयोग क्रिया को ही एकमात्र कर्तव्यरूप में स्वीकार करते हैं।

प्रशस्ति के अन्तिम पद में भी वे अपनी पर्याय की प्रशस्ति नहीं करते हैं, अपने द्रव्यस्वभाव की प्रशस्ति ही करते हैं। प्रशस्ति के पद में भी वे उसी तत्त्व का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं कि जिसका उन्होंने सम्पूर्ण आत्मख्याति में किया है।

ऐसे भी अनेक धर्मात्मा ज्ञानी प्राप्त होते हैं; जो प्रशस्ति में निश्चय की बात करने के उपरान्त अपना व्यावहारिक परिचय भी देते हैं। वे कोई गलती करते हैं; ऐसा में नहीं मानता; क्योंकि इसके बिना इतिहास भी कैसे सुरक्षित रहेगा; पर मैं यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि व्यावहारिक परिचय के समय भी आचार्य अमृतचन्द्र ने नाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिखा; वह भी इस रूप में कि इस टीका में अमृतचन्द्र का कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यह बात कहने में सहजभाव से नाम आ गया है।

टीका के कर्त्ता बनना वे मोह में नाचना मानते हैं। जैसा कि प्रवचनसार के २१ वें कलश में लिखते हैं –

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।

आत्मा सहित विश्व व्याख्येय है, वाणी का गुंथन व्याख्या है और आचार्य अमृतचन्द्र व्याख्याता है – ऐसा मानकर हे भव्यजन मोह में मत नाचो।

निश्चयनय से टीका का कर्त्ता किसी व्यक्ति को कहना मोह में नाचना है, मिथ्या मान्यता है। यह बात उक्त पंक्तियों में अत्यन्त स्पष्ट है।

उक्त कथन को मात्र औपचारिक कथन न मानकर उसमें प्रतिपादित तत्त्व की गहराई जानना ही श्रेयस्कर है।

समयसार तो सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो गया था, अब यहाँ आत्मख्याति टीका भी समाप्त हो रही है। परिशिष्ट भी टीका का ही अंग है। वह समाप्त हो गया है। अत: अब हम समयसार अनुशीलन से यही विराम लेते हैं।

नाटक समयसार कलश टीका के आधार पर लिखा गया है; अत: कलशटीका के साथ उसे भी यहीं समाप्त हो जाना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं हुआ; क्योंकि नाटक समयसार में इसके बाद एक गुणस्थानाधिकार भी लिखा गया है; जो एक स्वतंत्रकृति है और मूलत: पठनीय है।

उसके लिखे जाने की भी एक कहानी है जो अपने आप में रोचक तो है ही, महत्त्वपूर्ण भी कम नहीं है। जैन साहित्य के इतिहास के खोजी विद्वान पण्डित नाथूरामजी प्रेमी अर्द्धकथानक की भूमिका में इस प्रसंग की चर्चा करते हैं; जो उन्हीं के शब्दों में इसप्रकार है –

''जब वे अपनी ससुराल खैराबाद में तीसरी बार (सं. १६८०) गये, तब वहाँ उन्हें अरथमलजी ढोर नाम के एक सज्जन मिले जो अध्यात्म की बातें जोर के साथ करते थे। उन्होंने समयसार कलशों की पण्डित राजमल्लकृत बालबोध-टीका लिखकर दी और कहा कि इसे पढ़िये, इससे सत्य क्या है,

सो समझ में आ जायेगा। तदनुसार पढ़ने लगे और उसके अर्थ पर प्रतिदिन विचार करने लगे। पर उससे अध्यात्म की असली गाँठ नहीं खुल सकी और वे बाह्य क्रियाओं को 'हेच' समझने लगे। 'करनी' या क्रिया –बाह्य आचार में तो कोई रस रहा नहीं और आत्मस्वाद या आत्मानुभव हुआ नहीं, इस तरह वे न धरती के रहे और न आसमान के।[1]

उन्होंने जप-तप सामायिक प्रतिक्रमण आदि छोड़ दिये और हरी-त्याग आदि की जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, वे भी तोड़ दीं। बिना आचार के बुद्धि बिगड़ गई। देव को चढ़ाया हुआ नैवेद्य तक खाने लगे। उन्हें अपने तीन साथियों – चन्द्रभान, उदयकरन और यानमल्ल के साथ 'जूतंफाग' खेलने में, एक दूसरे की सिर की पगड़ी छीनने और धींगामस्ती करने में आनन्द आने लगा। चारों जनें यह खेल खेलते थे और फिर अध्यात्म की बातें करते थे।

चारों नंगे हो जाते थे और कोठरी में घूमते हुए कहते थे – हम मुनिराज हो गये हैं, हमारे पास कोई परिग्रह नहीं रहा है। लोग समझाते थे, पर किसी की बात नहीं सुनी जाती थी।

तब श्रावक और जती (श्वे. साधु) बनारसीदासजी को खोसरामती कहने लगे। चूँकि वे पण्डितरूप से विख्यात थे; इसलिए उन्हीं की निन्दा अधिक होती थी, दूसरों की नहीं।

कुछ समय में यह धूमधाम तो मिट गई पर कुछ और ही अवस्था हो गई। जिन प्रतिमा की मन में निन्दा करने लगे और मुँह से कहने लगे जो नहीं कहना चाहिए। गुरु के सम्मुख जाकर व्रत ले लेते थे और फिर आकर छोड़ देते थे। रात-दिन का विचार न करके पशु की तरह खाते थे और एकान्त मिथ्यात्व में मत्त रहते थे।

बनारसीदासजी की यह अवस्था सं. १६९२ तक रही और तब तक वे

१. करनी कौ रस मिटि गयौ, भयौ न आतमस्वाद।
भई बनारसि की दसा, जथा ऊंट कौ पाद॥

नियत-रस-पान करते रहे अर्थात् केवल निश्चय नय को पकड़े हुए जीवन बिताते रहे।

इसके बाद सं. १६९२ के लगभग पाण्डे रूपचन्द नाम के एक गुनी कहीं बाहर से आगरे आये और तिहुना साहुने जो देहरा (मन्दिर) बनवाया था, उसमें आकर ठहरे। उनके पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर सब अध्यात्मी जाकर मिले और उनसे गोम्मटसार ग्रन्थ पढ़वाया।

उसमें गुणस्थानों के अनुसार ज्ञान और क्रिया (चारित्र) का विचार किया गया है। जो जीव जिस गुणस्थान में होता है, उसी के अनुसार उसका चारित्र होता है। उन्होंने भीतरी निश्चय और बाहरी व्यवहार का भिन्न-भिन्न विवरण दिया, सब बातों को सबप्रकार से समझा दिया और तब फिर अपने साथियों के साथ बनारसीदासजी को भी कोई संशय नहीं रह गया। वे अब स्याद्वादपरिणति में परिणत होकर दूसरे ही हो गये।

तब बनारसी औरै भयौ, स्यादवादपरनति परनयौ।''

उक्त ऐतिहासिक तथ्य से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि गुणस्थान पद्धति के अनुसार भूमिका का ज्ञान हुए बिना समयसार का मक्खन पचाया नहीं जा सकता। कविवर बनारसीदासजी इस बात के भुक्तभोगी थे। अत: उन्होंने नाटक समयसार के अन्त में गुणस्थान अधिकार लिखना आवश्यक समझा और लिखा भी।

इस अधिकार में किस गुणस्थान में कैसी अन्तर्बाह्य परिणति होती है – इस बात का सुन्दरतम विवेचन है। यह चरणानुयोगमिश्रित करणानुयोग का विवेचन है। इसके साथ-साथ इसमें संसार से विरक्त करनेवाले वैराग्य पोषक अनेक छन्द हैं; जिनको पढ़कर सांसारिक विषयभोगों की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।

यद्यपि समयसार की विषयवस्तु से हटकर होने से हम इसे अपने अनुशीलन में शामिल नहीं कर रहे; तथापि अध्यात्मप्रेमी पाठकों से विनम्र

अनुरोध करते हैं कि आप इस गुणस्थानाधिकार का स्वाध्याय अवश्य करें।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि जब ग्रन्थराज समयसार इतना खतरनाक है कि उसके अध्ययन से बनारसीदासजी जैसे विद्वान भी पथभ्रष्ट हो गये थे तो हम इसका स्वाध्याय करे ही क्यों ? ऐसा खतरा मोल ही क्यों लें ?

अरे भाई ! यह समयसार या समयसार के अध्ययन का दोष नहीं है; यह तो समयसार संबंधी अधूरे ज्ञान का दोष है। यदि हम सभी अपेक्षाओं को समझते हुए सावधानी से अध्ययन करें तो लाभ ही होगा, कोई खतरा नहीं है।

अरे भाई ! खतरा तो बनारसीदास जैसे इक्के-दुक्के को ही होता है; लाभ तो अनेकों को मिलता है।

यदि कोई कहे कि इक्के-दुक्के को ही सही खतरा तो होता है। अत: इससे दूर रहना ही ठीक है।

उससे कहते हैं कि मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो इसी में है, दृष्टि के विषयभूत आत्मा का स्वरूप तो इसी में बताया गया है। जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है; जिसे निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने-रमने का नाम सम्यग्चारित्र है, जिसके ध्यान करने का नाम सम्यक्चारित्र है; उस भगवान आत्मा का स्वरूप जितना स्पष्ट इसमें प्राप्त होता है, अन्यत्र उसके दर्शन दुर्लभ ही हैं।

अत: सावधानीपूर्वक इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

अरे भाई ! इसके स्वाध्याय के निषेध से तो मूल मोक्षमार्ग का निषेध हो जायेगा। कदाचित् एकाध को खतरा हो गया हो तो उसके बहाने इसके स्वाध्याय का निषेध करना तो महापाप का कार्य है।

ऐसा खतरा तो भोजन करने में भी है, दवा खाने में भी है; क्योंकि ऋतु के प्रतिकूल भोजन भी तो हानि कर सकता है, किसी को कोई दवा एलर्जी भी तो कर सकती है। ऐसी स्थिति में भोजन करने या दवा खाने का निषेध

तो नहीं किया जा सकता। हाँ, सावधानीपूर्वक ऋतु के अनुकूल भोजन करने और परीक्षण करके दवा के सेवन की बात अवश्य कही जा सकती है। चेतावनी अवश्य दी जा सकती है; पर भोजन करने या दवा खाने का निषेध नहीं किया जा सकता है; क्योंकि भोजन करने और दवाखाने से अधिक खतरा भोजन न करने और दवा नहीं खाने में है।

इसीप्रकार समयसार में यथास्थान सर्वत्र स्वच्छन्द हो जाने के प्रति सावधान तो किया ही गया है; अत: इसप्रकार के खतरे की कल्पना करके इसके स्वाध्याय से स्वयं को वंचित रखना और दूसरों को भी इसके नहीं पढ़ने के लिए कहना अपराध ही है। हाँ, सावधान रहना और सावधान करना अच्छी बात है; पर स्वाध्याय की प्रेरणा के साथ ही ऐसा उचित है।

एक बात यह भी तो है कि बनारसीदासजी कुछ समय के लिए भले ही दिग्भ्रमित हो गये हों; आखिर में तो समयसार को जानकर आत्मकल्याण के मार्ग में ही लग गये थे।

कल्पना कीजिए कि यदि वे समयसार का स्वाध्याय ही न करते तो क्या होता ? यही न कि जैसे अनादिकाल से अज्ञानी थे, विषय-कषाय में मग्न थे, धंधे-व्यापार में उलझे रहते थे या श्रृंगाररस की कवितायें लिखा करते थे; वैसे ही आगे भी रहते और यों ही जीवन की समाप्ति पर चारगति और चौरासी लाख योनियों के अनन्त संसार में डूब जाते।

आखिर कल्याण के मार्ग में तो वे समयसार के स्वाध्याय से ही लगे। अत: उनके जीवन से प्रेरणा लेकर समयसार के स्वाध्याय में पूरी शक्ति और सावधानी से लग जाना चाहिए और लोगों को भी तदर्थ प्रेरणा देनी चाहिए। भ्रष्ट हो जाने का बहाना बनाकर समयसार के स्वाध्याय से विरत होना समझदारी का काम नहीं है।

आज से लगभग दस साल पहले समयसार अनुशीलन लिखने का महान कार्य आरंभ किया था। आज उसके निर्विघ्न सम्पन्न हो जाने से मेरे

हृदय में महान हर्ष है। फरवरी १९९२ में आरंभ किया गया यह कार्य आज ३ मई २००२ को सानन्द सम्पन्न हुआ है। इसप्रकार १० वर्ष और ३ माह में इस समयसार अनुशीलन के २१३५ पृष्ठ लिखे गये हैं।

यद्यपि बीच-बीच में छोटे-मोटे और भी लेखन कार्य चलते रहे हैं; तथापि अधिकतम समय इस ग्रंथराज के अनुशीलन में ही गया है।

इस अनुशीलन से अन्य आत्मार्थीजनों को जो लाभ होगा; उसे तो वे जानेंगे या केवली भगवान जानते हैं; किन्तु इस कार्य के करने में जो आशातीत लाभ मुझे मिला है; वह कल्पनातीत है। न केवल परिणामों की विशुद्धि संबंधी लाभ, अपितु अध्यात्म की गहराईयों में जाने और विवादस्थ विषयों के सन्दर्भ में जो निष्पक्ष, स्पष्ट और सुदृढ़ समझ विकसित हुई है, निर्भ्रान्तदशा प्रगट हुई है; उसे मैं गहराई से अनुभव करता हूँ। यही कारण है कि अब प्रवचनसार अनुशीलन लिखने का विकल्प संकल्प में बदल रहा है।

इस परमाध्यात्मज्ञान के इस युग के मूल प्रतिपादक भगवान महावीर, ग्रन्थराज समयसार के लेखक आचार्य कुन्दकुन्द, आत्मख्याति टीका के कर्त्ता आचार्य अमृतचन्द्र और तात्पर्यवृत्ति टीका के कर्त्ता आचार्य जयसेन को अत्यन्त भक्तिभाव से नमन करता हुआ कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी, नाटक समयसार के लेखक कविवर बनारसीदासजी एवं समयसार के भाषाटीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का स्मरण करते हुए अन्त में जिन्होंने मुझे न केवल तत्त्व समझने की दृष्टि प्रदान की, अपितु समयसार की गहराईयों में उतारा तथा जिनके प्रवचनरत्नाकर से इस लेखन में अत्यधिक लाभ मिला है; उन आध्यात्मिकसत्पुरुष मेरे प्रत्यक्ष गुरु श्री कानजी स्वामी को वंदन करता हुआ इस महान कार्य से विराम लेता हूँ।

ॐ शान्ति, शान्ति; शान्ति।

समयसार पद्यानुवाद

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

(हरिगीत)

गुणोत्पादन द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य नहीं करे।
क्योंकि सब ही द्रव्य निज-निज भाव से उत्पन्न हों ।।३७२।।
स्तवन निन्दा रूप परिणत पुद्गलों को श्रवण कर।
मुझको कहे - यह मान तोष- रु-रोष अज्ञानी करें ।।३७३।।
शब्दत्व में परिणमित पुद्गल द्रव्य का गुण अन्य है।
इसलिए तुम से ना कहा तुष-रुष्ट होते अबुध क्यों ?।।३७४।।
शुभ या अशुभ ये शब्द तुझसे ना कहें कि हमें सुन।
अर आतमा भी कर्णगत शब्दों के पीछे ना भगे ।।३७५।।
शुभ या अशुभ यह रूप तुझसे ना कहे कि हमें लख।
यह आतमा भी चक्षुगत वर्णों के पीछे ना भगे ।।३७६।।
शुभ या अशुभ यह गंध तुम सूँघो मुझे यह ना कहे।
यह आतमा भी घ्राणगत गंधों के पीछे ना भगे ।।३७७।।
शुभ या अशुभ यह सरस रस यह ना कह कि हम चख।
यह आतमा भी जीभगत स्वादों के पीछे ना भगे ।।३७८।।
शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे ना कहें कि हमें छू।
यह आतमा भी कायगत स्पर्शों के पीछे ना भगे ।।३७९।।
शुभ या अशुभ गुण ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत सुगुणों के पीछे ना भगे ।।३८०।।

शुभ या अशुभ द्रव ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत द्रव्यों के पीछे ना भगे ।।३८१।।
यह जानकर भी मूढ़जन ना ग्रहें उपशमभाव को।
मंगलमती को ना ग्रहें पर के ग्रहण का मन करें।।३८२।।
शुभ-अशुभ कर्म अनेकविध हैं जो किए गतकाल में।
उनसे निवर्तन जो करे वह आतमा प्रतिक्रमण है।।३८३।।
बंधेंगे जिस भाव से शुभ-अशुभ कर्म भविष्य में।
उससे निवर्तन जो करे वह जीव प्रत्याख्यान है।।३८४।।
शुभ-अशुभ भाव अनेकविध हो रहे सम्प्रति काल में।
इस दोष का ज्ञाता रहे वह जीव है आलोचना।।३८५।।
जो करें नित प्रतिक्रमण एवं करें नित आलोचना।
जो करें प्रत्याख्यान नित चारित्र हैं वे आतमा।।३८६।।
जो कर्मफल को वेदते निजरूप मानें करमफल।
हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को।।३८७।।
जो कर्मफल को वेदते मानें करमफल मैं किया।
हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को।।३८८।।
जो कर्मफल को वेदते हों सुखी अथवा दुखी हों।
हैं बाँधते वे जीव दुख के बीज वसुविध करम को।।३८९।।
शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शास्त्र अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९०।।
शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शब्द अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९१।।
रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रूप अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।३९२।।

वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही वर्ण अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९३।।
गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही गंध अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९४।।
रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस भी कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रस अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९५।।
स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही स्पर्श अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९६।।
कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही कर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९७।।
धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही धर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९८।।
अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही अधर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।३९९।।
काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए हो काल अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।४००।।
आकाश ज्ञान नहीं ह क्योंकि आकाश कुछ जान नहीं।
बस इसलिए ही आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।४०१।।
अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वे अचेतन जिन कहे।
इसलिए अध्यवसान अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें ।।४०२।।
नित्य जाने जीव बस इसलिए ज्ञायकभाव है।
है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायकभाव से यह जानना ।।४०३।।
ज्ञान ही समदृष्टि संयम सूत्र पूर्वगतांग भी।
सद्धर्म और अधर्म दीक्षा ज्ञान हैं - यह बुध कहें ।।४०४।।

आहार पुद्गलमयी है बस इसलिए है मूर्तिक।
ना आहारक इसलिए ही यह अमूर्तिक आतमा ॥४०५॥
परद्रव्य का ना ग्रहण हो ना त्याग हो इस जीव के।
क्योंकि प्रायोगिक तथा वैस्रसिक स्वयं गुण जीव के ॥४०६॥
इसलिए यह शुद्धात्मा पर जीव और अजीव से।
कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता ॥४०७॥
ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
यह लिंग हो ह मुक्तिमग यह कहे कतिपय मूढजन ॥४०८॥
पर मुक्तिमग ना लिंग क्योंकि लिंग तज अरिहंत जिन।
निज आत्म अरु सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित का सेवन करें ॥४०९॥
बस इसलिए गृहिलिंग या मुनिलिंग ना मग मुक्ति का।
जिनवर कहें बस ज्ञान-दर्शन-चरित ही मग मुक्ति का ॥४१०॥
बस इसलिए अनगार या सागार लिंग को त्यागकर।
जुड़ जा स्वयं के ज्ञान-दर्शन-चरणमय शिवपंथ में ॥४११॥
मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर।
निज में ही नित्य विहार कर परद्रव्य में न विहार कर ॥४१२॥
ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
उनमें करें ममता, न जाने वे समय के सार को ॥४१३॥
व्यवहार से ये लिंग दोनों कहे मुक्तीमार्ग में।
परमार्थ से तो नहीं कोई लिंग मुक्तीमार्ग में ॥४१४॥
पढ़ समयप्राभृत ग्रंथ यह तत्त्वार्थ से जो जानकर।
निज अर्थ में एकाग्र हों वे परमसुख को प्राप्त हों ॥४१५॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

(रोला)

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आतम में।
उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है।
यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्त्ता।
यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ ॥२२०॥

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी॥
शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में।
अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे ॥२२१॥

जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित।
वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो॥
फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं।
न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं ॥२२२॥

राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से।
मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं॥
और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता।
को धारण कर निज में नित्य मगन रहते हैं ॥२२३॥

ज्ञानचेतना शुद्धज्ञान को करे प्रकाशित।
शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञानचेतना॥
और बंध की कर्त्ता यह अज्ञानचेतना।
यही जान चेतो आतम नित ज्ञानचेतना ॥२२४॥

भूत भविष्यत वर्तमान के सभी कर्म कृत।
कारित अर अनुमोदनादि मैं सभी ओर से॥

सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से।
अवलम्बन लेता हूँ परम निष्कर्मभाव का ॥२२५॥

मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो।
उन सबका हो प्रतिक्रमण करके अब मैं तो ॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२६॥

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो ॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२७॥

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं।
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो ॥
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२८॥

तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह।
परमशुद्ध निश्चयनय का अवलम्बन लेकर ॥
निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२९॥

कर्म वृक्ष के विषफल मेरे बिन भोगे ही।
खिर जायें बस यही भावना भाता हूँ मैं ॥
क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२३०॥

सब कर्मों के फल से सन्यासी होने से।
आतम से अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो ॥
चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ।
यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस अमित कालतक ॥२३१॥

(वसंततिलका)

रे पूर्वभावकृत कर्मजहरतरु के।
अज्ञानमय फल नहीं जो भोगत हैं॥
अर तृप्त हैं स्वयं में चिरकाल तक वे।
निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं॥२३२॥

रे कर्म कर्मफल से सन्यास लेकर।
सद्ज्ञान चेतना को निज में नचाओ॥
प्याला पियो नित प्रशमरस का निरंतर।
सुख में रहो अभी से चिरकालतक तुम॥२३३॥

(दोहा)

अपने में ही मगन है अचल अनाकुल ज्ञान।
यद्यपि जाने ज्ञेय को तदपि भिन्न ही जान॥२३४॥

(हरिगीत)

है अन्य द्रव्यों से पृथक् विरहित ग्रहण अर त्याग से।
यह ज्ञाननिधि निज में नियत वस्तुत्व को धारण किये॥
है आदि-अन्त विभाग विरहित स्फुरित आनन्दघन।
हो सहज महिमा प्रभाभास्वर शुद्ध अनुपम ज्ञानघन॥२३५॥

जिनने समेटा स्वयं ही सब शक्तियों का स्वयं में।
सब ओर से धारण किया हो स्वयं को ही स्वयं में॥
मानो उन्हीं ने त्यागने के योग्य जो वह तज दिया।
अर जो ग्रहण के योग्य वह सब भी उन्हीं ने पा लिया॥२३६॥

(सोरठा)

ज्ञानस्वभावी जीव परद्रव्यों से भिन्न ही।
कैसे कहें सदेह जब आहारक ही नहीं॥२३७॥

शुद्धज्ञानमय जीव, के जब देह नहीं कही।
तब फिर देही लिंग, शिवमग कैसे हो सके॥२३८॥

(दोहा)

मोक्षमार्ग बस एक ही रत्नत्रयमय होय।
अतः मुमुक्षु के लिए वह ही सेवन योग ॥२३९॥

(हरिगीत)

दृगज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह एक ही है मोक्षपथ।
थित रहें अनुभव करें अर ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष ॥
जो अन्य को न छुयें अर निज में विहार करें सतत।
वे पुरुष ही अतिशीघ्र ही समैसार को पावे उदित ॥२४०॥

जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ व्यवहार में वर्तन करें।
तर जायेंगे यह मानकर द्रव्यलिंग में ममता धरें ॥
वे नहीं देखे आत्मा निज अमल एक उद्योतमय।
अर अखण्ड अभेद चिन्मय अज अतुल आलोकमय ॥२४१॥

तुष माँहि मोहित जगतजन ज्यों एक तुष ही जानते।
वे मूढ तुष संग्रह करें तन्दुल नहीं पहिचानते ॥
व्यवहारमोहित मूढ त्यों व्यवहार को ही जानते।
आनन्दमय सद्ज्ञानमय परमार्थ नहीं पहिचानते ॥२४२॥

यद्यपी परद्रव्य है द्रवलिंग फिर भी अज्ञजन।
बस उसी में ममता धरें द्रवलिंग मोहित अन्धजन ॥
देखें नहीं जानें नहीं सुखमय समय के सार को।
बस इसलिए ही अज्ञजन पाते नहीं भवपार को ॥२४३॥

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से।
बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो ॥
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से ॥२४४॥

(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को करता हुआ प्रत्यक्ष।
अरे पूर्ण अब हो रहा यह अक्षय जगचक्षु ॥२४५॥
इसप्रकार यह आतमा अचल अबाधित एक।
ज्ञानमात्र निश्चित हुआ जो अखण्ड संवेद्य ॥२४६॥

परिशिष्ट

(कुण्डलिया)

यद्यपि सब कुछ आ गया कुछ भी रहा न शेष।
फिर भी इस परिशिष्ट में सहज प्रमेयविशेष॥

सहज प्रमेय विशेष उपायोपेय भावमय।
ज्ञानमात्र आतम समझाते स्याद्वाद से॥
परमव्यवस्था वस्तुतत्त्व की प्रस्तुत करके।
परम ज्ञानमय परमातम का चिन्तन करते॥२४७॥

(हरिगीत)

बाह्यार्थ ने ही पी लिया निजव्यक्तता से रिक्त जो।
वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः पररूप में विश्रान्त है॥
पर से विमुख हो स्वोन्मुख सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो।
'स्वरूप से ही ज्ञान है' – इस मान्यता से पुष्ट हैं॥२४८॥

इस ज्ञान में जो झलकता वह विश्व ही बस ज्ञान है।
अबुध ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो वर्तन करें॥
अर विश्व को जो जानकर भी विश्वमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी जगत में निजतत्त्व का अनुभव करें॥२४९॥

खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता स्वयं अज्ञानी पशु।
छिन-भिन्न हो चहुँ ओर से बाह्यार्थ के परिग्रहण से॥
एकत्व के परिज्ञान से भ्रमभेद जो परित्याग दें।
वे स्याद्वादी जगत में एकत्व का अनुभव करें॥२५०॥

जो मैल ज्ञेयाकार का धो डालने के भाव से।
स्वीकृत करें एकत्व को एकान्त से वे नष्ट हों॥
अनेकत्व को जो जानकर भी एकता छोड़े नहीं।
वे स्याद्वादी स्वतःक्षालित तत्त्व का अनुभव करें॥२५१॥

इन्द्रियों से जो दिखे ऐसे तनादि पदार्थ में।
एकत्व कर हों नष्ट जन निजद्रव्य को देखें नहीं॥
निजद्रव्य को जो देखकर निजद्रव्य में ही रत रहें।
वे स्याद्वादी ज्ञान से परिपूर्ण हो जीवित रहें॥२५२॥

सब द्रव्यमय निज आतमा यह जगत की दुर्वासना।
बस रत रहे परद्रव्य में स्वद्रव्य के भ्रमबोध से॥
परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकारकर सब द्रव्य में।
निजज्ञान बल से स्याद्वादी रत रहें निजद्रव्य में॥२५३॥

परक्षेत्रव्यापी ज्ञेय-ज्ञायक आतमा परक्षेत्रमय।
यह मानकर निजक्षेत्र का अपलाप करते अज्ञजन॥
जो जानकर परक्षेत्र को परक्षेत्रमय होत नहीं।
वे स्याद्वादी निजरसी निजक्षेत्र में जीवित रहें॥२५४॥

मं ही रहूँ निजक्षेत्र में इस भाव से परक्षेत्रगत।
जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायकभाव भी परित्याग कर॥
हों तुच्छता को प्राप्त शठ पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत।
रे छोड़कर सब ज्ञेय वे निजक्षेत्र को छोड़े नहीं॥२५५॥

निजज्ञान के अज्ञान से गतकाल में जाने गये।
जो ज्ञेय उनके नाश से निज नाश माने अज्ञजन॥
नष्ट हों परज्ञेय पर ज्ञायक सदा कायम रहे।
निजकाल से अस्तित्व है—यह जानते हैं विज्ञजन॥२५६॥

अर्थालम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व है।
यह मानकर परज्ञेयलोभी लोक में आकुल रहें॥
परकाल से नास्तित्व लखकर स्याद्वादी विज्ञजन।
ज्ञानमय आनन्दमय निज आतमा में दृढ़ रहें॥२५७॥

परभाव से निजभाव का अस्तित्व मान अज्ञजन।
पर में रमें जग में भ्रम निज आतमा को भूलकर॥
पर भिन्न हो परभाव से ज्ञानी रमे निजभाव में।
बस इसलिए इस लोक में वे सदा ही जीवित रहें॥२५८॥
सब ज्ञेय ही हैं आतमा यह मानकर स्वच्छन्द हो।
परभाव में ही नित रमें बस इसलिए ही नष्ट हों॥
पर स्याद्वादी तो सदा आरूढ़ हैं निजभाव में।
विरहित सदा परभाव से विलसें सदा निष्कम्प हो॥२५९॥

उत्पाद-व्यय के रूप में वहते हुए परिणाम लख।
क्षणभंग के पड़ संग निज का नाश करते अज्ञजन॥
चैतन्यमय निज आतमा क्षणभंग है पर नित्य भी-
यह जानकर जीवित रहें नित स्याद्वादी विज्ञजन॥२६०॥

है बोध जो टंकोत्कीर्ण विशुद्ध उसकी आश से।
चिद्परिणति निर्मल उछलती से सतत् इन्कार कर॥
अज्ञजन हों नष्ट किन्तु स्याद्वादी विज्ञजन।
अनित्यता में व्याप्त होकर नित्य का अनुभव करें॥२६१॥

(दोहा)

मूढ़जनों को इसतरह ज्ञानमात्र समझाय।
अनेकान्त अनुभूति में उतरा आतमराय॥२६२॥
अनेकान्त जिनदेव का शासन रहा अलंघ्य।
वस्तुव्यवस्था थापकर थापित स्वयं प्रसिद्ध॥२६३॥

(रोला)

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है।
फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती॥
और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर।
द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में॥२६४॥

अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते।
वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन॥
स्याद्वाद की अधिकाधिक शुद्धि को लख अर।
नहीं लांघकर जिननीति को ज्ञानी होते॥२६५॥

(वसंततिलका)

रे ज्ञानमात्र निज भाव अकंपभूमि।
को प्राप्त करते जो अपनीतमोही॥
साधकपने को पा वे सिद्ध होते।
अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते॥२६६॥

स्याद्वाद कौशल तथा संयम सुनिश्चल।
से ही सदा जो निज में जमे हैं॥
वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से।
सुपात्र हो पात भूमिका को॥२६७॥

उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता।
चित्पिण्ड जो ह खिला निज रमणता से॥
जो अस्खलित है आनन्दमय वह।
होता उदित अद्भुत अचल आतम॥२६८॥

महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित।
स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब॥
तब बंध-मोक्ष मग में आपतित भावों।
से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ॥२६९॥

निज शक्तियों का समुदाय आतम।
विनष्ट होता नयदृष्टियों से॥
खंड-खंड होकर खण्डित नहीं मैं।
एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं॥२७०॥

(रोला)

परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर।
मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो॥
ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से।
परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र हूँ॥२७१॥

अरे अमेचक कभी कभी यह मेचक दिखता।
कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है॥
अनंत शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी।
दृष्टिवंत को भ्रमित नहीं होने देता है॥२७२॥

एक ओर से एक स्वयं में सीमित अर ध्रुव।
अन्य ओर से नेक क्षणिक विस्तारमयी है॥
अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो।
जिसे देखकर चकित जगतजन ज्ञानी होते॥२७३॥

एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता।
अन्य ओर से भव-भव पीड़ित राग-द्वेषमय॥
तीनलोकमय भासित होता विविध नयों से।
अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो॥२७४॥

(सोरठा)

झलकें तीनो लोक सहज तेज के पुंज में।
यद्यपि एक स्वरूप तदपी भेद दिखाई दें॥
सहज तत्त्व उपलब्धि निजरस के विस्तार से।
नियत ज्योति चैतन्य चमत्कार जयवंत है॥२७५॥

(दोहा)

मोह रहित निर्मल सदा अप्रतिपक्षी एक।
अचल चेतनारूप में मग्न रहे स्वयमेव॥
परिपूरण आनन्दमय अर अद्भुत उद्योत।
सदा उदित चहुँ ओर से अमृतचन्द्रज्योत॥२७६॥

(हरिगीत)

गतकाल में अज्ञान स एकत्व पर से जब हुआ।
फलरूप में रस-राग अर कर्तृत्व पर में तब हुआ॥
उस क्रियाफल को भोगती अनुभूति मैली हो गई।
किन्तु अब सद्ज्ञान से सब मलिनता लय हो गई॥२७७॥

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही तत्त्व प्रतिपादन करें।
त्यों समय की यह व्याख्या भी उन्हीं शब्दों ने करी॥
निजरूप में ही गुप्त अमृतचन्द्र श्री आचार्य का।
इस आत्मख्याति में अरे कुछ भी नहीं कर्तृत्व है॥२७८॥

●●●

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. गुप्तदान हस्ते श्रीमती गुणमाला जैन, मुम्बई	6000.00
2. श्री जुगराज अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	5001.00
3. श्रीमती ललिता गोदावत ध.प. मनोहर गोदावत, उदयपुर	5000.00
4. श्रीमती कंकुबेन रिषभदासजी शाह, मुम्बई	5000.00
5. श्रीमती प्रमिला मधुकरजी शाह, मुम्बई	5000.00
6. श्री मानकंवरबाई हस्ते घेवरचन्दजी जैन, जयपुर	3000.00
7. श्री बालचन्दजी पाटनी, कलकत्ता	3000.00
8. सौ. तेजस्विनी विजयकुमारजी शाह, मुम्बई	3001.00
9. श्री प्रदीपचन्दजी चौधरी, किशनगढ़	3000.00
10. श्री शान्तिदेवी धनकुमारजी जैन, सूरत	3000.00
11. श्री अशोककुमारजी जैन, सुभाष ट्रान्सपोर्ट, भोपाल	3000.00
12. श्री झमकलालजी बड़जात्या, रतलाम	1000.00
13. श्री टोंग्या परिवार, जहाजपुर	1000.00
14. श्री किशोरभाई वीरचंद भाई, मुम्बई	1000.00
15. श्री गुलाबचन्दजी सेठ, सागर	1000.00
16. भभूतमलजी भण्डारी, बैंगलोर	1000.00
17. माँगीलाल मिट्ठालालजी व्होरा, भीण्डर	1000.00
18. श्री महेन्द्रभाई मणिलाल भालाणी, मुम्बई	1000.00
19. श्री मधुकान्त आर. मेहता, मुम्बई	1000.00
20. श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल नेमीनगर, अहमदाबाद	1000.00
21. श्री महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता	1000.00
22. मातुश्री देवकांनबेन लवजी विजयपाल गाला चै.ट्रस्ट, मुम्बई	1000.00
23. श्री शान्तिकुरु चै.ट्रस्ट, नई दिल्ली	1000.00
24. नरेशचन्द्रजी जैन, कलकत्ता	1000.00
25. श्री माणकलालजी ठाकुरिया, उदयपुर	1000.00
26. श्रीमती तारावती ध.प. सेठ स्व. रोशनलालजी जैन, हरिद्वार	1000.00
27. श्री श्रीपालजी जैन, उदयपुर	1000.00
28. श्री नरेन्द्रकुमार धीरेन्द्रकुमारजी जैन, कलकत्ता	1000.00
29. श्री रमेशचन्दजी जैन, कलकत्ता	1000.00
30. श्री कमलेशजी जैन, जर्मनीवाले	878.00
31. श्री चौधरी मूलचन्द चै. ट्रस्ट, मुम्बई	501.00
32. श्री प्रकाशचन्द गम्भीरचन्द सेमारी, अहमदाबाद	501.00
33. पाण्डे श्री राजाराम मिट्ठानीबाई, फिरोजाबाद	501.00
34. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	501.00
35. स्व. श्री ऋषभकुमार सुरेशकुमारजी जैन, पिड़ावा	500.00

36. श्रीमती विद्यादेवी जैन धर्मपत्नि स्व. चन्द्रगुप्तजी जैन, भोगाँव	500.00
37. श्री पन्नालाल शान्तिलालजी जैन, मुम्बई	500.00
38. श्री नरेन्द्र भानुसा डोणगांवकर, देवलगांवराजा	500.00
39. पुष्पाबाई नरेन्द्रसा डोणगांवकर, देवलगांवराजा	500.00
40. स्व. निरंजनाबेन सेठ, कलकत्ता	500.00
41. श्री हेमचन्द रमेशचन्द्रजी जैन, कलकत्ता	500.00
42. श्रीमती कस्तूरीबाई, सागर	500.00
43. श्री जयकुमार साहनी, बैंगलोर	500.00
44. ओरीबाई जसराजजी बागरेंचा, बैंगलोर	500.00
45. श्री महावीरप्रसाद सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	500.00
46. श्री सम्पतरायजी बागरेंचा, बैंगलोर	500.00
47. श्री दलीचन्द जगराजी जैन चै.ट्रस्ट, बैंगलोर	500.00
48. श्री माँगीलालजी भण्डारी, बैंगलोर	500.00
49. श्री सुमेरमल फूलचन्दजी सरावगी, तिनसुकिया	500.00
50. श्रीमती पूजा पंकजभाई दोशी, बैंगलोर	500.00
51. श्री महेशजी अग्रवाल, बैंगलोर	500.00
52. श्री प्रेमजी नन्दुजी, मुम्बई	500.00
53. श्री आशीष जैन एवं अनुभव जैन के दादाजी की स्मृति में, धामपुर	500.00
54. श्री अभिषेक एवं आदित्य जैन के दादाजी की स्मृति में, धामपुर	500.00
55. श्रीमती बीना पिंचा c\o अशोककुमारजी, नागपुर	500.00
56. श्री मोहनलालजी भण्डारी, मद्रास	500.00
57. शान्तिबेन भायाणी, चैन्नई	500.00
58. श्री हँसराज भारो, मुम्बई	500.00
59. श्री जसराज अशोककुमारजी जैन, बैंगलोर	300.00
60. कमलेशजी जैन जर्मनीवाले	251.00
61. श्री शान्तिनाथजी सोनाज	251.00
62. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लॉडनू	251.00
63. श्रीमती भंवरीदेवी स्व.श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	251.00
64. सौ. विजया शशिकान्त दोशी, म्हसवड़	251.00
65. श्री मयूरभाई एम. सिंघवी, मुम्बई	251.00
66. श्री अजितकुमारजी शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	201.00
67. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	111.00
68. श्रीमती ममता जैन अजितकुमारजी जैन, भीलवाड़ा	101.00
69. श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	101.00
70. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी, गोहाटी	101.00
71. स्व. श्रीमती शान्तिदेवी माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	101.00
कुल राशि :	***78668.00***